

समियाए धम्मे आरिएहिं पव्वइये

# प्राकृत भारती

डॉ० प्रेम सुमन जैन

डॉ० सुभाष कोठारी

सव्वत्थेसु समं चरे  
सव्वं जगं तु समयाणुपेही  
पियमप्पियं करुस वि नो करेज्जा  
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं  
सम्मत्त दिट्ठि सया अमूढे  
समियाए मुनि होइ

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान

जुदयपुर

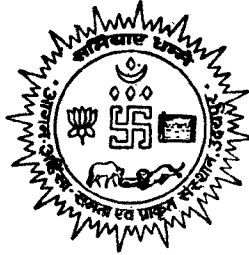
आगम संस्थान ग्रन्थमाला : ४

प्रधान सम्पादक  
प्रो० सागरमल जैन

# प्राकृत भारती

सम्पादक मण्डल  
डॉ० राजाराम जैन  
डॉ० उदयचन्द जैन  
डॉ० हुकमचन्द जैन

सम्पादक  
डॉ० प्रेम सुमन जैन  
अध्यक्ष—जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग  
सुसाइया विश्वविद्यालय, उदयपुर  
एवं  
डॉ० सुभाष कोठारी  
शोध अधिकारी  
आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर



आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान,  
उदयपुर

प्रकाशक :

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान  
पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राज०) ३१३००१



प्राकृत भारती

सम्पादक मण्डल :

डॉ० राजाराम जैन, डॉ० उदयचन्द जैन, डॉ० हुकमचन्द जैन



सम्पादक :

डॉ० प्रेम सुमन जैन, डॉ० सुभाष कोठारी



संस्करण : प्रथम १९९१



मूल्य : ५०.००



मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय

बी० २७/९२, जवाहरनगर, वाराणसी

## PRAKRIT BHARTI

[ Selections from Prakrit Texts ]



Edited by : Dr. P. S. Jain, Dr. Subhash Kothari



Edition : First 1991



Price : Rs. 50.00



Published by :

Agama Ahimsa-Samata Evam Prakrit Sansthan,  
Prdmini Marg Udaipur—313001, Raj.

## प्रकाशकीय

प्राकृत भाषा व साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान के बिना भारतीय भाषाओं के विकास को और भारतीय जनजीवन को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता है। अतः प्राकृत भाषा के शिक्षण और शोध को गति प्रदान करना प्रत्येक सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्था का कर्तव्य है। इसी भावना से प्रेरित हो श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के सहयोग से उदयपुर में “जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग” की सुखाड़िया विश्वविद्यालय में स्थापना हुई तथा “आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान” का संचालन किया जा रहा है।

यह संस्थान अर्धमागधी आगम साहित्य के दुर्लभ एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर रहा है। अब तक ‘देविदत्थों’ एवं ‘उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार’ ये दोनों ग्रन्थ संस्थान से प्रकाशित हो चुके हैं। संस्थान ने परमपूज्य समता विभूति आचार्य नानेश की पुस्तक “समता दर्शन और व्यवहार” का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। प्रस्तुत पुस्तक **प्राकृत भारती** संस्थान का चतुर्थ पुष्प है। सम्पादक मण्डल ने प्राकृत साहित्य से मणियाँ चुनकर हिन्दी अनुवाद के साथ इसमें संजोयी हैं, आशा है वे पाठकों का ज्ञानवर्द्धन करेंगी। प्राकृत के शिक्षण-कार्य में यह पुस्तक उपयोगी होगी, ऐसा विश्वास है। प्राकृत के इन विद्वान् सम्पादकों की इस निष्काम सेवा के लिए संस्थान उनका आभारी है। विश्वविद्यालय एवं विभिन्न परीक्षा बोर्ड प्राकृत की इस महत्वपूर्ण पुस्तक को अपने पाठ्यक्रमों में निर्धारित कर सम्पादकों के श्रम को सार्थक करेंगे, ऐसी आशा है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए श्रीमान् सोहनलाल जी सा० सिपानी, बँगलोर का जो आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए संस्थान उनका आभारी है। ग्रन्थ के सुन्दर और सत्वर मुद्रण के लिए हम वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के आभारी हैं। डॉ० प्रेम सुमन जैन एवं डॉ० सुभाष कोठारी ने पुस्तक के सम्पादन, प्रूफ संशोधन एवं प्रकाशन व्यवस्था में अपना विशेष सहयोग दिया है जिसके कारण यह ग्रन्थ इतने अल्प समय में प्रकाशित हो सका है, अतः उनके प्रति हम पुनः आभार प्रकट करते हैं।

गणपतराज बोहरा

अध्यक्ष

सरदारमल कांकरिया

महामंत्री

## प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रकाशन के अर्थ सहयोगी

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् सोहनलाल जी सा० सिपानी बेंगलोर ने दस हजार रुपये का अर्थ सहयोग प्रदान किया है।

सेठ श्री सोहनलाल जी सिपानी, स्व० सेठ श्री भेरूदान जी सिपानी के ज्येष्ठ पुत्र है। आपका जन्म वि० स० १९८५ में उदयरामसर में हुआ। धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत श्रीमती जेठादेवी आपकी धर्मपत्नी हैं। आपके चार पुत्र एवं एक पुत्री हैं।

श्रीयुत् सिपानी जी को व्यवसायिक कुशलता और धार्मिक संस्कार अपने पूर्वजों से प्राप्त हुए हैं। बेंगलोर के औद्योगिक जगत में आपके “सिपानी ग्रुप ऑफ इण्डस्ट्रीज” का विशेष नाम है। जिसके अन्तर्गत एक कागज बनाने का कारखाना, तीन H. P. D. यूनिट, एक प्लास्टिक बोतल बनाने का कारखाना एवं एक लकड़ी का कारखाना चल रहे हैं।

व्यवसाय के साथ-साथ धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में भी आप पूर्ण-रूप से समर्पित हैं। आपने अभी बेंगलोर में एक विशाल “सिपानी समता भवन” का निर्माण कराया है। उदार हृदयी श्री सिपानी सा० अभावग्रस्त बच्चों की पढ़ाई एवं छात्रवृत्ति प्रदान करने में भी तत्पर रहते हैं।

आप निम्न धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं से जुड़े हुए हैं।

- (१) अध्यक्ष, श्री साधुमार्गी जैन संघ-बेंगलोर
- (२) अध्यक्ष, श्री एस० एस० जैन श्रावक संघ-बेंगलोर
- (३) उपाध्यक्ष, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
- (४) पूर्व उपाध्यक्ष, श्री अ० भा० साधुमार्गी जैनसंघ —बीकानेर

आगम संस्थान के विकास में आपकी विशेष रूचि है। संस्थान के प्रकाशन हेतु उनका यह उदार-सहयोग उनके जैन-विद्या के प्रति प्रेम का ही परिचायक है।

## प्राथमिक

भारतीय संस्कृति एवं भाषाओं के विकासक्रम को भलीभाँति समझने लिए प्राचीन भाषाओं एवं उनके साहित्य का पठन-पाठन विश्वविद्यालयों एवं सामाजिक शिक्षण-संस्थाओं में निरन्तर बढ़ रहा है। प्राकृत भाषा एवं साहित्य के विशाल भण्डार की जानकारी एवं उसके विधिवत् ज्ञान के लिए स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर प्राकृत के विभिन्न पाठ्यक्रम भी संचालित हो रहे हैं। किन्तु उन पाठ्यक्रमों के अनुसार प्राकृत की स्तरीय पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन अभी नहीं के बराबर हुआ है। जो पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित हुई भी हैं, वे अनुपलब्ध हो गई हैं या एक स्थान पर प्राप्त नहीं हैं। अतः प्राकृत के शिक्षण को गति देने के लिए प्राकृत के प्राध्यापकों के समन्वित प्रयत्न से यह **प्राकृत भारती** तैयार की गयी है।

इस “प्राकृत भारती” में स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए प्राकृत साहित्य के प्रायः सभी प्रतिनिधि ग्रन्थों के पद्य एवं गद्य के पाठ संकलित किये गये हैं। इन पाठों का मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है एवं प्रारम्भ में प्राकृत भाषा व साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की गयी है। प्राकृत भारती के सभी पाठ सांस्कृतिक मूल्यों एवं काव्यात्मक सौन्दर्य को प्रगट करते हैं। इनमें सम्प्रदाय का संकुचित दायरा नहीं है। अतः यह पुस्तक विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त विभिन्न धार्मिक परीक्षा बोर्डों में भी प्राकृत-शिक्षण के लिए उपयोगी होगी, ऐसी आशा है। इस पुस्तक के पठन-पाठन से पाठकों एवं विद्यार्थियों में प्राकृत भाषा व साहित्य को गहरायी से जानने-समझने की ललक जगे तो प्रकाशक एवं सम्पादक-मण्डल का श्रम सार्थक होगा।

पुस्तक की तैयारी में प्राकृत के जिन मूर्धन्य विद्वानों की सम्पादित-अनूदित कृतियों से सामग्री ली गयी है, उनके हम आभारी हैं। सम्पादक-मण्डल के विद्वान् प्राध्यापकों-प्रोफेसर डॉ० राजाराम जैन डॉ० उदयचन्द्र जैन एवं डॉ० हुकमचन्द्र जैन के सहयोग के लिए भी हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। पुस्तक के प्रकाशक आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर ने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा प्राकृत के प्रचार-प्रसार में नया कदम बढ़ाया है। यह संस्थान आगमों के प्रमुख ग्रन्थों की शोध कृतियों एवं अनुवाद कार्य को भी प्रकाशित कर रहा है। अतः प्राकृत के

शोध एवं शिक्षण-कार्य की दिशा में इस संस्थान के योगदान के प्रति आशा बँधती है। संस्थान के मानद निदेशक डॉ० सागरमलजी जैन, महामन्त्री श्रीमान् सरदारमलजी कांकरिया एवं मन्त्री श्रीमान् फतहलाल जी हिंगर ने जो इस पुस्तक के प्रकाशन में प्रेरणा और सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके भी आभारी हैं।

उदयपुर  
२ मार्च, १९९१

डॉ० प्रेम सुमन जैन  
डॉ० सुभाष कोठारी  
सम्पादक

## विषयानुक्रम

(१) प्राकृत भाषा एवं साहित्य	१-२६
(२) प्राकृत पाठ	२७-१२८
१. लीलावई कहा (कोऊहल)	.... २९
२. कंसवहो (रामपाणिवाद)	.... ३४
३. भविस्सदत्तकव्वं (महेस्वरसूरि)	.... ३८
४. आरामसोहाकहा (संघतिलकगणि)	.... ४३
५. मुणिचंद कहाणगं (शीलांकाचार्य)	.... ५४
६. कुम्मापुत्तचरिअं (अनन्तहंस)	.... ६४
७. अगडदत्तचरियं (देवेन्द्रगणि)	.... ७२
८. णायाधम्मकहा (आगमग्रंथ)	.... ७८
९. उत्तराध्ययनसूत्र (मूलसूत्र)	.... ८२
१०. वसुनंदि-श्रावकाचार (वसुनंदि)	.... ८७
११. अशोक के अभिलेख (गिरनार पाठ)	.... ९०
१२. कर्पूरमंजरी (राजशेखर)	.... ९३
१३. कहाणय अट्टगं (नेमिचन्दसूरि)	.... १०४



### (३) हिन्दी अनुवाद

१२९-२५७

१. लीलावती कथा	....	१३१
२. कंसवध	....	१३६
३. भविष्यदत्तकाव्य	....	१४१
४. आरामशोभाकथा	....	१४८
५. मुनिचन्द कथानक	....	१६४
६. कूर्मापुत्र चरित	....	१७६
७. अगडदत्तकथा	....	१८५
८. ज्ञाताधर्म कथा	....	१९३
९. उत्तराध्ययन सूत्र	....	१९८
१०. वसुनन्दि श्रावकाचार	....	२०६
११. अशोक के अभिलेख	....	२११
१२. कर्पूरमंजरी	....	२१४
१३. आठ कथानक	....	२२६



# प्राकृत भाषा एवं साहित्य\*

## (क) प्राकृत भाषा

भारत की प्राचीन-भाषाओं में प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषाविदों ने भारत-ईरानी भाषा के परिचय के अन्तर्गत भारतीय आर्य भाषा-परिवार का विवेचन किया है। प्राकृत इसी भाषा-परिवार की एक आर्य-भाषा है। भारतीय भाषाओं के विकासक्रम में भारत की प्रायः सभी भाषाओं के साथ किसी न किसी रूप में प्राकृत का सम्बन्ध बना हुआ है।

वैदिक भाषा प्राचीन आर्य-भाषा है। उसका विकास तत्कालीन लोकभाषाओं से हुआ है। प्राकृत एवं वैदिक भाषा में विद्वान् कई समानताएँ स्वीकार करते हैं। अतः ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा और प्राकृत के विकसित होने में कोई एक समान धरातल रहा है। किसी जन-भाषा के समान तत्त्वों पर ही इन दोनों भाषाओं का भवन निर्मित हुआ है। जन-भाषा से विकसित होने के कारण और जनसामान्य की भाषा बने रहने के कारण प्राचीन समय की जनता की भाषा को प्राकृत भाषा कहा गया है।

### मातृभाषा :

प्राकृत की आदिम अवस्था का साहित्य या उसका बोलचाल वाला स्वरूप तो हमारे सामने नहीं है, किन्तु वह जन-जन तक पैठी हुई थी। महावीर, बुद्ध तथा उनके चारों ओर दूर-दूर तक के विशाल जन-समूह को मातृभाषा के रूप में प्राकृत उपलब्ध हुई। इसीलिए महावीर और बुद्ध ने जनता के सांस्कृतिक उत्थान के लिए प्राकृत भाषा का उपयोग अपने उपदेशों में किया। उन्होंने इसी प्राकृत भाषा के माध्यम से तत्कालीन समाज के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्ति की ध्वजा लहरायी थी। जिस प्रकार वैदिक भाषा को आर्य संस्कृति की भाषा होने का गौरव प्राप्त है। उसी प्रकार प्राकृत भाषा को आगम-भाषा और आर्य-भाषा होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है।

\* डॉ० प्रेम सुमन जैन, मुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

### राज्य भाषा :

प्राकृत जन-भाषा के रूप में इतनी प्रतिष्ठित थी कि उसे सम्राट् अशोक के समय में राज्य-भाषा होने का गौरव भी प्राप्त हुआ है और उसकी यह प्रतिष्ठा सैकड़ों वर्षों तक आगे बढ़ी है। अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त देश के अन्य नरेशों ने भी प्राकृत लेख एवं मुद्राएँ अंकित करवायीं। ई० पू० ३०० से लेकर ४०० ई० इन सात सौ वर्षों में लगभग दो हजार लेख प्राकृत में लिखे गये हैं। यह सामग्री प्राकृत भाषा के विकासक्रम एवं महत्त्व के लिए ही उपयोगी नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास के लिए भी महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

### अभिव्यक्ति का माध्यम :

प्राकृत भाषा क्रमशः विकास को प्राप्त हुई है। वैदिक युग में वह लोक-भाषा थी। उसमें रूपों की बहुलता एवं सरलीकरण की प्रवृत्ति थी। महावीर युग तक आते-आते प्राकृत ने अपने को इतना समृद्ध और सहज किया कि वह अध्यात्म और सदाचार की भाषा बन सकी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्राकृत भाषा गाँवों की झोपड़ियों से राजमहलों की सभाओं तक आदर प्राप्त करने लगी थी। वह समाज में अभिव्यक्ति की सशक्त माध्यम चुन ली गई थी। महाकवि हाल ने अपनी गाथा-सप्तशती में विभिन्न प्राकृत कवियों की गाथाएँ संकलित कर प्राकृत को ग्रामीण जीवन और सौन्दर्य-चेतना की प्रतिनिधि भाषा बना दिया था।

प्राकृत भाषा के प्रति इस जनाकर्षण के कारण कालिदास आदि महाकवियों ने अपने नाटक ग्रन्थों में प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्रों को प्रमुख स्थान दिया है। अभिज्ञानशाकुन्तल की ऋषिकन्या शकुन्तला, नाटककार भास की राजकुमारी वासवदत्ता, शूद्रक की नगरवधू बसन्तसेना, भवभूति की महासती सीता, राजा के मित्र, कर्मचारी आदि प्रायः अधिकांश नाटक के पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत जन-सामान्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। वह लोगों के सामान्य जीवन को अभिव्यक्त करती थी। समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत भाषा प्राकृत थी।

### काव्य भाषा :

लोक-भाषा प्राकृत को काव्य की भाषा बनने का भी सौभाग्य प्राप्त है। प्राकृत में जो आगम-ग्रन्थ, व्याख्या साहित्य, कथा एवं चरित-ग्रन्थ

आदि लिखे गये हैं, उनमें काव्यात्मक सौन्दर्य और मधुर रसात्मकता का समावेश है। इसे प्राकृत ने २३०० वर्षों के जीवनकाल में निरन्तर बनाये रखा है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने भी सहजता और मधुरता के कारण प्राकृत की सैकड़ों गाथाओं को अपने ग्रन्थों में उद्धरण के रूप में सुरक्षित रखा है।

इस तरह प्राकृत ने देश की चिन्तनधारा, सदाचार और काव्य जगत् को निरन्तर अनुप्राणित किया है। अतः प्राकृत भारतीय संस्कृति की संवाहक भाषा है। प्राकृत ने अपने को किसी घेरे में कैद नहीं किया। इसके पास जो था उसे वह जन-जन तक बिखेरती रही, और जन समुदाय में जो कुछ था उसे ग्रहण करती रही। इस तरह प्राकृत भाषा सर्वग्राह्य और सार्वभौमिक भाषा है। भारत देश की संस्कृति को सुरक्षित रखने वाली भाषा है।

### विकास के चरण :

प्राकृत भाषा के स्वरूप को प्रमुख रूप से तीन अवस्थाओं में देखा जा सकता है। वैदिक युग से महावीर युग के पूर्व तक के समय में जन भाषा के रूप में जो भाषा प्रचलित थी उसे प्रथम स्तरीय प्राकृत कहा जा सकता है, जिसके कुछ तत्व वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं। महावीर युग से ईसा की द्वितीय शताब्दी तक आगम ग्रन्थों, शिलालेखों एवं नाटकों आदि में प्रयुक्त प्राकृत भाषा को द्वितीय स्तरीय प्राकृत नाम दिया जा सकता है। और तीसरी शताब्दी के बाद ईसा की छठीं शताब्दी तक प्रचलित एवं साहित्य में प्रयुक्त प्राकृत को तृतीय स्तरीय प्राकृत कह सकते हैं। उसके बाद देश की क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ प्राकृत का विकास होता रहा है।

### (ख) प्रमुख प्राकृत भाषाएँ

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति एवं विकास की दृष्टि से उसके मुख्यतः दो भेद किये जा सकते हैं। प्रथम कथ्य-प्राकृत, जो बोल-चाल में बहुत प्राचीन समय से प्रयुक्त होती रही है। किन्तु उसका कोई लिखित उदाहरण हमारे समक्ष नहीं है। दूसरी प्रकार की प्राकृत साहित्य की भाषा है, जिसके कई रूप हमारे समक्ष उपलब्ध हैं। इस साहित्यिक प्राकृत के भाषा-प्रयोग एवं काल की दृष्टि से तीन भेद किये जा सकते हैं—  
(१) आदियुग (२) मध्ययुग (३) अपभ्रंश युग।

ई० पू० छठी शताब्दी से ईसा की द्वितीय शताब्दी के बीच प्राकृत में निर्मित साहित्य की भाषा प्रथमयुगीन प्राकृत कही जा सकती है। इस प्राकृत भाषा के पाँच रूप हैं—

### १. आर्ष प्राकृत :

भगवान बुद्ध और महावीर के उपदेशों की भाषा क्रमशः पालि और अर्धमागधी के नाम से जानी गयी है। धार्मिक प्रचार के लिए सर्व प्रथम इन भाषाओं का महापुरुषों द्वारा उपयोग हुआ इसलिए इनको ऋषियों की भाषा अथवा आर्ष प्राकृत कहना उचित है।

### २. शिलालेखी प्राकृत :

जन-भाषा प्राकृत की प्राचीन राजाओं ने अपने राजकाज की भाषा भी बनाया। लिखित रूप में प्राकृत भाषा का सबसे पुराना रूप शिलालेखों की भाषा में सुरक्षित है। सर्व प्रथम सम्राट् अशोक ने शिलालेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग किया। उसके बाद खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख प्राकृत में लिखा गया। फिर लगभग ४०० ई० तक हजारों शिलालेख प्राकृत में लिखे पाये जाते हैं। इन सबकी भाषा जनबोलियों की मिश्रित भाषा है, जिसे विद्वानों ने शिलालेखी प्राकृत कहा है।

### ३. निया-प्राकृत :

निया प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) से प्राप्त लेखों की भाषा को “निया प्राकृत” कहा गया है। इस प्राकृत भाषा का तोखारी भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

### ४. धम्मपद की प्राकृत :

पालि धम्मपद की तरह प्राकृत में भी लिखा गया एक धम्मपद मिला है। इसकी लिपि खरोष्ठी है। इसकी प्राकृत पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियों से सम्बन्ध रखती है।

### ५. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत :

अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत जैन सूत्रों की प्राकृत से भिन्न है। यह भिन्नता प्राकृत के विकास को सूचित करती है। इस समय तक मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी नाम से प्राकृत के भेद हो चुके थे। इस प्रकार प्रथम युगीन प्राकृत भाषा इन आठ सौ वर्षों में प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न रूप धारण कर चुकी थी।

ईसा की द्वितीय से छठी शताब्दी तक जिस प्राकृत भाषा में साहित्य लिखा गया है, उसे मध्ययुगीन प्राकृत कहा जाता है। इस युग की प्राकृत को हम साहित्यिक प्राकृत भी कह सकते हैं। किन्तु प्रयोग की भिन्नता की दृष्टि से इस समय तक प्राकृत के स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन हो गया था, अतः प्राकृत के वैयाकरणों ने प्राकृत के ये पाँच भेद निरूपित किये हैं—अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी एवं पैशाची। इनका स्वरूप एवं प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

### अर्धमागधी :

जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है। प्राचीन आचार्यों ने मगध प्रदेश के अर्धांश में बोली जाने वाली भाषा को अर्धमागधी कहा है। कुछ विद्वान् इसमें मागधी भाषा की कतिपय विशेषताएँ होने के कारण इसे अर्धमागधी कहते हैं। मार्कण्डेय ने शौरसेनी के निकट होने से मागधी को ही अर्धमागधी कहा है। वस्तुतः अर्धमागधी में ये तीनों विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी भाषा के बीच के क्षेत्र में बोली जाने के कारण इसका अर्धमागधी नाम सार्थक होता है। यद्यपि इसका उत्पत्ति-स्थान अयोध्या को माना जा सकता है, फिर भी इसका महाराष्ट्री प्राकृत से अधिक सादृश्य है। इसके अस्तित्व में आने का समय ई० पू० चौथी शताब्दी माना जा सकता है।

अर्धमागधी का रूप-गठन मागधी और शौरसेनी की विशेषताओं से मिलकर हुआ है। इसमें लुप्त व्यंजनों के स्थान पर यश्चुति होती है। यथा—श्रेणिकम्—सेणियं। क का 'ग', न का 'ण' एवं प का 'व' में परिवर्तन होता है। प्रथमा एकवचन में 'ए' तथा 'ओ' दोनों होते हैं। धातु-रूपों में भूतकाल के बहुवचन में 'इंमु' प्रत्यय लगता है, तथा कृदन्त में एक धातु के कई रूप बनते हैं। यथा—कृत्वा के कट्ठु, किच्चा, करित्ता, करित्ताण आदि।

### शौरसेनी :

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन (मथुरा) की भाषा थी। इसका प्रचार मध्यप्रदेश में हुआ था। जैनों के षट्खंडागम आदि ग्रन्थों की रचना इसी में हुई थी। बाद में दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों की यह मूल भाषा बन गयी। उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन साहित्यिक प्राकृत

है। जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त भारत के प्राचीन नाटकों में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसमें कृत्रिम रूपों की अधिकता पायी जाती है।

शौरसेनी में त का 'द', थ, और ह का 'ध' एवं भ का 'ह' में परिवर्तन होता है। यथा—जानाति—जाणादि, कथयति—कधेदि आदि। गच्छति—गच्छदि, गच्छदे, भवति—भोदि, होदि, इदानीम्—दाणि, पठित्वा—पठिया, पठिद्वण आदि रूप शौरसेनी के विशिष्ट प्रयोग हैं। प्रयोग की दृष्टि से विद्वान् शौरसेनी के दो भेद करते हैं—(१) जैन शौरसेनी एवं (२) नाटकीय शौरसेनी।

### महाराष्ट्री :

सामान्य प्राकृत का दूसरा नाम महाराष्ट्री प्राकृत है, ऐसी कई विद्वानों की धारणा है, किन्तु इसका यह नाम उत्पत्ति-स्थल के कारण ही अधिक प्रचलित हुआ है। महाराष्ट्र प्रदेश में जो प्राचीन प्राकृत प्रचलित थी, उसी के बाद काव्य और नाटकों की महाराष्ट्री प्राकृत का जन्म हुआ है। इस प्राकृत में संस्कृत के वर्णों का अधिकतम लोप होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस कारण महाराष्ट्री प्राकृत काव्य में सबसे अधिक प्रयुक्त हुई है। अतः इसे साहित्यिक प्राकृत भी कहा जा सकता है। जैन काव्य-ग्रन्थों और नाटक आदि काव्य-ग्रन्थों की महाराष्ट्री प्राकृत में कुछ भिन्नता है, अतः कुछ विद्वान् महाराष्ट्री और जैन महाराष्ट्री, इसके ऐसे दो भेद भी मानते हैं।

### मागधी :

अन्य प्राकृतों की तरह मागधी में स्वतन्त्र रचनाएँ नहीं पायी जाती। केवल संस्कृत-नाटकों और शिलालेखों में इसके प्रयोग देखने में आते हैं। अतः प्रतीत होता है कि मागधी कोई निश्चित भाषा नहीं थी, अपितु उन कई बोलियों का उसमें सम्मिश्रण था, जिनमें ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स के स्थान पर श तथा अकारान्त शब्दों में 'ए' का प्रयोग होता था। मागधी का निश्चित प्रदेश तय करना कठिन है, किन्तु सभी विद्वान् इसे मगध देश की ही भाषा मानते हैं, जो अपने समय में राज-भाषा भी थी। इसकी उत्पत्ति वैदिक युग की किसी कथ्य भाषा से मानी जाती है, यद्यपि इसकी प्रकृति शौरसेनी को माना गया है। शकरी, चाण्डाली और शाबरी जैसी लोक-भाषाएँ मागधी की ही प्रशाखाएँ हैं।

### पैशाची :

पैशाची प्राकृत का समय ईसा की दूसरी से पाँचवीं शताब्दी तक

माना गया है। इसके पूर्व की पैशाची के कोई उदाहरण साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। पैशाची भाषा किसी प्रदेश विशेष की भाषा नहीं थी, अपितु भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहने वाली किसी जाति विशेष की भाषा थी, जिस कारण इसका प्रचार कैकय, शूरसेन और पांचाल प्रदेशों में अधिक हुआ है। ग्रियर्सन इसे पश्चिम पंजाब और अफगानिस्तान की भाषा मानते हैं। पैशाची में वर्ण परिवर्तन बहुत होता है, यथा—गकनं—(गगनम्) मेखो—(मेघ) राचा—(राजा) सतन—(सदनम्) कच्चं—(कार्य) आदि।

पैशाची भाषा में गुणाढ्य का बृहत्कथा नामक ग्रन्थ लिखे जाने का उल्लेख है। इस कथा के कई रूपान्तर आज उपलब्ध हैं, जो भारतीय कथा साहित्य के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं।

### अपभ्रंश :

महाराष्ट्री प्राकृत जब धीरे-धीरे केवल साहित्य की भाषा बनकर रह गयी तब जन भाषा के रूप में जो भाषा विकसित हुई उसे विद्वानों ने “अपभ्रंश भाषा” कहा है। इस अपभ्रंश में ७वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक पर्याप्त साहित्य लिखा गया है। अपभ्रंश भाषा प्राकृत और हिन्दी भाषा को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है। अपभ्रंश उकार बहुला भाषा है। इसमें विभक्तियों की संख्या धीरे-धीरे कम होती गयी है। देश की प्रान्तीय भाषाओं के विकास में अपभ्रंश का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के अध्ययन के बिना भारतीय भाषाओं का अध्ययन परिपूर्ण नहीं माना जाता है। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में लिखित साहित्य की लम्बी परम्परा है। यद्यपि इन भाषाओं के अधिकांश ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं, किन्तु जो साहित्य प्रकाश में आया है, वह भाषाशास्त्रियों के लिए भी कम महत्त्व का नहीं है।

### (ग) प्राकृत का काव्य-साहित्य

प्राकृत भाषा में काव्य-रचना प्राचीन समय से ही होती रही है। आगम-ग्रन्थों एवं शिलालेखों में अनेक काव्य-तत्त्वों का प्रयोग हुआ है। प्राकृत भाषा के कथा-साहित्य एवं चरित ग्रन्थों में भी कई काव्यात्मक रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। पादलिप्त की तरंगवती-कथा तथा विमलसूरि के पउमचरिय में कई काव्यचित्र पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग इसमें हुआ है। उत्प्रेक्षा का एक दृश्य द्रष्टव्य है—‘संध्याकालीन कृष्ण वर्ण वाले



अन्धकार से युक्त गगन सभी दिशाओं को कलुषित कर रहा है। यह तो दुर्जन का स्वभाव है जो सज्जनों के उज्ज्वल चरित्र पर कालिख पोतता है'—

उच्छरइ तमो गयणो मइलन्तो दिसिवहे कसिणवण्णो ।

सज्जणचरियउज्जोयं नज्जइ सा दुज्जण सहावो ॥

—पउमचरियं-२-१००

इसी तरह वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला, सुरसुन्दरी-चरियं आदि अनेक प्राकृत कथा व चरित-ग्रन्थों में प्राकृत काव्य के विविध रूप देखने को मिल सकते हैं। इन ग्रन्थों में काव्य का दिग्दर्शन कराना मुख्य उद्देश्य नहीं है, अपितु कथा एवं चरित विशेष को विकसित करना है। किन्तु प्राकृत साहित्य में कुछ इस प्रकार के भी ग्रन्थ हैं, जिन्हें विशुद्ध रूप से काव्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। प्राकृत चूँकि ललित एवं सुकुमार भाषा रही है, अतः उसमें काव्यगुण साहित्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्राकृत के प्रसिद्ध कवि हाल, प्रवरसेन, वाकपतिराज, कोऊहल आदि की काव्य रचनाएँ इस बात की साक्षी हैं।

रसमयी प्राकृत काव्य के जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, उन्हें तीन-भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मुक्तक काव्य (२) खण्ड-काव्य एवं (३) महाकाव्य। प्राकृत काव्य के इन तीनों प्रकार के ग्रन्थों का परिचय एवं मूल्यांकन प्राकृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में किया गया है। इन ग्रन्थों के सम्पादकों ने भी उनके महत्त्व आदि पर प्रकाश डाला है। कुछ प्रमुख काव्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

### मुक्तक काव्य :

मुक्तक काव्य में प्रत्येक पद्य रसानुभूति कराने में समर्थ एवं स्वतन्त्र होता है। इस दृष्टि से मुक्तक काव्य की रचना भारतीय साहित्य में बहुत पहले से होती रही है। प्राकृत साहित्य में यद्यपि सुभाषित के रूप में कई गाथाएँ विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं, किन्तु व्यवस्थित मुक्तक काव्य के रूप में प्राकृत के दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—( १ ) गाथा-सप्तशती एवं ( २ ) वज्जालगं।

**गाथासप्तशती**—प्राकृत का यह सर्व प्रथम मुक्तककोश है। इसमें अनेक कवि और कविप्रश्रियों की चुनी हुई सात सौ गाथाओं का संकलन है। यह संकलन लगभग प्रथम शताब्दी में कविवत्सल हाल ने लगभग एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर तैयार किया है। यथा—

सत सत्ताइं कइवच्छलेण कोडोअ मज्झआरम्मि ।  
हालेण विरइआणि सालंकाराण गाहाणं ॥

—गाथा-१/३

गाथासप्तशती की गाथाओं की प्रशंसा अनेक प्राचीन कवियों ने की है। बाणभट्ट ने इस ग्रन्थ को गाथाकोश कहा है। इस ग्रन्थ का स्वरूप मुक्तक काव्य ग्रन्थों की परम्परा में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें गाथाओं का चयन करके उन्हें सौ-सौ के समूह में गुंफित किया गया है। सात सौ की संख्या के आधार पर इसका नाम गाथासप्तशती रखा गया है। इस ग्रन्थ में किसी एक ही विषय की उक्तियाँ नहीं हैं। अपितु शृंगार, नीति, प्रकृति-चित्रण, सज्जन-दुर्जन के स्वभाव, सुभाषित आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित गाथाएँ हैं। अधिकतर लोक-जीवन के विविध चित्रों की अभिव्यक्तियाँ इन गाथाओं के द्वारा होती हैं। नायक-नायिकाओं की विशेष भावनाओं और चेष्टाओं का चित्रण भी इस ग्रन्थ की गाथाएँ करती हैं।

**वज्जालगं**—प्राकृत का दूसरा मुक्तक-काव्य वज्जालगं है। कवि जयवल्लभ ने इस ग्रन्थ का संकलन किया है। इसमें अनेक प्राकृत कवियों की सुभाषित गाथाएँ संकलित हैं। कुल गाथाएँ ७९५ हैं, जो ९६ वज्जाओं में विषय की दृष्टि से विभक्त हैं। यहाँ “वज्जा” शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वज्जा देशी शब्द है, जिसका अर्थ है—अधिकार या प्रस्ताव। एक विषय से सम्बन्धित गाथाएँ एक वज्जा के अन्तर्गत संकलित की गई हैं। जैसे वज्जा नं० ४ का नाम है—“सज्जनवज्जा”। इसमें कुल १७ गाथाएँ एक साथ हैं, जिनमें सज्जन व्यक्ति के सम्बन्ध में ही कुछ कहा गया है।

वज्जालगं गाथासप्तशती से कई अर्थों में विशिष्ट है। इसमें विषय की विविधता है। शृंगार एवं सौन्दर्य का चित्रण ही जीवन में सब कुछ नहीं है। व्यक्ति की अपेक्षा समाज के हित का चिन्तन उदारता का द्योतक है। इस मुक्तक-काव्य में साहस, उत्साह नीति, प्रेम, सुगृहणी, पङ्क्तु, कर्मवाद आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित गाथाएँ हैं। विभिन्न प्रकार के पशु, पुष्प, एवं सरोवर, दीपक, वस्त्र आदि उपयोगी वस्तुओं के गुण-दोषों का विवेचन भी इस ग्रन्थ में हुआ है। अतः यह काव्य मानव को लोक-मंगल की ओर प्रेरित करता है। आदर्श गृहणी अच्छी नागरिकता की जननी होती है। यह काव्य हमें बतलाता है कि

गृहस्वामिनी को कैसा होना चाहिए। वह कब गृह-लक्ष्मी कहलाती है। यथा—

भुंजइ भुंजियसेसं सुप्पइ सुत्तम्मि परियणे सयले ।  
पढमं चये विबुज्झइ घरस्स लच्छी न सा घरिणी ॥

‘जो घर के सब लोगों को भोजन कराकर भोजन करती है, समस्त परिवार जनों के सो जाने पर जो स्वयं सोती है और सबसे पहले जाग जाती है, वह केवल गृहिणी नहीं, अपितु घर की लक्ष्मी है।’

### खण्डकाव्य :

प्राकृत में खण्डकाव्य कम ही लिखे गये हैं। क्योंकि कवियों की मुख्य प्रवृत्ति जीवन को सम्पूर्णता से चित्रित करना रहा है। कथा एवं चरित ग्रन्थों के द्वारा उन्होंने कई बड़े-बड़े ग्रन्थ प्राकृत में लिखे हैं। किन्तु प्राकृत में कुछ खण्डकाव्य भी उपलब्ध हैं, जिनमें मानव जीवन के किसी एक मामिक पक्ष की अनुभूति को पूर्णता के साथ व्यक्त किया गया है। १६-१७वीं शताब्दी के ये प्राकृत खण्डकाव्य उपलब्ध हैं।

**कंसवहो**—श्रीमद्भागवत के आधार पर मालावर प्रदेश के निवासी श्री रामपाणिवाद ने सन् १६०७ के लगभग इस ग्रन्थ की रचना की थी। कवि प्राकृत, संस्कृत और मलयालम के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनकी कई रचनाएँ इन भाषाओं में प्राप्त हैं।

कंसवहो (कंसवध) में चार सर्ग एवं २३३ पद्य हैं। इस ग्रन्थ के कथानक में उद्धव, श्रीकृष्ण और बलराम को धनुषयज्ञ के बहाने गोकुल से मथुरा ले जाता है। वहाँ श्रीकृष्ण कंस का वध करते हैं, जिसका वर्णन कवि ने बहुत ही प्रभावक ढंग से किया है। यह एक सरस काव्य है, जिसमें लोक-जीवन, वीरता और प्रेमत्व का निरूपण हुआ है।

**उसाणिरुद्ध**—यह खण्डकाव्य भी रामपाणिवाद द्वारा रचित है। इसमें बाणासुर की कन्या उषा का श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ विवाह होने की घटना वर्णित है। प्रेम काव्य के रूप में इसका चित्रण हुआ है। अतः इस काव्य में श्रृंगारिकता अधिक है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी एवं अन्य काव्यों का भी इस पर प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से यह काव्य उपयुक्त है। इसकी कथावस्तु सरस है।

**कुम्मापुत्तचरियं**—प्राकृत के चरित्र ग्रंथों में कुछ ऐसे काव्य हैं, जिन्हें

कथानक की दृष्टि से खण्डकाव्य कहा जा सकता है। कुम्भापुत्तचरियं इसी प्रकार का खण्डकाव्य है। लगभग १६वीं शताब्दी में जिनमाणिक्य के दिग्गज अनन्तहंस ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में कुल १९८ गाथाएँ प्राप्त हैं। कुम्भापुत्तचरियं में राजा महेन्द्रसिंह और उनकी रानी कूर्मा के पुत्र धर्मदेव के जीवन की कथा वर्णित है। प्रारम्भ में दुर्लभकुमार नामक राजपुत्र को भद्रमुखी नामक यक्षिणी अपने महल में ले जाती है, और बाद में एक महात्मा के द्वारा उस कुमार के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त कहा जाता है।

इस ग्रन्थ में दान, शील, तप और भाव-बुद्धि के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रसंग में कई छोटे-छोटे उदाहरण भी प्रस्तुत किए गये हैं। मनुष्य-जन्म की सार्थकता बतलाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार असावधानी से हाथ में रखा हुआ रत्न समुद्र में गिर जाने पर फिर नहीं मिलता है, उसी प्रकार व्यर्थ के कामों में मनुष्य-जन्म को व्यतीत कर देने पर अच्छे कार्य करने के लिए दुबारा मनुष्य-जन्म नहीं मिलता है। इस ग्रन्थ की भाषा बहुत सरल है और संवाद-शैली में कथा को आगे बढ़ाया गया है।

### महाकाव्य :

महाकाव्य में जीवन की सम्पूर्णता को विभिन्न आयामों द्वारा उद्घाटित किया जाता है। प्राकृत में रसात्मक महाकाव्य कम ही लिखे गये हैं। किन्तु जो महाकाव्य उपलब्ध हैं, वे अपनी विशेषताओं के कारण महाकाव्य के क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। उनकी काव्यात्मकता और प्रौढ़ता के कारण उन्हें प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है। इस रसमयता के कारण वे प्राकृत के अन्य कथा एवं चरित ग्रंथों से अपना भिन्न स्थान रखते हैं। ऐसे प्राकृत के उत्कृष्ट महाकाव्य हैं—(१) सेतुबन्ध, (२) गउडवहो, (३) लीलावईकहा एवं (४) द्वयाश्रयकाव्य। प्राकृत के ये चारों महाकाव्य ईसा की ४-५वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक की प्राकृत कविता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

**सेतुबन्ध (रावणवहो)**—प्राकृत का यह प्रथम शास्त्रीय महाकाव्य है। इसमें राम कथा के एक अंश को प्रौढ़ काव्यात्मक शैली में महाकवि प्रवरसेन ने प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड की कथा-वस्तु सेतुबन्ध के कथानक का आधार है। इस महाकाव्य में मुख्य रूप से दो घटनाएँ हैं—सेतुबन्ध और रावणवध। अतः इन दोनों प्रमुख घटनाओं

के आधार पर इसका नाम “सेतुबन्ध” अथवा “रावणवहो” प्रचलित हुआ है। टीकाकार रामदास भूपति ने इसे “रामसेतु” भी कहा है। महाकवि ने सेतु-रचना के वर्णन में ही अधिक उत्साह दिखाया है। अतः “सेतुबन्ध” इसका सार्थक नाम है। “रावणवध” को इस काव्य का फल कहा जा सकता है।

सेतुबन्ध महाकाव्य में कुल १२९१ गाथाएँ प्राप्त होती हैं, जो आश्वासों में विभक्त हैं। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। आश्वासों के अन्त में “पवरसेण विरइए” पद प्राप्त होता है। अतः इसके रचयिता महाकवि पवरसेन हैं।

**गउडवहो**—प्राकृत के महाकाव्यों में “गउडवहो” का महत्वपूर्ण स्थान है। लगभग ई० सन् ७६० में महाकवि वाक्पतिराज ने गउडवहो की रचना की थी। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहते थे। उन्होंने इस काव्य में यशोवर्मा के द्वारा गौड़ देश के किसी राजा के वध किये जाने का वर्णन किया है। इसलिए इसका नाम “गउडवध” रखा है। इस दृष्टि से यह एक ऐतिहासिक काव्य भी है।

“गउडवहो” में प्रारम्भ में विभिन्न देवी-देवताओं को ६१ गाथाओं से नमस्कार किया गया है। और इसके बाद ९८ गाथा तक वाक्पतिराज ने महाकवियों और उनके काव्य के समरूप पर प्रकाश डाला है। इस प्रसंग में उन्होंने प्राकृत भाषा और प्राकृत काव्य के महत्त्व को भी स्पष्ट किया है।

इसके बाद कवि ने महाकाव्य के नायक यशोवर्मा के जीवन का वर्णन किया है। प्रसंग के अनुसार इस काव्य में प्रकृति-चित्रण, विजययात्रा का वर्णन तथा वस्तुवर्णन आदि किये गये हैं। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि कवि ने लोक को बहुत सूक्ष्मता से देखा था। अतः उनकी अनुभूतियाँ व्यापक थीं। ग्रन्थ में अनेक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। श्यामल शरीर वाले कृष्ण पीताम्बर पहिने हुए दिन और रात्रि के मिलन-स्थल सायंकाल के समान प्रतीत होते हैं, इस दृश्य को कवि ने इस प्रकार कहा है—

तं गमह पीय-वसण जो वहइ सहाव-सामल-च्छायं ।

दिस-णिसालय-गिम-विहाय-सवलं पिव सरीरं ॥

**लीलावईकहा**—लगभग ९वीं शताब्दी में महाकवि कोऊहल ने “लीला-वईकहा” नामक महाकाव्य की रचना की है। यह प्राकृत का महाकाव्य

एवं कथा-ग्रन्थ दोनों हैं। इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठान नगर के राजा सातवाहन एवं सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती के प्रेम की कथा वर्णित है। बीच में कई अवान्तर कथाएँ हैं। इस महाकाव्य से ज्ञात होता है कि प्रेमी-प्रेमिकाएँ अपने प्रेम में दृढ़ होते थे और हर तरह की परीक्षाओं में खरे उतरते थे। तभी समाज उनके विवाह की स्वीकृति देता था। राजाओं के जीवन-चरित का इसमें काव्यात्मक वर्णन है।

यह महाकाव्य काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति आदि अलंकारों का व्यापक प्रयोग है। शृंगार और वीर रस का इसमें मनोहर चित्रण हुआ है।

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त प्राकृत में आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित “द्वयाश्रयकाव्य” भी प्रसिद्ध है। इसमें प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट किया गया है। कुमारपाल राजा का जीवन भी इस काव्य में वर्णित है। इसी तरह श्री कृष्णलीला शुककवि ने “सिरिचिधकव्व” नामक महाकाव्य प्राकृत में लिखा है, जिसका प्रत्येक सर्ग “श्री” शब्द से अंकित है। लगभग १३वीं शताब्दी में इसे लिखा गया है। इस प्रकार प्राकृत में महाकाव्यों की एक सशक्त परम्परा है।

### चरित-काव्य :

प्राकृत काव्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी काव्य ग्रन्थ हैं, जिनमें महा-पुरुषों के जीवन-चरित वर्णित हैं। ये ग्रन्थ पद्य में लिखे गये हैं। इन्हें उपदेशात्मक काव्य-ग्रन्थ कहा जा सकता है। ऐसे चरितकाव्य ईसा की तीसरी शताब्दी से १५-१६वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे हैं। विमलसूरि का ‘पउमचरियं’, धनेश्वरसूरि का ‘सुरसुन्दरीचरियं’, नेमिचन्द्रसूरि का ‘महावीर चरियं तथा देवेन्द्रसूरि का ‘सुदंसणाचरियं’ आदि प्रमुख चरित-काव्य हैं। इन चरितकाव्यों में कथा एवं चरित के साथ-साथ प्राकृत काव्य का स्वरूप भी प्रकट किया गया है। इनका काव्यात्मक सौन्दर्य मनोहर है।

### कथा-काव्य :

प्राकृत में कई कथा-ग्रन्थ लिखे गये हैं। उनमें से कुछ गद्य में एवं कुछ पद्य में हैं। पद्य में लिखे गये प्राकृत के कथा-काव्य काव्यात्मक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। पादलिप्तसूरि ने ‘तरंगवतीकथा’, जिनेश्वरसूरि ने ‘निर्वाणलीलावती कथा’, सोमप्रभसूरि ने ‘कुमारपालप्रतिबोध’, आम्रदेव

सूरि ने 'आख्यानमणिकोशवृत्ति' तथा रत्नशेखरसूरि ने 'सिरिसिरिवालकहा' आदि कथा-काव्य लिखे हैं। ये कथा-काव्य ईसा की प्रथम शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे हैं। इन ग्रन्थों में कथातत्त्व एवं काव्य तत्त्व दोनों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार प्राकृत काव्य-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। मुक्तक काव्य जीवन के विभिन्न अनुभवों से परिचित कराते हैं। खण्डकाव्य चरित नायकों के विशिष्ट जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं। महाकाव्यों में जीवन के विभिन्न अनुभवों और वस्तुजगत् का काव्यात्मक वर्णन प्राप्त होता है। चरितकाव्य महापुरुषों के प्रेरणादायक चरितों की काव्यात्मक अनुभूति देते हैं। कथा-काव्य कल्पना और सौन्दर्य का समन्वित आनन्द प्रदान करते हैं। प्राकृत-काव्य-साहित्य की ये सब विधाएँ भारतीय साहित्य के भण्डार को समृद्ध करती हैं।

### (घ) प्राकृत का गद्य साहित्य

प्राकृत भाषा में ई० पू० छठी शताब्दी से साहित्य की रचना होने के उल्लेख हैं। भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिये थे, उनका संकलन पद्य एवं गद्य दोनों में किया गया है। अतः रचना की दृष्टि से आगम प्राकृत साहित्य प्राचीन है। प्राकृत गद्य के प्राचीन नमूने आगम साहित्य में उपलब्ध हैं। छोटे-छोटे वाक्यों, सूक्तियों से प्रारम्भ होकर समासयुक्त शैली में बड़े-बड़े गद्य भी प्राकृत आगम के ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

आचारांगसूत्र की सूक्तियाँ प्राकृत गद्य की आधारशिला कही जा सकती हैं। अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए इसमें कहा गया है :—

अरिहंता एवं परुर्वेति—सब्बे पाणा सब्बे भूता सब्बे जीवा सब्बे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिचेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्धवेयव्वा। एस धम्मं सुद्धं णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहि पवेइए।

भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उपासगदशांग, विपाकसूत्र, रायपसेणिय, निरयावली आदि आगम ग्रंथों में प्राकृत गद्य की प्रौढ़ शैली देखने को मिलती है। इनमें समासपद एवं काव्यात्मक भाषा का प्रयोग हुआ है। राजा प्रसेनजित् अपनी सम्पत्ति के चार भाग करते हुए कहता है—

अहं णं सेयविद्यानयरो पमाक्खाइं सत्त गामसहस्साइं चतारि भागे करिस्सामि। एगं भागं बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगं भागं कोट्टागारे

**छुभिस्सामि, एगं भागं अंतेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेण महइ महालयं कूडागारसालं करिस्सामि ।**

आगम के इन ग्रन्थों में प्राकृत गद्य में छोटे-छोटे वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है। उनके साथ उपमाएँ भी जुड़ी हुई हैं। जम्बूद्वीपपण्णति में ऋषभ के मुनि-जीवन का वर्णन कई उपमाओं के साथ किया गया है। यथा—

**कुम्मो इव इंदिएसु गत्ते, जच्चकंचणगं व जायरूवे, पोक्खरपत्तं व निरूवलेवे, चन्दो इव सोमभावयाए, सूरी व दित्तेए, अचले जह मंदरे गिरिवरे ।**

आगम के व्याख्या साहित्य में भी प्राकृत गद्य का प्रयोग हुआ है। चूर्णि एवं भाष्य साहित्य में प्राकृत गद्य के कई सुन्दर नमूने हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि दशवैकालिकचूर्णि एवं आवश्यकचूर्णि में कई प्राकृत कथाएँ आयी हैं, जो गद्य में हैं। इनमें कथोपकथन शैली का भी प्रयोग है। निशीथचूर्णि का एक संवाद दर्शनीय है—

**तेण पुच्छित्ता—किं ण गतासि भिक्खाए ?**

**सा भण्णति—अज्ज ! खमण मे ।**

**सो भणति—किं नमित्तं ?**

**सा भणति—मोहतिगिच्छं करोम ।**

अर्धमागधी आगमों के अतिरिक्त शौरसेनी आगम ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग मिलता है। किन्तु अधिकांश ग्रंथ पद्य में लिखे गये हैं। “षट्खंडागम” की टीका “धवला” में ग्रन्थकार के परिचय के सम्बन्ध में कहा गया है—

**तेण वि सोरदठ-विसय-गिरि-णयर पट्टाणचंदगुहाठिएण अट्ठंग-महाणिमित्तपारएण गंथवोच्छेदो होहदि त्ति जादभएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो ।**

इस तरह प्राकृत के काव्य ग्रन्थों के गद्य की शैली को समझने के लिए प्राकृत आगम ग्रंथों के गद्य का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। इसमें भारतीय प्राचीन गद्य-शैली के विकास के कई बीज सुरक्षित हैं।

## १. प्राकृत कथा साहित्य :

प्राकृत साहित्य में सबसे अधिक कथा-ग्रन्थ लिखे गये हैं। कथाओं की शैली और विविध रूपता के लिए प्राकृत साहित्य प्रसिद्ध है। आगम काल



से लेकर वर्तमान युग तक प्राकृत में कथायें लिखी जाती रही हैं। अतः यह साहित्य पर्याप्त समृद्ध है।

प्राकृत कथाओं का प्रारम्भ आगम साहित्य में हुआ है, जहाँ संक्षिप्त रूप में कथा का ढाँचा प्राप्त होता है। उसके बाद आगम के व्याख्या साहित्य में इन कथाओं की घटनाओं और वर्णनों से पुष्ट किया गया है। ऐसी हजारों कथायें इस साहित्य में प्राप्त हैं। कथा-प्रधान कुछ आगम ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

### (क) आगम कथा-ग्रन्थ :

**ज्ञाताधर्मकथा**—आगम ग्रन्थों में कथा-तत्त्व के अध्ययन की दृष्टि से ज्ञाताधर्मकथा में पर्याप्त सामग्री है। इसमें विभिन्न दृष्टान्त एवं धर्म-कथाएँ हैं, जिनके माध्यम से जैन तत्त्व-दर्शन को सहज रूप में जन-मानस तक पहुँचाया गया है। ज्ञाताधर्मकथा आगमिक कथाओं का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें कथाओं की विविधता है और प्रौढ़ता भी। मेघकुमार, थावच्छापुत्र मल्ली तथा द्रोपदी की कथायें ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं। प्रतिबुद्धराजा, अर्हन्शक व्यापारी, राजा रुक्मी, स्वर्णकार की कथा चित्रकार कथा चोखा परिव्राजिका आदि कथायें मल्ली की कथा की अवान्तर कथायें हैं। मूलकथा के साथ अवान्तर कथा की परम्परा की जानकारी के लिए ज्ञाताधर्मकथा आधारभूत स्रोत है। ये कथायें कल्पना-प्रधान एवं सोद्देश्य हैं। इसी तरह जिनपाल एवं जिनरक्षित की कथा, तेतलीपुत्र, सुषमा की कथा एवं पुण्डरीक कथा कल्पना-प्रधान कथायें हैं।

ज्ञाताधर्मकथा में दृष्टान्त और रूपक कथायें भी हैं। मयूरों के अण्डों के दृष्टान्त से श्रद्धा और संशय के फल को प्रकट किया गया है। दो कछुओं के उदाहरण से संयमी और असंयमी साधक के परिणामों को उपस्थित किया गया है। तूम्बे के दृष्टान्त से कर्मवाद को स्पष्ट किया गया है। चन्द्रमा के उदाहरण से आत्मा की ज्योति की स्थिति स्पष्ट की गयी है। दावद्रव नामक वृक्ष के उदाहरण द्वारा आराधक और विराधक के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ये दृष्टान्त कथायें परवर्ती तथा साहित्य के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं।

इस ग्रंथ में कुछ रूपक कथायें भी हैं। दूसरे अध्ययन की कथा धन्ना - सार्थवाह एवं विजय चोर की कथा है। यह आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का रूपक है। सातवें अध्ययन की रोहिणी कथा पाँच व्रतों की रक्षा और वृद्धि को रूपक द्वारा प्रस्तुत करती है। उदकजात नामक कथा संक्षिप्त है।

किन्तु इसमें जल-शुद्धि की प्रक्रिया द्वारा एक ही पदार्थ के शुभ एवं अशुभ दोनों रूपों को प्रकट किया गया है। अनेकान्त के सिद्धान्त को समझाने के लिए यह बहुत उपयोगी कथा है। नन्दीफल की कथा यद्यपि अर्थकथा है। किन्तु इसमें रूपक की प्रधानता है। धर्म गुरु के उपदेशों के प्रति आस्था रखने का स्वर इस कथा से तीव्र हुआ है। समुद्री अश्वों के रूपक द्वारा लुभावने विषयों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

ज्ञाताधर्मकथा पशुकथाओं के लिए भी उद्गम ग्रन्थ माना जा सकता है। इस एक ही ग्रन्थ में हाथी, अश्व, खरगोश, कछुए, मयूर, मेंढक, सियार आदि की कथाओं के पात्रों के रूप में चित्रित किया गया है। मेरुप्रभ हाथी ने अहिंसा का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, यह भारतीय कथा साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कंध में यद्यपि २०६ साधियों की कथाएँ हैं। किन्तु उनके ढाँचे, नाम, उपदेश आदि एक-से हैं। केवल काली की कथा पूर्णकथा है। नारी-कथा की दृष्टि से यह कथा महत्त्वपूर्ण है।

**उपासकदशांग**—उपासकदशांग में महावार के प्रमुख दस श्रावकों का जीवनचरित वर्णित है। इन कथाओं में यद्यपि वर्णकों का प्रयोग है फिर भी प्रत्येक कथा का स्वतन्त्र महत्त्व भी है। ब्रतों के पालन में अथवा धर्म की आराधना में उपस्थित होने वाले विघ्नों, समस्याओं का सामना साधक कैसे करे, इसको प्रतिपादित करना ही इन कथाओं का मुख्य प्रतिपाद्य है। कथातत्त्वों का बाहुल्य न होते हुए भी इन कथाओं के वर्णन पाठक को आकर्षित करते हैं। समाज एवं संस्कृति विषयक सामग्री उपासकदशांग की कथाओं में पर्याप्त है। किन्तु इन श्रावकों की साधना पद्धति के प्रति पाठकों का आकर्षण कम है, उसमें वर्णित समृद्धि के प्रति उनका अधिक लगाव है।

**अन्तकृतदशासूत्र**—जन्म-मरण की परम्परा का अपने साधन से अन्त कर देने वाले दश व्यक्तियों की कथाओं का इसमें वर्णन होने से इस ग्रन्थ को अन्तकृतदशांग कहा गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित कुछ कथाओं का सम्बन्ध अरिष्टनेमि और कृष्ण-वासुदेव के युग से है। गजमुकुमाल की कथा लौकिक कथा के अनुरूप विकसित हुई है। द्वारिका नगरी के विनाश का वर्णन कथा-यात्रा में कौतुहल तत्त्व का प्रेरक है। ग्रन्थ के अंतिम तीन वर्णों की कथाओं का सम्बन्ध महावीर तथा राजा श्रेणिक के साथ है। इनमें अर्जुन मालाकार की कथा तथा सुदर्शन सेठ की अवान्तर कथा ने पाठक का

ध्यान अधिक आकर्षित किया है। अतिमुक्त कुमार की कथा बालकथा की उत्सुकता को लिए हुए है। इन कथाओं के साथ राजकीय परिवारों के व्यक्तियों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। साधना के अनुभवों का साधारणीकरण करने में ये कथाएँ कुछ सफल हुई हैं।

**अनुत्तरोपपातिकदशा**—इस ग्रन्थ में उन लोगों की कथाएँ हैं, जिन्होंने तप-साधना के द्वारा अनुत्तर विमानों (देवलोको) की प्राप्ति की है। कुल ३३ कथाएँ हैं, जिनमें से २३ कथाएँ राजकुमारों की हैं, १० कथाएँ इसमें सामान्य पात्रों की हैं। इनमें धन्यकुमार सार्थवाह-पुत्र की कथा अधिक हृदयग्राही है।

**विपाकसूत्र**—विपाकसूत्र में कर्म-परिणामों की कथाएँ हैं। पहले स्कन्ध में बुरे कर्मों के दुःखदायी परिणामों को प्रकट करने वाली दश कथाएँ हैं। मृगापुत्र की कथा में कई अवान्तर कथाएँ गुंफित हैं। उद्देश्य की प्रधानता होने से कथातत्त्व अधिक विकसित नहीं है। किन्तु वर्णनों का आकर्षण बना हुआ है। अति-प्राकृत तत्त्वों का समावेश इन कथाओं को लोक से जोड़ता है। व्यापारी, कसाई, पुरोहित, कोतवाल, वैद्य, धीवर, रसोइया, वेश्या आदि से सम्बन्ध होने से इन प्राकृत कथाओं में लोकतत्त्वों का समावेश अधिक हुआ है। दूसरे स्कन्ध की कथाएँ अच्छे कर्मों के परिणामों को बताने वाली हैं। सुबाहू की कथा विस्तृत है। अन्य कथाओं में प्रायः वर्णक हैं। इस ग्रन्थ की कथाएँ कथोपकथन की दृष्टि से अधिक समृद्ध हैं। उनकी इस शैली ने परिवर्ती कथा साहित्य को भी प्रभावित किया है। हिंसा, चोरी, मैथुन के दुष्परिणामों को तो ये कथाएँ व्यक्त करती हैं। किन्तु इनमें असत्य एवं परिग्रह के परिणामों को प्रकट करने वाली कथाएँ नहीं हैं। सम्भवतः इस ग्रन्थ की कुछ कथाएँ लुप्त भी हुई हों। क्योंकि नन्दी और समवायांग में विपाकसूत्र की जो कथावस्तु वर्णित है, उसमें असत्य एवं परिग्रह के दुष्परिणामों की कथाएँ होने के उल्लेख हैं।

**औपपातिक एवं रायप्रश्नीय**—औपपातिकसूत्र में भगवान् महावीर की विशेष उपदेश-विधि का निरूपण है। गौतम इन्द्रमूर्ति के प्रश्नों और महावीर के उत्तरों में जो संवादतत्त्व विकसित हुआ है, वह कई कथाओं के लिए आधार प्रदान करता है। नगर-वर्णन, शरीर-वर्णन आदि में अलंकारिक भाषा व शैली का प्रयोग इस ग्रन्थ में है। राजप्रश्नीयसूत्र में राजा प्रदेशी और केशों श्रमण के बीच हुआ संवाद विशेष महत्त्व का है। इसमें कई कथासूत्र विद्यमान हैं। इस प्रसंग में धातु के व्यापारियों की कथा मनोरंजक है। उसे लोक से उठाकर प्रस्तुत किया गया है।

### (ख) आगमिक व्याख्या साहित्य :

प्राकृत आगमों पर जो व्याख्या साहित्य लिखा गया है, उसमें कई छोटी-छोटी कथाएँ आयी हैं। अतः प्राकृत कथा साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से इस व्याख्या साहित्य का भी विशेष महत्त्व है। आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि और निशीथचूर्णि में प्राकृत गद्य में लौकिक कथाएँ प्राप्त होती हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि में बुद्धि-चमत्कार की भी कथाएँ हैं। आवश्यकचूर्णि कथाओं का भण्डार है। इसमें लौकिक एवं उपदेशात्मक दोनों प्रकार की कथाएँ मिलती हैं। इन चूर्णियों के लेखक जिनदासगणि महत्तर बहुत बड़े दार्शनिक एवं कुशल कथाकार थे। लोक-जीवन को उन्होंने इन कथाओं के द्वारा व्यक्त किया है।

आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकवृत्ति और उपदेशपद में कई प्रकार की कथाएँ प्रस्तुत की हैं। अतः ये दोनों ग्रन्थ भी प्राकृत कथा के आधार ग्रन्थ माने जा सकते हैं। टीका साहित्य में नेमिचन्द्रसूरि का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने उत्तराध्ययन-मुखबोधाटीका में कई महत्वपूर्ण प्राकृत कथाएँ प्रस्तुत की हैं। इस व्याख्या साहित्य की कथाओं का डॉ० जगदीश चन्द्र जैन ने जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसमें इनके स्वरूप एवं महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

### (ग) स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थ :

**तरंगवतीकहा**—प्राकृत में प्राचीन समय से स्वतन्त्र रूप से भी कथा-ग्रन्थ लिखे गये हैं। पादलिप्तसूरि प्रथम कथाकार हैं, जिन्होंने प्राकृत में तरंगवइकहा नामक बड़ा कथा-ग्रन्थ लिखा है। किन्तु दुर्भाग्य से आज वह उपलब्ध नहीं है। उसका संक्षिप्त सार तरंगलोला के नाम से नेमिचन्द्रगणि ने प्रस्तुत किया है। इसको सम्पादित कर डॉ० एच० सी० भायाणी ने प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ में तरंगवती के आदर्श प्रेम एवं त्याग की कथा वर्णित है।

**वसुदेवहिण्डी**—यह ग्रन्थ विश्व कथा-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। क्योंकि वसुदेवहिण्डी की कई कथाएँ विश्व में प्रचलित हुई हैं। संघ-दासगणि ने इस ग्रन्थ में वसुदेव के भ्रमण-वृत्तान्त का वर्णन किया है। प्रसंगवश अनेक अवान्तरकथाएँ भी इसमें आयी हैं। इस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड धर्मदासगणि के द्वारा रचित माना जाता है, उसका नाम मध्यमखण्ड है। वसुदेवहिण्डी में रामकथा एवं कृष्णकथा के भी कई प्रसंग हैं तथा कुछ लौकिक कथाएँ हैं। इस कारण इस ग्रन्थ में चरित, कथा और पुराण

इन तीनों तत्वों का समावेश हो गया है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक महत्व भी है। इस ग्रन्थ की कुछ कथाओं अथवा घटनाओं को लेकर प्राकृत, अपभ्रंश में आगे चलकर कथाएँ लिखी गयी हैं। अतः प्राकृत कथा साहित्य का यह आधार ग्रन्थ है।

**समराइच्चकहा**—यह प्राकृत कथा साहित्य का सशक्त ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने लगभग ८वीं शताब्दी में चित्तौड़ में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की कथा का मूल आधार अग्निशर्मा एवं गुणसेन के जीवन की घटना है। अपमान से दुखी होकर अग्निशर्मा प्रतिशोध की भावना मन में लाता है। इस निदान के फलस्वरूप ९ भवों तक वह गुणसेन के जीव से बदला लेता है। वास्तव में समराइच्चकहा की कथावस्तु सदाचार और दुराचार के संघर्ष की कहानी है। प्रसंगवश इसमें अनेक कथाएँ भी गुंथी हुई हैं।

समराइच्चकहा में प्राकृत गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। कथाकार का कवित्व इस ग्रन्थ में पूरी तरह प्रकट हुआ है। एक स्थान पर राजा की बीमारी से व्याकुल अन्तःपुर का वर्णन करते हुए कथाकार कहता है—

**तहा मिलाणसुरहिमल्लदामसोहं, सुवग्णगड्ढवियलिअंगरायं,  
बाहजलधोयकवोलपत्तलेह, करयलपणांमियपव्वायवयणपंकयं उव्विग-  
मन्तेउरं ।**

—प्रथम भव, पृ० २४ ।

समराइच्चकहा गुप्तकालीन संस्कृति की दृष्टि से भी विशेष महत्व की है। इस ग्रन्थ में समुद्रयात्रा आदि के जो वर्णन हैं, वे भारतीय पथ-पद्धति पर विशेष प्रकाश डालते हैं।

**कुवलयमालाकहा**—आचार्य हरिभद्र के शिष्य उद्द्योतनसूरि ने ई० ७७९ में जालौर में कुवलयमालाकहा की रचना की है। यह ग्रन्थ गद्य एवं पद्य दोनों में लिखा गया है। किन्तु इसकी विशिष्ट शैली के कारण इसे प्राकृत का चम्पू ग्रन्थ भी कहते हैं। कुवलयमाला की कथावस्तु भी एक नवीनता लिये हुए है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह जैसी मानसिक वृत्तियों को पात्र बनाकर उनकी चार जन्मों की कथा कही गयी है।

कुवलयमाला नैतिक आचरण को प्रतिपादित करने वाला कथा ग्रन्थ है। साहित्य के माध्यम से जन-सामान्य के आचरण को कैसे संतुलित

किया जा सकता है, इसका उदाहरण यह ग्रन्थ है। प्रेमकथा, अर्थकथा एवं धर्मकथा तीनों का समिश्रण इस ग्रन्थ में है। प्रसंगानुसार इसमें अन्य लौकिक कथाएँ भी आयी हैं। कुछ पशु-पक्षियों की भी कथाएँ हैं। समुद्र-यात्रा एवं वाणिज्य-व्यापार की प्रामाणिक जानकारी इस ग्रन्थ से मिलती है। अतः भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिए भी कुवलयमाला महत्त्वपूर्ण साहित्यिक साक्ष्य है।

**कहारयणकोस**—मध्ययुग में स्वतन्त्र कथा ग्रन्थों के साथ प्राकृत में कथाओं के संग्रह-ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। देवभद्रसूरि (गुणचन्द्र) ने ई० ११०१ में भड़ौच में कहारयणकोस की रचना की थी। इस ग्रन्थ में कुल ५० कथाएँ हैं। गृहस्थ धर्म के विभिन्न पक्षों को इन कथाओं के माध्यम से पुष्ट किया गया है। काव्यात्मक वर्णन भी इस ग्रन्थ में है। कथाएँ प्रायः प्राकृत गद्य में कही गयी हैं और वर्णन पद्यों में किये गये हैं। लौकिक जीवन के भी कई प्रसंग इस ग्रन्थ की कथाओं में मिलते हैं। कथा कहने की शैली विवरणात्मक है। यथा—

अत्थि इहेव जुंबुदीवे दीवे एरावयखेत्ते कलिगदेसकुलगणावयणं च  
मणोहरवणियं, कम्मगंधपगरणं व बहुविहपयइ पएसगहणं, धण-धन्न-  
समिद्धं जयत्थलं नाम खेडं । तत्थ य वथव्वो विसाहदत्तो नाम सेट्ठी ।  
सेणा नाम से भज्जा ।

—कथा न० २, पृ० २४ ।

**कुमारवालपडिबोह**—सोमप्रभसूरि ने सन् ११८४ में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में गुजरात के राजा कुमारपाल के चरित्र का वर्णन है। किन्तु उसको प्रदान की गयी शिक्षा के दृष्टान्तों के रूप में इस ग्रन्थ में कई कथाएँ दी गयी हैं। अतः यह चरित्र-ग्रन्थ न होकर कथा-ग्रन्थ बन गया है। लघु कथानकों एवं आदर्श चरितों का इसमें समन्वय है। यद्यपि इस ग्रन्थ का वातावरण धार्मिक है, फिर भी इसमें काव्यात्मक छटा देखने को मिलती है। कथाओं के विकास को जानने के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन उपयोगी है।

**रणसेहरनिवकहा**—जिनहर्षसूरि ने इस ग्रन्थ की रचना ई० सन् १४३० में चित्तौड़ में की थी। यह एक प्रेमकथा है। इसमें रत्नशेखर सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती से प्रेम करता है, अनेक कष्ट सहकर उसे प्राप्त करता है। इसमें राजा का मंत्री मत्तिसागर सहायक होता है। कथा के दूसरे भाग में सात्त्विक-जीवन की साधना का वर्णन है। पर्व के

दिनों में धर्म-साधना करना इस ग्रन्थ का प्रमुख स्वर है। किन्तु लौकिक पक्ष भी उतना ही सबल है। इस ग्रन्थ की कथावस्तु के आधार पर जायसी के पद्मावत का इसे मूल आधार माना जाता है।

प्राकृत के इन कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त गद्य में लिखी गयी अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। लगभग १२वीं शताब्दी में आचार्य सुमतिसूरि ने जिनदत्ताख्यान नामक ग्रन्थ लिखा है। वर्धमानसूरि द्वारा सन् १०८३ में लिखित मनोरमाकहा एक सरस कथा है। संघतिलक आचार्य ने लगभग १२वीं शताब्दी में आरामसोहाकहा की रचना की है। यह कथा विशुद्ध लौकिक कथा है। इन सब कथा-ग्रन्थों का अभी व्यापक प्रचार नहीं हुआ है। इनकी कथा के सूक्ष्म अध्ययन से भारतीय कथा-साहित्य के कई पक्ष समृद्ध हो सकते हैं।

**पाइयविन्नाणकहा**—श्री विजयकस्तूरसूरि ने २०वीं शताब्दी में कथा-प्रणयन को जीवित रखा है। उन्होंने इस पुस्तक में ५५ कथाएँ लिखी हैं। प्राकृत गद्य में लिखी ये कथाएँ लौकिक-जीवन और परम्परा के चित्र को उजागर करती हैं।

**रयणवालकहा**—श्री चन्दनमुनि प्राकृत के आधुनिक लेखक हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में रत्नपाल की कथा को प्राकृत के प्रांजल गद्य में प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्राकृत-कथाओं की समृद्ध परम्परा का आभास हो जाता है।

## २. प्राकृत चरित-साहित्य :

प्राकृत गद्य का प्रयोग आगम ग्रन्थों और कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत के चरित ग्रन्थों में भी हुआ है। गद्य-पद्य में मिश्रित रूप से लिखे गये प्राकृत के निम्न प्रमुख चरित ग्रन्थ हैं—

१. चउप्पनमहापुरिसचरियं, २. जंबुचरियं, ३. रयणचूडरायचरियं, ४. सिरिपासनाहचरियं एवं ५. महावीरचरियं आदि।

चरित साहित्य के ये ग्रन्थ प्रायः पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं। उन्हीं में से ग्रन्थों के नायकों का चयन कर उनके चरितों को विकसित किया गया है। मूल चरितनायक के जीवन को उद्घाटित करने के लिए इन ग्रन्थों में जो अन्य कथाएँ एवं दृष्टान्त दिये गये हैं उनसे इन ग्रन्थों का कथात्मक महत्त्व बढ़ गया है। इन ग्रन्थों का गद्य भाग प्रायः सरल है। पद्य भाग में काव्यात्मक शैली अपनायी गयी है।

**चउप्पन-महापुरिसचरियं**—इस ग्रन्थ की रचना लगभग ९वीं शताब्दी (ई० ८६८) में की गयी थी। शीलकाचार्य ने इस ग्रन्थ में २४ तीर्थकारों, १२ चक्रवर्तियों, ९ वासुदेवों एवं ९ बलदेवों इन कुल ५४ महापुरुषों के जीवन-चरितों को प्रस्तुत किया है। अतः यह ग्रन्थ विशालकाय है। ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर, राम, कृष्ण, भरत सभी प्रमुख व्यक्तियों का जीवन इसमें आ गया है। अतः कुछ वर्णन तो केवल परम्परा का निर्वाह करते हैं। किन्तु कुछ चरितों का विश्लेषण सूक्ष्मता से हुआ है। प्रासंगिक कथाएँ इस ग्रन्थ को मनोरंजक बनाती हैं।

**जंबुचरियं**—गुणपाल मुनि ने लगभग ९वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ की रचना की है। जम्बुस्वामी के वर्तमान जन्म की कथा जितनी मनोरंजक है, उतनी ही उनके पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं। इस कारण यह ग्रन्थ पर्याप्त सरस है। धार्मिक वातावरण व्याप्त होने पर भी प्राकृतिक वर्णनों से ग्रन्थकार का कवित्व प्रकट होता है। इस ग्रन्थ का प्राकृत गद्य समास-युक्त और प्रौढ़ है। वासगृह का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तत्थ वि सुरह्मिपइन्नकुसुमदामविलंबियपवराहिरामं, कप्पूररेणुकु  
दुमकेभरलदंगकत्थरियसुरह्मिगधठपूरूरिध...पच्चिट्ठो कुमारो वासहर  
ति ।

**रयणचूडरायचरियं**—यह ग्रन्थ लगभग १२वीं शताब्दी में चन्द्रावती नगरी (आबू) में लिखा गया था। इसके रचयिता नेमिचन्द्रसूरि प्राकृत के प्रसिद्ध कथाकार हैं। इस ग्रन्थ में रत्नचूड एवं तिलकसुन्दरी के धार्मिक जीवन का वर्णन है। किन्तु उनके पूर्वजन्मों का वर्णन करते समय ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ को मनोरंजक और काव्यात्मक बना दिया है। इस ग्रन्थ की कथाएँ लौकिक एवं उपदेशात्मक हैं। इसका प्राकृत गद्य प्रांजल एवं समासयुक्त है।

**सिरिपासनाहचरियं**—इस ग्रन्थ की रचना देवभद्रसूरि (गुणचन्द्र) ने ई० ११११ में की थी। इसमें पार्श्वनाथ के जीवन का विस्तार से वर्णन है। पूर्वभवों के प्रसंग में मनुष्य जीवन की विभिन्न वृत्तियों का इसमें अच्छा चित्रण हुआ है। अवान्तर कथाएँ इस ग्रन्थ के कथानक को रोचक बनाती हैं।

**महावीरचरियं**—ई० सन् १०८२ में गुणचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना छत्रावली में की थी। इस ग्रन्थ में भगवान् महावीर के जीवन को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य में लिखा गया है। काव्यात्मक वर्णनों के लिए यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है।



### ३. प्राकृत नाटक साहित्य :

प्राकृत भाषा में काव्य एवं कथा ( चरित ) के कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। साहित्य की एक तीसरी विधा भी है—नाटक। नाटक जन-जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। उसकी वेषभूषा, रहन-सहन, संस्कृति आदि नाटकों में प्रस्तुत की जाती है। अतः जनभाषा प्राकृत को भी नाटकों में उपस्थित करने के लिए प्राचीन नाटकों के पात्र प्राकृत में वातचीत करते हैं। भरतमुनि ने कई प्रकार के रूपकों ( नाटकों ) का उल्लेख किया है। उनमें से कई—प्रहसन, भाण, सट्टक, रासक आदि प्राकृत भाषा में रहे होंगे। किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। उनमें से केवल मृच्छकटिकं प्रहसन आज उपलब्ध है, जिसमें सर्वाधिक प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। मृच्छकटिकं के गद्य सरस एवं काव्यात्मक हैं।

प्राकृत में सम्पूर्ण रूप से लिखे गये सट्टकों की परम्परा आज उपलब्ध है। १०वीं शताब्दी के राजशेखर द्वारा लिखित सट्टक कर्पूरमंजरी प्राकृत का प्रतिनिधि सट्टक है। यह नाटक का लघु संस्करण कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त १७-१८वीं शताब्दी में भी प्राकृत में कई सट्टक लिखे गये हैं। इनको विषयवस्तु प्रेमकथा है। इन सट्टकों में भी प्राकृत गद्य का अच्छा प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त प्राचीन नाटककारों के नाटकों में भी अधिकांश पात्र प्राकृत बोलने वाले हैं। अतः बिना प्राकृत के ज्ञान के उन नाटकों को समझना कठिन है। महाकवि भास के नाटक अविमारक में विदूषक सन्ध्या का वर्णन करते हुए कहता है—

अहो णअरस्स सोहासंपदि । अत्थं आसादिदो भअवं सुथ्यो दीसइ  
वहिंपिडपंडरेसु पासादेसु अगापणालिन्देसु पसारिअगुलमहुरसंगदो  
विअ ।

कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला प्राकृत में वार्तालाप करती है। दुःष्यन्त के प्रेम को वह नहीं जानती, किन्तु अपने हृदय में उसके प्रति प्रेम का अनुभव करती हुई विरह में दुखी शकुन्तला कहती है—

तुम्ह ण जाणो हिअअं मम उण कामो दिवापि रत्तिम्मि ।  
णिग्घण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइ अंगाइ ॥

इसी तरह श्रांहर्ष, भवभूति, विशाखदत्त आदि भारत के प्राचीन

नाटककारों के नाटकों में अधिकांश पात्र प्राकृत बोलते हैं। उनकी उक्तियाँ प्राकृत गद्य-साहित्य की महत्वपूर्ण निधि हैं।

#### ४. शिलालेखों का गद्य

प्राकृत गद्य के प्राचीन नमूने शिलालेखों में देखने को मिलते हैं। शिलालेखी प्राकृत के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। ये शिलालेख ई० पू० ३०० के लगभग देश के विभिन्न भागों में अशोक ने खुदवाये थे। अशोक के शिलालेख प्राकृत भाषा की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही वे तत्कालीन संस्कृति के जीते-जागते प्रमाण हैं। अशोक ने अपने शिलालेखों में प्राकृत के छोटे-छोटे वाक्यों में कई जीवन-मूल्य जनता तक पहुँचाए हैं। वह कहता है—

**प्राणानां साधु अनारम्भी, अपव्ययता अपभाण्डता साधु**

( तृतीय शिलालेख )

( प्राणियों के लिए की गयी अहिंसा अच्छी है, थोड़ा खर्च और थोड़ा संग्रह अच्छा है। )

ईसा की लगभग चौथी शताब्दी तक प्राकृत में शिलालेख लिखे जाते रहे हैं, जिनकी संख्या लगभग दो हजार है। खार्वेल का हाथी गुंफा शिलालेख, उदयगिरि एवं खण्डगिरि के शिलालेख तथा आन्ध्र राजाओं के प्राकृत शिलालेख भाषा एवं इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्राकृत गद्य का सबसे छोटा और महत्वपूर्ण नमूना नमो अरहंतान नमोसवसिधानं खार्वेल के शिलालेखों में मिलता है। अतः भारतीय गद्य साहित्य के विकास के लिए भी प्राकृत के इन शिलालेखों का अध्ययन आवश्यक है।





## प्राकृत-पाठ



## १. लीलावईकहा\*

### मंगलाचरणं

णमह सारोससुयरिसण सच्चवियं कररुहावलीजुयलं ।  
 हिरणक्कसवियडोरत्थलट्टिदलगभिणं हरिणो ॥१॥  
 तं णमह जस्स तइया तइयवयं तिहुयणं तुलंतस्स ।  
 सायारमणायारे अप्पणमप्प च्चिय णिसणं ॥२॥  
 तस्सेय पुणो पणमह णिहुयं हलिणा हसिज्जमाणस्स ।  
 अपहुत्त-देहली-लंघणद्धवह-सठियं चलणं ॥३॥  
 सो जयउ जस्स पत्तो कंठे रिट्ठासुरस्स घणकसणो ।  
 उप्पायपवडिद्धयकालवासकरणी भुयप्फलिहो ॥४॥  
 रक्खंतु वो महोवहिसयणे सेसस्स फेणमणिमऊहा ।  
 हरिणो सिरिसिहिणोत्थयकोत्थुहकंदंकरायारा ॥५॥  
 हरिणो जमलज्जुणरिट्ठकेसिकंसासुरिद-सेलाण ।  
 भंजणवलणवियारणकडढ्णधरणे भुए णमह ॥६॥  
 कक्कसभुयकोप्परपूरियाणणो कट्ठिणकरकयावेसो ।  
 केसि-किसोर-कयत्थण-कउज्जमो जयइ महमहणो ॥७॥  
 सो जयउ जेण तयलोय-कवलणारंभ-गभििय मुहेण ।  
 ओसावणि व्व पीया सत्त वि चुलुय-द्विया उयही ॥८॥  
 गोरिए गुरुभरवकंतमहिससीसट्ठिभंजणुद्धरियं ।  
 णमह णमंतसुरासुरसिरमसिणियणेउरं चलणं ॥९॥  
 चंडीए कट्ठिणकोयंडकडढ्णाययाससेय सलिलुल्लो ।  
 णित कुसंभुप्पीलो रक्खउ वो कंचुओ णिच्चं ॥१०॥  
 ससहरकरसंवलिया तुम्हं सुरणिण्णयाएणासंतु ।  
 पावं फुरंतरूद्धट्टहासधवला जलुप्पीला ॥११॥

\* पाठ-सम्पादन--डॉ० ए० एन० उपाध्ये, लीलावईकहा, सिधी ग्रन्थमाला,  
 बम्बई ।

### सज्जण-दुज्जण :

जयंति ते सज्जणभाणुणो सया वियारिणो जाण सुवण्णसंचया ।  
 अइट्टदोसा वियसंति संगमे कहाणुबंधा कमलायरा इव ॥१२॥  
 सो जयउ सुयणा वि दुज्जणा इह विणिम्मिया भुयणे ।  
 ण तमेण विणा पावंति चंद-किरणा वि परिहावं ॥१३॥  
 दुज्जण-सुयणाण णमो णिच्चं पर-कज्ज-वावड-मणाण ।  
 एक्के भसण-सहावा पर-दोस-परम्मुहा अण्णे ॥१४॥  
 अह्वा ण को वि दोसो दीसइ सयलम्मि जीय-लोयम्मि ।  
 सब्बो च्चिय सुयण-यणो जं भणिमो तं णिसामेह ॥१५॥  
 सज्जण-संगेण वि दुज्जणस्स ण हु कलुसिमा समोसरइ ।  
 ससि-मंडल-मज्झ-परिट्ठिओ वि कसणो च्चिय कुरंगो ॥१६॥  
 [दुज्जण-संगेण वि सज्जणस्स णासं ण होइ सीलस्स ।  
 तीए सलोणे वि मुहे तह वि हु अहरो महुं सवइ ॥१७॥]  
 अलमवरेणासंबंधालाव-परिग्गहाणुबंधेण ।  
 बाल-जण-विलसिएण व णिरत्थ-वाया-पसंगेण ॥१८॥

### कविउलवण्णणं :

आसि तिवेय-तिहोमग्गि-संग-सजंणिय-तियस-परिओसो ।  
 संपत-तिवग्ग-फलो बहुलाइच्चो त्ति णामेण ॥१९॥  
 अज्ज वि महग्गि-पसरिय-धूम-सिहा-कलुसियं व वच्छयलं ।  
 उव्वहइ मय-कलंकच्छलेण मयलंछणो जस्स ॥२०॥  
 तस्स य गुण-रयण-महोवहीए एक्को सुओ समुप्पण्णो ।  
 भूसणभट्टो णामेण णियय-कुल-णह्यल-मयंको ॥२१॥  
 जस्स पिय-बंधवेहि व चउवयण-विणिग्गएहि वेएहि ।  
 एक्क-वयगारविंद-ट्टिएहि बहु-मण्णिओ अप्पा ॥२२॥  
 तस्स तणाएण एयं असार-मइणा वि विरइयं मुणह ।  
 कोऊहलेण लीलावइ त्ति णामं कहा-रयणं ॥२३॥  
 तं जह मिथंक-केसरि-कर पहरण-दलिय-तिमिर-करि-कुंभे ।  
 विक्खित्त-रिक्ख-मुताहलुज्जले सरय-रयणीए ॥२४॥ (अ)

**सरअवणणं :**

जोण्हाऊरिय-कोस-कंति-धवले                      सव्वंग-गंधुक्कडे ।  
 णिव्विग्घं घर-दीहियाए सुरसं वेवंतओ मासलं ॥२४॥(ब)  
 आसाएइ सुमंजु-गुंजिय-रवो                      तिगिच्छि-पाणासवं ।  
 उम्मिल्लंत-दलावली परियओ चंदुज्जुए छप्पओ ॥२४॥(स)  
 इमिणा सरएण ससी ससिणा वि णिसा णिसाए कुमुय-वणं ।  
 कुमुय-वणेण व पुलिणं पुलिणेण व सहइ हंस-उलं ॥२५॥  
 णव-विस-कसायसंमुद्ध-कंठ-कल-मणोहरो                      णिसामेह ।  
 सरय-सिरि-चलण-णेउर-राओ इव हंस-संलावो ॥२६॥  
 संचरइ सीयलायंत-सलिल-कल्लोल-संग णिव्वविओ ।  
 दर-दलिय-मालई-मुद्ध-मउल-गंधुद्धुरो                      पवणो ॥२७॥  
 एसा वि दस-दिसा-वहु वयण-विसेसावलि व्व सर-सलिले ।  
 बिम्बल-तरंग-दोलंत-पायवा सहइ वण-राई ॥२८॥  
 एयाइं दियस-संभावणेक्क-हियाइं पेच्छह घडंति ।  
 आमुक्क-विरह-वयणाइं चक्कवायाइं वावीसु ॥२९॥  
 एयं उय वियसिय-सत्तवत्त-परिमल-विलोहविज्जंतं ।  
 अविहाविय-कुसुमासाय-विमुहियं भमइ भमर-उलं ॥३०॥  
 चंदुज्जुयावयंसं पवियंभिय-मुरहि-कुवलयामोयं ।  
 णिम्मल-त्तारालोयं पियइ व रयणी-मुहं चंदो ॥३१॥  
 ता किं बहुणा पयंपिएण—

अइ-रगणीया रयणी सरओ विमलो तुमं च साहीणो ।  
 अणुकूल-परियणाए मणो तं णत्थि जं णत्थि ॥३२॥

**कहा-सरूवं :**

ता किं पि पओस-विणोय-मत्त-मुहय म्ह मणहरूलावं ।  
 साहेह अउव्व-कहं सुरसं महिला-यण-मणोज्जं ॥३३॥  
 तं मुद्धमुहंवरूहाहि वयणयं णिसुणिऊण णे भणियं ।  
 कुवलय-दलच्छि एत्थं कईहि तिविहा कहा भणिया ॥३४॥  
 तं जह दिव्वा तह दिव्व-माणुसी माणुसी तह च्चेय ।  
 तत्थ वि पढमेहिं कयं कईहिं किर लक्खणं किं पि ॥३५॥



अण्णं सक्कय-पायय-संकिण्ण-विहा सुवण्ण-रइयाओ ।  
 सुव्वं तिमहा-कई-पुंगवेहि विविहाउ सुकहाओ ॥३६॥  
 ताणं मज्जे अम्हारिसेहि अबुहेहि जाउ सीसति ।  
 ताउ कहाओ ण लोए मयच्छि पावति परिहावं ॥३७॥  
 ता किं मं उवहासेसि सुयणु असुएण सद्-सत्थेण ।  
 उल्लविउं पि ण तोरइ किं पुण वियडो कहा-बंधो ॥३८॥  
 भणियं च पिययमाए पिययम किं तेण सद्-सत्थेण ।  
 जेण सुहासिय-मग्गोभग्गो अम्हारिस-जणस्स ॥३९॥  
 उवल्लभइ जेण फुडं अत्थो अकयत्थिएण हियएण ।  
 सो चेय परो सद्दो णिच्चो किं लक्खणेणम्ह ॥४०॥  
 एमेय मुद्ध-जुयई-मणोहरं पाययाए भासाए ।  
 पविरल-देसि-सुलक्खं कहसु कहं दिव्व-माणुसियं ॥४१॥  
 तं तह सोऊण पुणो भणियं उब्बिम-वाल-हरिणच्छि ।  
 जइ एवं ता सुव्वउ सुसंधि-बंधं कहा-वत्थुं ॥४२॥

### कहारम्भं :

चउ-जलहि-वलय-रसणा-णिबद्ध-वियडोवरोह-सोहाए ।  
 सेसंक-सुप्परिट्ठिय-सव्वंगुव्वूढ-भुवणाए ॥४३॥  
 पलय-वराह-समुद्धरण सोक्ख-संपत्ति-गरुय-भवाए ।  
 णाणा-विह-रयणालंक्रियाए भयवईए पुहईए ॥४४॥  
 णीसेस-सस्स-संपत्ति-पमुइयासेस-पामर-जणोहो ।  
 सुव्वसिय-नाम-नोहण-भंभा-रव-मुहलिय-दियतो ॥४५॥  
 अइ-सुहिय-पाण-आवाण-चच्चरी-रव-रमाउलारामो ।  
 णीसेस-सुह-णिवासो आसय-विसहो त्ति विक्खाओ ॥४६॥  
 जो सो अविउत्तो कय-जुयस्स धम्मस्स संणिवेसो व्व ।  
 सिक्खा-ठाणं व पयावइस्स सुकयाण आवासो ॥४७॥  
 सासणमिव पुण्णाणं जम्मपुप्पत्ति व्व सुह-समूहाणं ।  
 आयरिसो आयाराण सइ सुछेत्तं पिव गुणाणं ॥४८॥  
 सुसणिद्ध-घास-संतुट्ट-नोहणालोय-मुइय-नोयालो ।  
 गेयारव-भरिय-दिसो वर-वल्लइ-वेणु-णिवहेसु ॥४९॥

दूरुणय-गख्य-पओहराओ कोमल-मुणाल-वाहीओ ।  
 सइ महुर-वाणियाओ जुवईओ गिणयाउ व्व ॥५०॥  
 अच्छउ ता णिय छेत्तं मेसाइ वि जत्थ पामर-वहूँहि ।  
 रक्खिज्जांति मणोहार-भोयारव-हरिय-हरिणाहि ॥५१॥

**णयरं :**

इय एरिसस्स सुंदरि मज्झम्मि मुज्जणवयस्स रमणीयं ।  
 णीसेस-सुह-णिवासं णयरं णामं पइट्ठाणं ॥५२॥  
 तं च पिए वर-णयरं वण्णिज्जइ जा विहाइ ता रयणी ।  
 उद्देसो संखेवेण किं पि वोच्छामि णिसुणेसु ॥५३॥  
 जत्थ वर-कामिणी-चलण-णेउरारावमणुसरतेहिं ।  
 पडिराविज्जइ मुह-मुक्क-किसलयं रायहंसेहिं ॥५४॥  
 जण्णरिग-धूम-सामालिय-णहयलालोयणेक्क-रसिएहिं ।  
 णच्चिज्जइ ससहर-मणि-सिलायले-घर-मयूरेहिं ॥५५॥  
 ण तरिज्जइ घर-मणि-किरण-जाल-पडिच्छ-तिमिर-णियरम्मि ।  
 अहिसारियाहिं आमुक्क-मंडणाहिं पि संचरिउं ॥५६॥  
 साणूर-थूहिया-धय-णिरंतरंतरिय-तरणि-कर-णियरे ।  
 परिसेसियायवत्तं गम्मइ संगीय-विलयाहिं ॥५७॥  
 सरसावराह-परिकुविय-कामिणी-माण-मोह-लंपिक्कं ।  
 कलयंठि-उलं चिय कुणइ जत्थ दोच्चं पियाण सया ॥५८॥  
 णिद्वय-रय-रहस-किलंत-कामिणी-सेय-जल-लवुप्फुसणा ।  
 पिज्जंति जत्थ णासंजलीहिं उज्जाण-गंधवहा ॥५९॥  
 घर-सिर-पसुत्त-कामिणि-कवोलं-संकंत-ससिकलावल्यं ।  
 हसेहिं अहिलसिज्जइ मुणाल-सद्धालुएहिं जहिं ॥६०॥  
 मरहट्टिया पओहर-हलिद-परिपिजंरुवाहीए ।  
 धुव्वंति जत्थ गोला-णईए तद्वियसियं पावं ॥६१॥  
 अह णवर तत्थ दोसो जं गिम्ह-पओस-मल्लियामोओ ।  
 अणुणय-सुहाइं माणंसिणीण भोत्तुं चिय ण देइ ॥६२॥  
 [अह णवर तत्थ दोसो जं फलिह-सिलायलम्मि तरुणीण ।  
 मयण विवारा दीसंति बाहिर-ठिएहिं वि जणेहिं ॥६२/१॥]

## २. कंसवहो❀

(पढमो सगो)

सिरीअ णाहो सिहि-पिछ-सेहरो सिणिद्ध-गोवी-णअणं-चलचिओ ।  
सअं जसोआ-तणअत्तणं गओ विहू विहूसावइ गोव-वाडिअं ॥१॥  
कहं खु से कंसवहं सुहावहं सुहं व गण्हेह वले सुहीअणा ।  
सआ गुरूणं चलणे समल्लिओ भणामि जं भत्ति-गुणेण णोल्लिओ ॥२॥  
अहेक्कदा चं कमिरो वअंगणे दिणंत-गो-दोहण-वावुडंगणे ।  
सहग्गओ सो ऽहिसरंतमग्गओ गदग्गओ दवखइ गंदिणी सुअं ॥३॥  
रआइ रेहा-रह-संख-पंकअद्धअंकिदाइं पुलऊण भूअले ।  
तहिं णमंतं पुलआलि-पमहलप्पमोअ-वाहोल्ल-विहूल्ल-विग्गहं ॥४॥  
खणे खणे ज्ञाण-णिमीलिएक्खणं णमंत-मोल्लि-प्पणिवेसिअंजलिं ।  
असंभमं संभरमाणमग्गदो लसंतमप्पाणमणंत-कोडुअं ॥५॥  
अदिट्ठ-पासट्ठिअ-वत्थु-सत्थअं असुव्वमाणुच्चलिउच्च-णिस्सणं ।  
परं परव्वमह-सुहाणुभाविणं ण बाहिरं बाहइ किं पि देहिणं ॥६॥  
खणं रुवंतं विहसंतमंतरा खणं च खंभं व णिरूसइ ठिअं ।  
खणं चरंतं खणमुच्च-जंपिअं खणं पि तुप्पिहक्क-मुहं मआहि व ॥७॥  
पमोअ-तूरंत-पद-क्कमुच्चलक्खलंत-मोत्ता-गुण-फेण-मंडलो ।  
सरि-प्पवाहं विअ संमुहागअं स पच्चुवट्ठाइ णमच्चुअंबुही ॥८॥  
करंबुएणं परिगण्हिऊण णं घरं णिअं पावइ देवई-सुओ ।  
अणामअं पुच्छइ मिट्ठ-भोअणं पअच्छए किं पि अ जंपए पुणो ॥९॥  
तुहावलोएण भुवीअ मे मणं विसट्टमक्कूर सिणिद्ध-बंधुणो ।  
अहो किमच्छेरमिणं समुग्गए विहुम्मि सज्जो विअसेइ केरवं ॥१०॥  
मुणामि तेएण खु भोअ-राइणो दिण-प्पदीवा विव तिक्ख-रस्सिणो ।  
पलिज्जमाणेण पराहद-प्पहा कहं पि तुम्हे बलिणो विजीवह ॥११॥

❀ पाठ-सम्पादन : डा० ए० एन० उपाध्ये, कंसवहो, मोतीलाल बनारसीदास,  
दिल्ली, १९६६ ।

अवच्च-जुग्गे चिरमक्खदे वि दे सहंति जं णो पिदरा णिअंतणं ।  
 सरीरिणो ता दुरवच्च-लंभदो वदंति सच्चं णिरवच्चदा वरं ॥१२॥  
 कहं परिच्चेमु सरीर-पोसए इमे वि मादा-पिदरे व वच्छले ।  
 जअम्मि जे कोइल-रीइ-नामिणो ण दे जुउच्छंति कहं महाअणा ॥१३॥  
 कअं खु जं वा कहिदेण भूरिणा किणो भणेज्जाअम-कालणं भवं ।  
 इदं वदंतो विरमेइ माहवो भणंति भव्वा हि जणा मिदक्खरं ॥१४॥  
 विसुद्ध-सीलेण विणम्म-मोलिणा स कंस-दूएण कहिज्जए हरी ।  
 तुह व्व साहिट्ट-जहिट्ट-दंसणं विसिट्टमम्हाअमण-प्पओअणं ॥१५॥  
 णिरत्थ-संगा णिअमंत-पंथआ जमादि-जोअब्भसणुब्भड-स्समा ।  
 चिरं विइण्णंति तवोहणा वि जं स दिट्ठिए मज्झ सि दिट्ठि-गोअरो ॥१६॥  
 जिअं जिअं मे णअणेहि जेहि दे सुजाअ-सुदेर-गुणेक्क-मंदिरं ।  
 पसण्ण-पुण्णामअ-मोह-सच्छहं मुहं पहासुज्जलमज्ज पिज्जए ॥१७॥  
 णिसिज्जए माहव माउलेण दे विअंभमाणेण व पावरासिणा ।  
 इमस्स पच्चक्ख-णिरिक्खणूसवो मुहस्सं जं वा विहि-वामदा खु सा ॥१८॥  
 ममम्मि तुट्ठं विहिणा णु संपअं महं मह च्चेअ णु पुण्ण-संभवो ।  
 जमज्ज तेण च्चिअ भोअ-राइणा विसज्जिओ हं तुइ कज्ज-गोरवा ॥१९॥  
 सुणाहि तासेण सआ समाउलो जमीहए माहव दे स माउलो ।  
 स वंचिउं वंचइ तं पि संपअं जअस्स जो देसि खु कं पि संपअं ॥२०॥  
 पलंब-बाहुस्स वहस्स जस्स दे पलंब-केसि-प्पमुहा ण पारिआ ।  
 तमप्पणा संपइ संपमद्दिउं तम-प्पहाणो स हि सण्णहेइ हि ॥२१॥  
 धराहिणाओ धणुहूसव-च्छला खलो तिलोईवइ हिंसिउं तुमं ।  
 समं समारंभइ कुंभि-राइणा समं च मल्लेहि स मंचमाठिओ ॥२२॥  
 रहम्मि हक्कारिअ राअ-पंसणो भणीअ मं कि पि स तं पि सुव्वउ ।  
 अमंदमक्कूरअ वच्च गोउलं भणेहि बाले वि अ राम-केसवे ॥२३॥  
 चअत्थि भोआहिव-बाहु-पालिए सरास-जण्णो महुरा-महाघरे ।  
 तमिक्खिउं वो जइ कि पि कोट्टुअं तदो समाअच्छह पेच्छहूसवं ॥२४॥  
 स णंदगोवो वि स-मित्त-बंधवो जवा समावच्चउ मज्झ मंदिरं ।  
 अतुच्छओ तुज्जण विक्खणाअरो मह त्ति तेण च्चिअ सव्वमीरिअं ॥२५॥  
 इमस्स कज्जस्स सरीरमेरिसं जहि खु पाणाअइ विप्पलंभणं ।  
 ण वच्च वा णंदअ वच्च वा तुवं विही-णिसेहो वि ण दूअ-कत्तओ ॥२६॥

पवट्टए चावमहं ति कोदुअं णिवट्टए वंचण-साहणं ति तं ।  
 दुहा वले भादर भाव-बंधणं महं ति तं जंपइ रोहिणी-सुओ ॥२७॥  
 इदं वओ भणइ वण्णमालिणा अलं कवित्थेण पलंब-सुअण ।  
 अकज्ज-सज्जाण हि सत्तु-संभवो कुदो भअं कज्ज-पहुम्महाण णो ॥२८॥  
 अहं प्फुडं काहिइ साहसं जइ क्वअं सअं जाहिइ पाअडो जणो ।  
 समिद्धमग्गिं गसिउं समुट्ठिओ ण डज्झए किं सलहाण संचओ ॥२९॥  
 विसुद्ध-सीले विमअ-च्छल-क्कमो ण को वि अम्हे छिविउं पअब्भइ ।  
 णहम्मि तारा-णिअरे समुज्जले णिसंधआरो मइलेइ किं भग ॥३०॥  
 भुअ-प्पआवो भुअ-दप्पसालिणो रिवूण मज्जे च्चिअ संपआसइ ।  
 हिरण-रेअस्स वि जाल-संचओ सअं समिधेइ किमिधणं विणा ॥३१॥  
 वअं वएसग्ग-सरा णिराउला स-सिक्क-भंडा सअडाहिरोहिणो ।  
 समुच्चलामो सअला वि संपअं सहाजिओ होज्ज स भोज-भूवई ॥३२॥  
 इआलवंतो सह सीर-पाणिणा रहं समारोहइ देवई-सुओ ।  
 करग्ग-संवग्गिअ-परग्गहो जवा स तस्स पट्ठिम्मि अ गदिणी-सुओ ॥३३॥  
 सुहं रहम्मि च्चिअ हम्मिओवमे सअं सअंतो गमिऊण जाभिग्गिं ।  
 परो समं सम्मिलिदेहि माहवो स णंद-गोव-प्पमुहेहि पट्ठिओ ॥३४॥  
 अहो समाअण्णिअ कण्ण-दूसहं पवास-वत्तं पदएस-केउणो ।  
 गलुग्गलंतस्सु-जलुकवदक्खरं विओअ-भीआ विलवंति गोविआ ॥३५॥  
 अमुद्धअंदम्मि व संभु-मत्थए अवोत्थुहम्मि विव विणहु-वच्छए ।  
 अणंदए णंद-धरम्मि का सिरी हाहा हाहा हंत वअं वअंगणा ॥३६॥  
 अणण्ण-गाहा अविहा विहाअ णे घिणं विणा झत्ति गए विदालुणे ।  
 तहिं जणे लग्गइ संपअं पि जं तमम्मकाणं खु मणं विग्गिट्ठिअं ॥३७॥  
 किमेत्थ अम्हे कुणिमो गुणुत्तरे जणे पिणद्धं जुवईण माणसं ।  
 ण तीरए चारु-पसूण-सोरहे महीरुहे भिगउलं च कड्डुडं ॥३८॥  
 पहाण-पाणाणि खु णो जणदूणो स जेण दूरं गमिओ दुरप्पणा ।  
 कअंत-दूओ च्चिअ सो समागओ ण कंस-दूओ ति मुणेह गोविआ ॥३९॥  
 इमाहि कूरो ण परो ति से कआ अवस्समक्कूरअ-सह-पक्किआ ।  
 अघोर-सद्दं जह घोर-मुत्तिणो सिवस्स वक्खाइ तह ति मण्णिमो ॥४०॥  
 हरिस्स रूवं चिअ संभरेह हो हरिम्मणी-सामल-कोमल-प्पहं ।  
 सिणिद्ध-केसंचिअ-भोर-पिच्छिअं विसट्ट-कंदोट्ट-विसाल-लोअणं ॥४१॥

फुरंत-दंतुज्जल-कंति-चंदिमा-समग-सूदेर-मुहेंदु-मंडलं ।  
 विमुद्ध-मोत्ता-गुण-कोत्थुह-प्पहा-पलित्त-वच्छं फुड-वच्छ-लंछणं ॥४२॥  
 भुअंग-भोआकइ-चंग-भंगअ-प्पआम-सोमाल-भुआ-लअंचिअं ।  
 मणि-प्पहाइण-सुवण-मेहला-विलंबि-पीअंबर-सोणि-मंडलं ॥४३॥  
 णह-प्पहालिद्ध-णहप्पहामल-प्पवाल-तंबुज्जल-पाअ-पंकअं ।  
 मणोज्ज-हासोल्ल-कडक्ख-विकवण-क्खण-क्खुहिज्जंत-वअंगणंगअं ॥४४॥



### ३. भविस्सयत्तकठवं\*

लोयणतहभावजुयं वित्तंतं देविसत्तियं भणियं ।  
 दीवंतरसोक्खजुयं भविस्सदत्तस्स वोच्छामि ॥१॥  
 मुणिवइ इव बहुविजओ सायर इव दोणिपोयपरिकलओ ।  
 जंबूदीवो रम्मो दीव-समुद्दाण मज्झगओ ॥२॥  
 तस्स य दाहिणभरहे मज्झिमखंडम्मि तित्थपुन्तम्मि ।  
 धम्मम्मि य पइदियहं सुहरसकलिए विसालम्मि ॥३॥  
 सग्गो व्व सुरसमेओ सुगआ इव अज्जसत्तपन्नवओ ।  
 चंदो व्व नहालीणो चक्कं पिव बहुपयावासो ॥४॥  
 उवहि व्व विविहरयणो दिवससमूहो व्व भद्दियसमाणो ।  
 हत्थि व्व पउरपमओ कुरुदेसो अत्थि रमणीओ ॥५॥  
 हंसो व्व सुप्पयारं नयरं नामेण गयउरं तत्थ ।  
 सरओ व्व सुद्धकंठं दिणयरंबिबं व बहुउदयं ॥६॥  
 कामो व्व सयाणंगो इंदो इव सुरगणेहिं कयसोहो ।  
 कउरववंसप्पभवो भूवालो नाम नन्नाहो ॥७॥  
 दुट्ठादुट्ठसभावं पुहइं कोहाइवज्जियमणेणं ।  
 पालतेणं सययं नियनामं तेण सच्चवियं ॥८॥  
 जो च्चिय पालइ पुहइं सो चेव य एत्थ होइ भूवालो ।  
 जो पुण अन्नायरओ सो चरडो अहव लुंटाओ ॥९॥  
 तत्थेव य वरनयरे धणवइनामेण वाणिओ तइया ।  
 सव्वाण वि लोयाणं विहवेणं उत्तमो आसि ॥१०॥  
 भूवालस्स वि पूओ विहवेणं सो दढं तहिं जाओ ।  
 सव्वजणाणं उवरिं सेट्ठियं पावए तह य ॥११॥  
 विहवेणं गरुत्तं विहवेणं सयणपरियणाईयं ।  
 विहवेणं सुहभावो विहवेणं वसणपरिहाणी ॥१२॥  
 गुणिणो मुणिणो धीरा जाइ कुलाहिं भूसिया अहियं ।  
 धणवइणो घरदारो पइदियहं सेवया जंति ॥१३॥

\* पाठ-सम्पादन—डॉ० राजाराम जैन, भविष्यदत्तकाव्यम्, आरा, १९८८

तम्हा जह तह जुज्जइ विहवस्सुप्पायणं इहं लोए ।  
 विहवरहियाण जेणं सव्वो वि परम्मुहो होइ ॥१४॥  
 कमलसिरी सिरितुल्ला तस्स य सेट्ठस्स वल्लहा भज्जा ।  
 अणुदियहं पइभत्ता अणुकूला सव्वकज्जेसु ॥१५॥  
 सा चैव हवइ भज्जा पइइट्ठं जा करेइ अणुदियहं ।  
 इयर। चंडसहावा घरिणारूवेण वइरिणिया ॥१६॥  
 घरिणीकुसलत्तेणं सोहं पावेइ इह जणे पुरओ ।  
 अइकुसलो वि हु जेणं पुरिसो किं हिडियं लोए ॥१७॥  
 विसयमुहं सेवन्ति कमलसिरी अह कमेण संजाया ।  
 गब्भवई सुहसुविणा वहमाणी हिययआणंदं ॥१८॥  
 कुलया कंतसरूवा विहवजुया बल्लहा य नियपइणो ।  
 गब्भविहूणा नारी अकयत्थं मुणइ अप्पाणं ॥१९॥  
 जह जह वड्ढइ गब्भो तह तह तीए वि वड्ढए अंअ ।  
 अहवा उदरपवड्ढी जणणीए कुणइ वट्ठं (डढं) त्तं ॥२०॥  
 दोहलए पडिपुण्णे कालेण तीए दारओ जाओ ।  
 नयण-मणाणंदयरो जणणीए तह य लोयाणं ॥२१॥  
 बालचरियाइँ दट्ठं अन्नाण वि होइ नेहसंबंधो ।  
 जणणीए पुणो नेहं जगणि च्चिय जाणए तणए ॥२२॥  
 पिउ-माईसुं नेहो नासइ इत्थीण तेत्तिओ नियमा ।  
 तणयाणं जम्मेणं वत्थूण सहावओ एत्थं ॥२३॥  
 वित्ते वद्धावणए दिन्ने दाणम्मि विविहलोयाणं ।  
 कालेण कयं नामं भविस्सदत्तो त्ति पियरेहि ॥२४॥  
 अट्टवरिसो य तो सो उवणीओ उज्झयाण पढणत्थं ।  
 अचिरेणमधीयाओ विज्जाओ तेण सव्वाओ ॥२५॥  
 जिणधम्मस्स वि तत्तं विन्नायं तेण विणयपउणेण ।  
 लोयस्स वि ववहारो तेण जओ एत्थ निव्वाहो ॥२६॥  
 मुत्तू जणववहारं तत्तं चिय जो करेइ निरवेक्खो ।  
 सो वज्जज्जइ लोए धम्मस्स य हीलणं होइ ॥२७॥  
 संजमजुत्तो वि जई हीलावंतो जिणस्स मग्ग तु ।  
 मिच्छादिट्ठिजणाओ हीणयरो सो इहं नेओ ॥२८॥



दोसेण दुगच्छाए समाहिगुत्तस्स मुणिवरिदस्स ।  
 धणवइणो कमलसिरी सहसच्चिय अप्पिया जाया ॥२९॥  
 भणिया सा धणवइणा मा पुरओ ठासु मज्झ नयणाणं ।  
 अचिरेणं चिय वच्चसु नियपिउगेहम्मि किं बहुणा ॥३०॥  
 कमलसिरीए भणियं नाह ! म जंपेसु एरिसं वयणं ।  
 निक्कारणरोसणयं डिभाण वि जेण हसणीयं ॥३१॥  
 गहिऊण तओ कंठे निस्सारइ निययगेहदाराओ ।  
 एगागिणी रुयंती कमलसिरी सो दढं कुविओ ॥३२॥  
 नायं ताओ अगाए रुटो नियमेण एस मह अज्ज ।  
 एयारिसं अणेणं कइया वि न चिट्ठियं जेण ॥३३॥  
 तत्थेव य वरनयरे पिउगेहे सा गया सुविच्छाया ।  
 दट्ठं च तइं इतिं पिउलोओ दुक्खिओ जाओ ॥३४॥  
 रुयमाणं संठविसं पुच्छंति य कारणं च आगमणे ।  
 सा वि हु साहइ तेसिं सव्वं पि य भत्तुणो चरियं ॥३५॥  
 एत्थंतरम्मि पत्तो भविस्सदत्तो वि णायवुत्तं ।  
 कमलसिरीए भणिओ पुत्त ! न जुत्तं कयं तुमए ॥३६॥  
 तुह पिउगा पुत्त ! अहं केण वि दोसेण जइ वि निच्छुढा ।  
 तह वि हु तुह तं गेहं मोत्तूण न जुज्जए कह वि ॥३७॥  
 जंपइ भविस्सदत्तो न हु जुत्तं अंबि ! एरिसं वयणं ।  
 जणणाविरहे जमहा जणओ खलु पित्तिओ होइ ॥३८॥  
 तत्थेव य अच्छंती वाणिज्जं चैव कुणइ सो कुमरो ।  
 सव्वकलामु वि कुसलो सव्वाण वि तोस-संज जणओ ॥३९॥  
 तत्थेव य वरदत्तो तस्स य घरिणी मणोरमा नाम ।  
 ताण य नागसरूवा धूया वररूवसंपन्ना ॥४०॥  
 सा परिणीया पच्छा धणवइणा मग्गिऊण वरदत्त ।  
 तीसे जाओ पुत्तो नामेण बंधुदत्तो त्ति ॥४१॥  
 कालेणं संपत्तो तारुन्नं जाव रम्मयं सुट्ठु ।  
 ताव वयसेहिं इमो भणिओ काऊण एगंते ॥४२॥  
 जो तरुणत्ते दव्वं विढवेइ न नियबलेण केणावि ।  
 सो विद्धत्तं सोयइ कज्जेसु विसूरमाणेसु ॥४३॥

पुव्ववए दिवसंमि अट्ठहिं मासेहिं एत्थ लोएण ।  
 तं किं पि हू कायव्वं जेणते सोक्खयं होइ ॥४४॥  
 पुव्वज्जियदव्वाइं जो भुंजइ महिलिय व्व घरमज्जे ।  
 सो पुरिसनामधारी कह न वि लज्जेइ लोयम्मि ॥४५॥  
 विह्वेणं दव्वं जो न वि वियरेइ सयणमाईसु ।  
 पुरिसायारो य फुडं सो निवसइ महिलिया गेहे ॥४६॥  
 तम्हा सुवन्नभूमि गंतूणं अज्जिमो महादव्वं ।  
 जेण जणाणं मज्जे पुरिसत्ते पाविमो लीहं ॥४७॥  
 जंपइ य बंधुदत्तो जुत्तं तुम्होहिं जंपियं एयं ।  
 एरिसयं पुव्वं चिय मज्ज वि हियए टिठयं चेव ॥४८॥  
 गतूण पिउसयासे पभणइ एवं च बंधुदत्तो वि ।  
 ताय ! अहं वच्चामो सुवन्नदीवम्मि दविणत्थं ॥४९॥  
 धणवइणा वि य भणियं जुज्जइ वणियाण एरिसं काउं ।  
 किं तु तुमं एगो च्चिय अम्हं चक्खु इहं पुत्त ! ॥५०॥  
 देसंतरं च गरुयं सावायं तह य जलहिउत्तरणं ।  
 दविणं च अत्थि तुम्हं भुंजतं जं न निट्टेइ ॥५१॥  
 तह वि न मेल्लइ जाहे अइगाहं कह वि बंधुदत्तो वि ।  
 ताहे सोणन्नाओ पिउणा मायाएं किच्छेणं ॥५२॥  
 घोसावियं च नयरे सुवन्नदीवं च जो वयइ को वि ।  
 तस्साहं वट्टेमो सव्वेसु वि कज्जजाएसु ॥५३॥  
 तं सोऊणं भणियं भविस्सदत्तेण बंधुदत्तस्स ।  
 जामि अहं चिय भाउय ! तुम्हं सत्थेण जइ भणह ॥५४॥  
 तुहत्तणओ च्चिय सत्थो पभणइ विणएण बंधुदत्तो वि ।  
 जइ वच्चइ भाय ! तुमे ता मम सव्वं पि संपन्नं ॥५५॥  
 जणओ भाया वणिओ जइ सत्थे होइ कह वि पुन्नेहिं ।  
 ता जाण विएसो वि हू नियगेहं नत्थि संवेहो ॥५६॥  
 सव्वं पि कयं पिउणं दीवंतरजोगयं च सव्वेहिं ।  
 पंचसयाण य सामी सत्थियपुरिसाण सो जाओ ॥५७॥  
 भणिओ य बंधुदत्तो मायाए टुविय सुट्ठु एगते ।  
 तह पुत्त ! करेज्ज तुमं भविस्सदत्तो जह न एइ ॥५८॥

इयरह एसो जेट्ठो पिउविरहे सामिओ इहं होही ।  
 अहवा अद्धग्गाही पुत्तय ! इह संसओ नत्थि ॥५९॥  
 अन्नदियहम्मि सत्थो चलिओ सब्बो वि सो जणसमेओ ।  
 पत्तो कमेण गंतुं तारे उदाहस्स रुदस्स ॥६०॥  
 उवही वि सत्थपुरओ उट्ठइ इव तंगतरलकल्लोलो ।  
 अहवा गिहपत्ताणं कुणंति गरुया वि उट्ठाणं ॥६१॥  
 भरिऊण पवहणाइं सब्बे वि हु निययभडजायस्स ।  
 चलिया मंगलपुव्व सुवन्नदीवस्स मग्गेण ॥६२॥  
 गच्छंताण कमेण तुट्ठे सव्वाण इंधणाईए ।  
 मग्गन्तुएहि सहसा नीया मयणायदीवम्मि ॥६३॥  
 तत्थ य उत्तरिऊणं गेण्हंति फलाइय इ सब्बे वि ।  
 वच्चति य सब्बं पि हु पेच्छंति य पेच्छणिज्जाइं ॥६४॥  
 सब्बे वि तहिं पत्ता भविस्सदत्तेण वज्जिया जाव ।  
 ताव य चालइ पोए वेएणं बंधुदत्तो वि ॥६५॥  
 अह सत्थिएहि भणियं भविस्सदत्ता न दीसए एत्थ ।  
 भोत्तूण कीस चलिया ? सत्थस्स न जुज्जए एयं ॥६६॥  
 अह भणइ बंधुदत्तो एकस्स कए न नासिमो सब्बे ।  
 न्हाया तडम्मि तुम्हे गुण दोसा पुण महं एत्थ ॥६७॥  
 नाऊण तस्स चित्त सब्बे वि हु संठिया मणे दुहिया ।  
 पत्तो य तप्पएसं भविस्सदत्तो विचित्तेइ ॥६८॥  
 किं मं मोत्तूण गया ? किं वा सो चेव न हु इमो देसो ? ।  
 अहवा दीसइ चिण्हं तम्हा लोभेण मुक्को हं ॥६९॥  
 इय चित्तिऊण तत्तो सो पुण वलिऊण हिडए दीवं ।  
 कयलीहरम्मि रम्मे रयणी बोलेइ ठाऊण ॥७०॥  
 जाए पहायसमए भमडिता गिरिवरस्स कडयम्मि ।  
 पेच्छइ विवराभिमुहं पुराणसोवाणपंतीयं ॥७१॥



## ४. आरामसोहाकहा\*

[ १ ] इहेव जम्बूरुखालंकियदीवमञ्जाट्टिए अवखंडळखंडमंडिए बहुविहसुहनिवंहनिवासे भारहे वासे असेसलच्छिसनिवेसो अत्थि कुसट्टदेसो । तत्थ पमुइयपक्कीलियलोगमणोहरो उग्गविग्गहुव्व गोरिसुन्दरो सयलधन्न-जाईअभिरामो अत्थि बलासओ नाम गामो । जत्थ य चाउट्टिसि जोयण-पमाणे भूमिभागे न कयावि ह्कखाइ उग्गइ ।

[ २ ] इओ य तत्थ चउव्वेयपारगो छक्कम्मसाहगो अग्गिसम्मो नाम माहणो परिवसइ । तस्स सीलाइगुणपत्तरेहा अग्गिसिहा नाम भारिया । ताणं च परमसुहेण भोगे भुजंताणं कमेण जाया एगा दारिया । तीसे 'विज्जुप्पह' त्ति नाम कयं अम्मापियरेहि—

जोसे लोलविलोयणाण पुरओ नीलुप्पलो किकरो,  
पुन्नो रत्तिवई मुहस्स वहई निम्मल्ललीलं सया ।  
नासावंसपुरो सुअस्स अपइ चंच्चुपुडो निज्जरा,  
रुवं पक्खिय अच्छरासुवि धूवं जायति हिल्लायरा ॥१॥

[ ३ ] तओ कमेण तीसे अट्ठवरिसदेसियाए दिव्ववसा रोगायंका-भिभूया माया कालधम्ममुवगया । तत्तो सा सयलमवि घरवावारं करेइ । उट्ठिऊण पभायसमए विहियगोदोहा कयघरसोहा गोचारणत्थं बाहिं गंतूण मज्झण्हे उण गोदोहाइ निम्मिय जणयस्स देवपूयाभोयणाइं संपाडि-ऊण सयं च भुत्तण पुणरवि गोणीओ चारिऊण संज्ञाए घरमागंतूण कयपाओसियकिच्चा खणमित्तं निद्दामुहं सा अणुहवइ । एवं पइदिणं कुणमाणी घरकम्मेहिं कयत्थिया समाणी जणयमन्नया भणइ—'ताय ! अहं घरकम्मुणा अच्चंतं दूमिया, ता पसिय घरणिसंगहं कुणह ।'

[ ४ ] इय तीइ वयणं सोहणं मन्नमाणेण तेण एगा माहणी विसद्धुम-सारणी सगहिणी कया । सावि सायसीला आलसुया कुडिला तहेव घर-वावारं तीए निवेसिय सयं ण्हाणविलेवणभूसणभोयणाइभोएसु वावडा तणमवि मोडिऊण न दुहा करेइ ।

तओ सा विज्जुपहा विज्जुव्व पज्जलंती चित्तेइ—'अहो ! मए जं

\* पाठ-सम्पादन : डॉ० राजाराम जैन, आरामसोहाकहा, आरा, १९८९

सुहनिमित्तं जणयाओ कारियं तं निरउव्व दुहहेउयं जायं । ता न छुट्टिज्जई  
अवेइयस्स दुट्ठकम्मणो, अवरो उण निमित्तमित्तमेव होई ।' जओ—

सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं ।  
अवराहेसु गुणेषु य निमित्तमित्तं परो होइ ॥२॥  
यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च,  
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकम्मं ।  
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च,  
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥३॥

[ ५ ] एवं सा अमणदुम्मणा गोसे गावोओ चारिऊण मज्झण्हे अरस-  
विरसं सीयलं लुक्ख मक्खियासयसंकुलं भुत्तुद्धरियं भोयणं भुंजइ एवं  
दुक्खमणुहवंतीए तीए बारसवरिसा वइक्कंता ।

[ ६ ] अन्नंमि दिणे मज्झण्हे सुरहोसु चरंतीसु गिमहे उप्पहकरतावियाए  
रुक्खाभावाओ पाओ च्छायावज्जिए सतिणप्पएसे सुवंतीए तीए समीवे  
एगो भुयंगो आगओ—

जो उण अइरत्तच्छो संचालियजोहजामलो कालो ।  
उक्कडफुंकारारव भयजणओ सव्वपाणीणं ॥४॥

[ ७ ] सो य नागकुमाराहिट्ठियतणु माणुसभासाए सुललियपयाए  
तं जग्गवेइ, तप्पुरओ एवं भणए य—

भयभीओ तुह पासं, समागओ वच्छि ! मज्झ पुट्ठीए ।  
जं एए गारुडिया लग्गा बंधिय गहिस्संति ॥५॥  
ता नियए उच्छंगे सुइरं ठाविएवि पवरवत्थेणं ।  
मह रक्खेसु इहत्थे खणमवि तं मा विलंबेसु ॥६॥  
नागकुमाराहिट्ठिय-काओ गारुडियमंतदेवीणं ।  
न खमो आणाभंगं काउं तो रक्ख मं पुत्ति ! ॥७॥  
भयभंति मुत्तूणं वच्छे ! सम्मं कुणेषु मह वयणं ।  
ततो सावि दयालू तं नागं ठवइ उच्छंगे ॥८॥

[ ८ ] तओ तंमि चेव समए करठवियओसहिवलया तप्पिट्ठओ चेव  
तुरिय-तुरियं समागया गारुडिया, तेहिं पि सा माहणतणया पुट्ठा, 'बाले !  
एयंमि पहे कोवि गच्छंतो दिट्ठो गरिट्ठो नागो ?' तओ सावि पडिभणइ—  
'ओ नरिदा ! किं मं पुच्छेह ? जं अहमित्थ वत्थच्छाइयगता सुत्ता अहेसि ।'

[ ९ ] तओ ते परुप्परं संलवन्ति । जइ एयाए बालियाए तारिसो नागो दिट्ठो हुत्थो तो भयवेविरंगो कुरंगीव उत्तट्ठा हुत्था । अओ इत्थ नागओ सो नागो । तयणु ते अगगओ पिट्ठओ य पलोइय कत्थवि अलहंता हत्थेण हत्थं मलंता दंतेहि उट्ठसंपुडं खंडंता विच्छायवयणा पडिनियत्तिऊण गया सभवणेसु गारुडिया ।

[ १० ] तओ तीए भणिओ सप्पो—‘नीहरसु इत्ताहे, गया ते तुम्ह वेरिया ।’ सोवि तीए उच्छंगओ नोहरिऊण नागरूवमुज्झिऊण चलंत-कुंडलाहरणं सुररूवं पयडिय पभणेइ—‘वच्छे ! वरेसु वरं जं अहं तुहोवयारेण साहसेण य संतुट्ठम्हि ।’ सावि तं तहारूवं भासुरसरीरं सुरं पिच्छिऊण हरिसभरनिभरंगो विन्नवेइ ताय ! जइ सच्चं तुट्ठोसि, ता करेसु मज्जुवरिच्छायं, जेणायवेणापरिभूया सुहंसुहेण च्छायाए उपविट्ठा गावीओ चारेमि ।’

[ ११ ] तओ तेण तियसेण मणमि वीसंमियं—‘अहो ! एसा सरल-सहावा वराई जं ममाओवि एवं मग्गइ । ता एयाए एयंपि अहिलसियं करेमि’ त्ति तीए उवरि कओ आरामो महल्लसालदुमफुल्लगंधधपुष्पंध-यगोयसारो च्छायाभिरामो सरसप्फलेहि पोणेइ जो पाणिगणे सयावि । तत्तो सुरेण तीइ पुरो निवेइयं—‘पुत्ति ! जत्थ जत्थ तुमं वच्चिहिसि तत्थ तत्थ महमाहप्पाओ एस आरामो तए सह गमिही । गेहाइगयाए तुह इच्छाए अत्ताणं संखेविय च्छत्तुव्व उवरि चिट्ठस्सइ । तुमईए उण संजाय-पओयणाए आवइकाले अहं सरेयव्वु’ त्ति जपिय गओ सट्ठाणं सो नागकुमारो ।

[ १२ ] सावि तस्सारामस्सामयरससरसाणि फलाणि जहिच्छं भुजिय विगयच्छुहत्तहा तत्थेव ठिया सयलं दिणं । रयणीए उण गोणीओ वालिऊण पत्ता नियमदिरं । आरामोवि तीए गिहं च्छाइऊण समंतओ ठिओ । जणणीए उण सा वुत्ता—‘पुत्ति ! कृणसु भोयणं,’ तओ तीए वज्जरियं—‘नत्थि मे अज्ज खुह’ त्ति उत्तरं काऊण सा नियसयणीए निद्दामुहमणुहवइ । जाए पच्चूससमए सा गावीओ गहिय तहेव गयारणं आरामोवि तप्पि-ट्ठीए गओ । एवं कुव्वंतीए तीए अइक्कंताणि कइवइदिणाइं ।

[ १३ ] एगया मज्झण्हे सुहप्पसुत्ताए सिरिपडिलपुराहिवो चउरंगबल-कलिओ विजयजत्ताए पडिनियत्तो जियसत्तु नाम राया आगओ तत्थ । तस्सारामस्स रमणिज्जयाए अक्खित्तचित्तो मतिं खंधावारनिवासत्थ-

माइसइ । नियासणं च चारुचूयतरुतले ठाविय सयमुवविसइ । सिन्निंपि  
तस्स चउट्ठींसिपि आवासेइ । अविइ—

तरलतरंगवलच्छा बज्जंति समंतओ य तरुमूले ।  
कविकालं विज्जंति पल्लाणज्जुया य साहासु ॥९॥  
बज्जंति निविडथुडपायवेसु मयमत्तदतिपंतीओ ।  
वसहकरहाइवाहण परंपराओ ठविज्जंति ॥१०॥

[ १४ ] तम्मि य समएसिन्नकोलाहलेण विज्जुपहा विगयनिद्दा समाणी  
उट्ठिऊण करहाइपलोयणुत्तट्ठाओ गावीओ दूरंगयाओ पलोइय तासि  
वालणट्ठा तुरियतुरियं रायाइलोयस्स पिक्खंतस्सवि पहाविया । तीए  
समं च करभतुरियाइसमेओ आरामोवि पत्थिओ । तओ ससंभंतो राया  
सपरियणा उट्ठिओ, अहो किमेयमच्छरियं ति पुच्छइ मंति, सोवि जोडिय-  
करसंपुडो रायं विन्नवेइ—‘देव ! अहमेवं वियक्केमि, जइओ पएसाओ  
विगयनिद्दामुद्दा उट्ठिऊण करसंपुडेणं नयणे चमढंती उट्ठित्ता पहाविया  
एसा बाला । इमीए सद्धि आरामोवि, ता माहप्पमेयमेईए चेव संभा-  
विज्जइ । एसा देवंगणा वि न संभाविज्जइ, निमेसुम्मैसभावेण तूणमेसा  
माणुसी ।’

[ १५ ] तओ रण्णा वुत्तं—‘मंतिराय ! एयं मे समीवमाणेह ।’ मन्ति-  
णावि धाविऊण सहो कओ । सावि तस्सट्ठस्सवणेण आरामसहिया तत्थेव  
ठिया । तओ ‘एहि’ त्ति मंतिणा वुत्ता । सा पडिभणइ—‘मम गावीओ  
दूरं गयाओ ।’ तओ मंतिणा नियअस्सवारे पेसिऊण आणावियाओ  
गावीओ । सावि आरामकलिया रायसयासमाणीया । राया वि तीए  
सव्वमवि चंगमंगमवल्लोइय ‘कुमारि’ त्ति निच्छोय साणुराओ मंतिंसमुह-  
मवल्लोएइ । तेणावि रण्णो मणोभिप्पायं नाऊण वज्जरिया । ‘विज्जुपहा !—  
नमिरनरेसरसेहरअमंदमयरंदवासियकमगं ।

रज्जसिरिइ सव्वक्को होऊण इमं वरं वरसु ॥११॥

[ १६ ] तओ तीस साहियं—‘नाहं सवसा किंतु जणणिजणयाणमायत्ता ।’  
तओ मंतिणा उत्तं—‘को ते पिया ? कत्थ वसइ ?’ तीए वि संलत्तं—  
इत्थेव गामे अरिगसम्मो माहणो परिवसइ ।’ तओ मंति तत्थ गमणाय  
रण्णा आइट्ठो । सोवि गामे गंतूण तस्स घरे पविट्ठो । तेणावि सागयव-  
यणपुरस्सरं आसणे निवेसिऊण भणिओ—‘जं करणिज्जं तं मे पसीय  
आइसह ।’

[ १७ ] अमच्चेण भणियं—‘तुम्हं जइ का वि कन्नगा अत्थि, ता दिज्जउ अम्ह सामिणो ।’ तेणावि ‘दिन्न’ ।त्त पडिस्सुयं, जं अम्ह जीवि-यमवि देवस्स संतियं किं पुण कन्नग ति ?’ तओ अमच्चेण भणियं—‘तुमं पायमवधारेसु देवस्स पासे ।’ सोवि य रायसमीवं गंतूण दिन्नासीवयणो, मतिणा बाहरियं वुत्तं, तो रण्णा सहत्थदिन्नासणे उवविट्ठो, भूवइणा वि कालविलंबमसहमाणेण गंधव्वविवाहेण सा परिणीया । पुविल्लयं नामं ‘परावत्तिऊण ‘आरामसोहं’ ति तोए नामं कयं । माहणस्स वि दुवालस गामे दाऊण पणइणिं चारामसोहं हत्थिखंध आरोविऊण सनयरं पइ पत्थिओ पत्थिवो पमोयमुव्वहंतो—

कप्पलइव्व इमीए लभेण निवो कयत्थमप्पाणं ।

मन्नइ अहवा वंछियलाहाओ को न तसेइ ? ॥१२॥

सिगारतरंगतरंगिणीइ दिव्वाणुभावकलियाए ।

किं चुज्जं भूवइणो हरियं हिययं तया तोए ॥१३॥

[ १८ ] तओ मंचाइमंचकलियं निवेशियकालागुरुकुं दुखकतुरुक्क-धूममघमघंतवडियं उब्भामियधयवडालोयं उल्लासियवंदणमालं तियचउक्क-चच्चरचउम्मुहपयटिटयअउव्वनाडयं बहुठाणठवियपुण्णकलसं वणिणज्जंतो आरामसोहाइसयसहयसमचुज्जविलोयणुप्फुल्लविलोयणनलर्णेहिं नरनारी-गणेहिं, पणइणीकलिओ पाडलिपुरं पविट्ठो महाविभूइए महाराओ । सावि पुढो पासाए ठाविया, आरामो वि तोए पासायमावरिय समंतओ ठिओ दिव्वाणुभावेण । राया वि परिहरियासेसवावारो तोइ समं भोए भुंजंतो दोगुं दुगसुरेवि अवमन्नंतो निमेषमित्तं व कालमवक्कमइ ।

[ १९ ] इओ य आरामसोहा—सवक्किमायाए घूया जाया, कमेण जुव्वणमणुपत्ता, तं तहावत्थं दट्ठूण दुट्ठा तज्जणणी एवं चित्तेइ—‘जइ केणावि पओएण आरामसोहा मरइ, ता राया तोइ गुणक्खित्तचित्तो मम पुत्तिमेयं परिणेइ । तओ य मम मणोरहभूहो सहलो होइ’ त्ति परिभा-विऊण तोए नियदइओ वाहरिओ—‘नाह ! वच्छाए परिणीयाए बहुकालो वइक्कंतो, अओ तोसे कए किपि भक्खभुज्जाइयं पेसउ’ जुज्जइ, एसावि पिउहरपाहुडेण मणो रंजिज्जइ ।’

[ २० ] तओ भट्टेण भणियं—‘पिए ! तोए न किपि ऊणय, परमहमेयं वियाणेमि जं कप्पदुमस्स बोक्करोराइ फलपेसणं, वइरागरसस्स कायखंड-मंडणं, मेरुस्स सिलायलेहिं दिट्ठयरणं, पज्जोयणस्स खज्जोयपोयउवमाण-करणमणुवियं होइ । तहा तोए अम्हाण पाहुडपेसणं, परमेस विसेसो—



जं रायलोओ मुहे हत्थं दाऊण उवहसिस्सइ ।' तओ तीए पावाए संलत्तं—  
'नूणं सा नो ऊणा परमम्हाणं निव्वुई होइ ।' तओ तीए अग्गहं नाऊण  
माहणेणवि 'तह' त्ति पडिवन्नं ।

[ २१ ] तओ तीए हरिसियमणाए बहुदव्वसंज्जोएण निम्मिया  
सिह्केसरीमोदगा, भाविया य महुरयेण, पक्खित्ता य नवकलसे, तम्मूहं  
मुद्दिऊण तीए भत्ता विन्नतो—'मा पंथे कोवि पच्चवाओ होउ तो तुमं  
सयं गहिय, वच्चसु ।' तओ वेयजडो बंभणो मिढसिगं व कुडिलं तीए मणं  
अमुणंतो तं घडं सिरे करिय जा पत्थिओ ताव तीए भणियं—'एयं पाहुडं  
आरामसोहाए चेव दाऊण सा भणियव्वा—वच्छे ! तुमए चेव एयं भुत्तव्वं,  
न अन्नस्स दायव्वं, मा मम एयस्स विरूवत्तेण रायलोओ हसउ' त्ति सो  
वि 'तह' त्ति पडिवज्जिय पत्थिओ ।

[ २२ ] मंदपयपयारेण य वच्चंतो संज्ञाए ठाऊण सयणसमए तं घडं  
ओसीसए दित्तो कइवईदिणेसु पत्तो पाडलिपुत्तासन्न महल्लवडपायवस्स  
तले । तत्थ तं घडं उस्सीसए दाऊण सुत्तो । इत्थंतरे तत्थ दिव्वजोगेण  
कीलणत्थमागएण तेण नागकुमारेण दिट्ठो सो बंभणो, चित्थियं  
च—'को एस मणुसो ? कलसम्मि य किमत्थि वत्थु ?' त्ति नाणं  
पउंजिय नाओ सयलोवि तीए पावाए बंभणोए वुत्तंतो—'अहो ! पिच्छह  
सवत्तिमाउए दुट्ठच्चिट्ठियं, जं तीए सरलसहावाए एरिसं ववसियं, परं मइ  
विज्जमाणे मा कयावि इमीए विरूवं होउ' त्ति वीमंसिय तेण विसमोयणे  
अवहरिय अमयमोयगेहिं भरिओ सो कलसो ।

[ २३ ] तओ सो गोसे सुत्तविउद्धो उट्ठिऊण गओ कमेण रायदुवारं ।  
पडिहारनिवेइओ य रायसगासं गंतूण दिन्नासीसो पाहुडघडं रायवाम-  
पासट्ठियाए समप्पेइ आरामसोहाए । तओ तेण भणिओ राया—'जहा,  
महाराय ! विन्नत्तं वच्छामाउयाए जमेयं पाहुडयं मए जारिसं तारिसं  
जणणीनेहेण पेसियं, अओ पुत्तीए चेव भुत्तव्वं, नन्नस्स दायव्वं, जहाहं  
रायलोयमज्जे न हसणिज्जा होमि, त्ति मणेच्छणो न धरियव्वो ।

[ २४ ] तओ रण्णा निरिक्खियं देवीए मुहकमलं, तीए वि दासीए  
सिरंमि दाऊण सभवणे पेसिओ कलसो । माहणो वि कणययणवसणदाणेण  
संतोसिओ रण्णा । सयं अत्थाणाओ उट्ठिऊण गओ देवीए गिहं । तत्थ  
सुहासणासीणो विन्नत्तो आरामसोहाए राया—

पिययम ! करिय पसायं नियनयणे निअह इत्थ कलसम्मि ।

अवणिज्जइ जह मुद्दा इय सुच्चा भणइ भूवो वि ॥१४॥

दइए ! मह मणदइए ! मा हियए कुणह किपि कुवियप्पं ।  
तं चेवम्हपमाणं ता उग्घाडेसु घडमेयं ॥१५॥

[ २५ ] तओ तं घडं उग्घाडंतीए तीए को वि दिव्वो माणुस्सलोय-  
दुल्लहो परिमलो समुल्लसिओ, जेण सयलंपि रायभवणं महमहियं । तो  
राया महप्पमाणे मोयगे ददूण परिदुट्ठो भुंजंतो य तप्पसंसं कुणइ ।  
भणइ य—‘मए रण्णा वि होऊण एयारिसासरिसमोयगासायणं कयावि  
न कयं ।’ तओ आरामसोहं पइ जंपइ नरवरो—‘एयमज्झा इविकक्कं  
मोयगं भइणीणं कए पेसह ।’ तीए वि रायाएसो तहेव कओ, तओ  
रायलोए तज्जणणीए महई पसंसा जाया—‘अहो सा विन्नाणसालिणी,  
जीए एरिसा देवाण वि दुल्लहा मोयगा काऊण पेसिया ।’ इय तप्पसंसं  
सोऊणारामसोहा परमं संतोसं गया ।

[ २६ ] एयम्मि समए अग्गिस्समेण विन्नतो राया—‘देव ! पिउहरं  
पेसह मे पुत्तिगं, जहा माउए मिलिऊण थोवकालेणवि तुम्ह पासमुवेइ ।  
तओ रण्णा सो पडिनिस्सद्धो, जओ—‘रायभारियाओ न मत्तंडमंडलमवि  
पलोइउ लहंति । किं पुण तत्थ गमणं ति’ भणिओ भट्टो गओ सगिहं,  
भारियाए निवेइयं सयलं पि तेण सरूवं । तओ सा पावा वज्जाहयव्व  
चित्तिउं लग्गा, ‘हंत ! मह उच्छूपुप्फं व जाओ निप्फलो उवक्कमो । ता  
तूणं न मणहरो महुरो ।’

[ २७ ] तओ कइवयदिणपज्जंते पुणोवि हालाहलमोसियाणं फोणियाणं  
करंडयं दाऊण तहेव तीए विसज्जिओ नियदइओ । पुव्वजुत्तोए चेव तेणेव  
सुरेण हालाहलमवहरियं, तहेव तीसे पसंसा जाया, पुणो वि तइयवेलं  
कयपच्चयतालउडभावियमंडियार्हि पडिपुण्णं करंडयं दाऊण बंभणो भणिओ  
तीए—‘वच्छा, संपयमावन्नसत्ता सह चेव आणेयव्वा । जहा इत्थ पढमो  
पसवो होइ, जइ राया कहमवि न पेसेइ, तओ तए बंभणत्तं दंसणीयंति ।’

[ २८ ] तव्वयणमंगीकाऊण भट्टो मग्गे गच्छंतो सुत्तो वडपायवस्स ।  
हित्ठा । देवेण वि पुव्वं व अवहडो तालउडो, तओ पुव्वजुत्तोए पुत्तोए  
पाहुडं दाऊण राया तेण विन्नत्तो—‘पुत्ति मम घरे पेसह ।’ तओ तव्वयणं  
मणयंपि राया जाव न मन्नइ । ताव सो जमजीहसहोयारिं छुरिं उदरोवरि  
धरिय वाहरइ—‘जइ पुत्ति न पेसिस्सह, ता अप्पघायं करिस्सामि ।’  
तओ राया तन्नच्छयं मुणिऊण महया परिवारेण परियरियं मंतिणा  
सहारामसोहं पेसेइ ।

[ २९ ] तओ अमुणियतप्पुण्णपगरिसा आरामसोहमागच्छंति सुणिग

सवत्तिमाया सह्रिसा नियमंदिरपिट्ठदेसे महंतयं कूवयं खणाविऊण किपि पवंचं मणे भाविऊण तम्मज्झगयभूमिहरए नियधूर्यं ठवेइ । अह समागया आरामसोहा सपरियणा, सवत्तिमाया वि तीए पुरो नियमभिप्पायमप्पयडंती किंकरिब्व कज्जाइं करिती चिट्ठइ ।

[ ३० ] अह संजाए पसवसमये सुरकुमराणुकारं सा पसूया कुमार । अन्नया विहिवसओ दूरट्ठए परियणे समोवट्ठयाए सवत्तिमायाए काय-चिंतानिमित्तं नीया आरामसोहा पच्छिमदुवारं, सावि तत्थ कूवं पलोइऊण भणइ—‘अम्मो ! कया काराविओ ? एस अउव्वो कूवो ।’ तओ सा परम-पिम्ममिव पयडंती साहइ—‘वच्छे ! तुज्जागमणं नाऊण मए एस करा-विओ । मा कया वि दूरओ नीरे आणिज्जमाणे विसाइसंकमो हुज्जा । तओ सा आरामसोहा कोऊहलेण कूवतलं पलोयंती तोए दुट्ठाए अणुल्ल-हिययाए पणुल्लिया अहोमुहा चेव पडिया ।

[ ३१ ] तम्मि समए तीए आवयपडियाए सो नागकुमारसुरो सपरिओ, तेणावि सुरेण पयडीभूएण करसंपुडेणं अद्धंतराले चेव सा पडिच्छिया । कूवंतरे चेव पायालभवणं विउव्विय ठाविया । आरामो वि तत्थेव देवप्प-भावाओ ठिओ सुरोवि बंभणीए उवरि कोवं कुणंती ‘मा यत्ति’ भणिय तीए उवसामिओ गओ सट्ठाणं ।

[ ३२ ] तओ तीए बंभणीए पमुइयाए तप्पल्लंके णवप्पसूयत्ति नियधूया सुवारिया । खणंतरे तप्पडिचारियाओ समागयाओ तं अप्पलावणं किपि सरिसागारं दट्ठूण धसक्कियहिययाओ जंपन्ति—‘सामिणी ! संवइ किम-न्नारिसीव भगवई पलोइज्जइ ?’

[ ३३ ] सापि साहरइ—किपि न मुणेमि, परं मह देहो न सत्था-वत्थो । तओ ताहिं भयभीयाहिं तज्जणणीए बंभणीए पुरो निवेइयं । तओ सावि पडुकूडकवडनाडयनडिया करेहिं हिययं ताडयंती पलविउं लग्गा । हद्धी, दुट्ठदिव्वेणं मुट्ठा, जं वच्छा अन्नारिसरूवा दीसइ, कहं रण्णो मुहं दक्खविस्सं ? तओ रायभएण विसन्नाओ परिचारियाओ चिट्ठंति ।

[ ३४ ] अह तम्मि समए निवइसमाइट्ठो समागओ मंती । तेणवि भणियं—‘जं देवो आणवेइ—देवीसहियं कुमारं सिग्घमाणेउण मह मेलह’ त्ति । तव्वयणसवणाणंतरे कया सयलावि पत्थाणसामग्गो, तम्मि अवसरे परिवारेण पुच्छिया देवी—‘कत्थ आरामो ?’ ‘अज्जवि नागच्छइ’, सा भणइ—‘कूवए नीरपाणट्ठं मए ठाविओ, पच्छा आगमिस्सइ ।’

[ ३५ ] तओ तीए सह पत्थिऊण परियणो पाडलिपुत्ते पत्तो । बद्धा-  
विओ निवो, तेणावि पमुइयमणेण पयट्ठाविया हट्टसोहा, पारद्धं वद्धावणयं,  
सयं संमुहगमणेण दिट्ठा देवी तणओ य, तओ पियाए अन्नारिसं रूवं निरूवि-  
ऊण संभतेण राइणा पुट्ठं—‘अहो !! अन्नारिसिचिचय तुह तणुसिरी  
निरूविज्जइ, तत्थ को हेउ ?’ तओ दासीहिं विन्नतं—‘महाराय ! एयाए  
पसूयाए दिट्ठिदोसेण पसूइरोगेण वा अन्नारिसं व रूवं संवुत्तं, न सम्मं  
जाणेमो ।’ तओ राया सुयजम्मपमुडओवि दइयावइयरसवणओ विच्छा-  
ओ जाओ । तहा वि धीरत्तमवलंबिऊण राया तीए सह पुरं पविट्ठो ।

[ ३६ ] एगया सा भणिया रण्णा—‘पिए ! सो तुह सया सहयरो  
आरामो किं न दोसइ ?’ तीए वि संलत्तं—‘अज्जउत्त ! पच्छा नीरं  
पियंतो कूवे वट्टइ, समरिओ संतो समागमिही ।’ राया वि जहा जहा  
तीए सव्वंगं पासइ, तहा तहा संदेहपिसाएण अक्कमिज्जइ, किमेसा सा  
अन्ना, वा कावि ? अन्नया सा वुत्ता रण्णा—‘आणेह तमारामं, मणाभि-  
रामं ।’ सावि जंपइ—‘पिययम ! पच्छावे, आणिस्सं ।’ सविसेसं रायमणंमि  
आसंका जाया ।

[ ३७ ] अहारामसोहाए सो सुरो विन्नत्तो—‘ताय ! सुयविरहो मं  
दढं पीडेइ, ता पसीय तहा कुणइ, जहा वच्छं पिच्छामि ।’ तओ सा सुरेण  
आइट्ठा—‘जइ एवं ता वच्च मम माहप्पेण, परं पुत्तं पासिउण सिग्घमा-  
गच्छेसु ।’ तीए वि ‘तह’ त्ति तव्वयणमंगीकयं । तओ पुणोवि सा सुरेण  
साहिया—‘जइ तत्थ गया तुमं सूरुगमं जाव चिट्ठिहिंसि, तओ परं मह  
दंसणं तुह न हविस्सइ, एस उण संकेओ—जया नियकेसपासाओ मयनागं  
पडियं पिच्छिहिंसि, तओ परं न तुह मह दंसणं होही ।’ तीएवि जंपियं—  
‘एयमवि होउ, जइ इक्कवारं कहेपि पलोएमि तणयवयणं ।’ तओ सा  
पेमिया नियसेण, तप्पभावेण य निमेसमित्तेण पाडलिपुत्तं पत्ता । उग्घाडि-  
ऊण वासभवणं पइट्ठा । तं च केरिसं ?

जलंतमणिदीवयं,	कणयकंतिसंदीवियं ।
मुपक्कफलपूरियं,	महमहंतकप्पूरियं ॥ १६ ॥
पफुल्लकुमुमुक्करं,	अगरधूवगंधुद्धुरं ।
अलंकरणसुंदरं,	पणसुगंधियाडंबरं ॥ १७ ॥

[ ३८ ] तं पलोइऊण पुब्बाणभूयरयकेलिसुमरणसंजायकुसुमसरविया-  
रपसरावि पिययमपासपसुत्तभइणीनिरूवणईसावसविवसा सवक्किजणणी-  
कयकूवपक्खेवसंभरणुब्भूयकोवरसा तणयवयणपलोयणसंभवंतप्पमोयरस-

भरा सा खणं ठाऊण धाइसयमज्झमुत्तपुत्तसगासं गया, तं कमलकोमल करेहि गहिऊण खणं रमावेऊण चउंद्दिसंपि नियारामफुल्लफलपगरं खिवे-ऊण पत्ता नियवासकूवं आरामसोहा ।

[ ३९ ] तओ पभायसमए धाईंहि विन्नतो राया—‘सामि ! अज्ज कुमारो पुप्फफलेहि केणावि पूइओ दीसइ । ’तं सुच्चा रायावि आगओ तस्सगासं । तं च तहा दट्ठूण पुच्छिया सा कूडआरामसोहा । सावि भणइ—‘मया, नियारामाओ समरिऊण समाणीयं पुप्फफलाइयं एयं ।’ तओ रण्णा वुत्तं—‘संपयं किं न आणेसि ?’ तीए वुत्तं—‘न वासरे आणेउं सक्किज्जइ ।’ तओ विलक्खवयणं तं पिक्खिउण रण्णा चितियं—‘अवस्समेस कोवि पवंचो ।’ एवं तिन्नि दिणा जाया । तओ सा रण्णा वुत्ता—‘अज्जवस्सं आराममाणेह ।’ तओ सा अच्चंतं विलक्खवयणा हुत्था, दंभो कइदिणे छज्जइ ?

[ ४० ] चउत्थजामिणीए आरामसोहा पुवंव सव्वं काऊण जाव नियत्ता, ताव भूवइणा करयलेण साहिय साहिया—‘हा पाणपिए ! पियं जणं पणयपरं किमेवं विप्पयारेसि ?’ तीए वुत्तं—‘पाणेसर ! न विप्पयारेमि, परमत्थि किंपि कारणं ।’ रण्णा भणियं—‘वागरेसु, अन्नहा न मित्थिस्सं ।’ सावि सप्पणयं विन्नवेइ—‘नाह ! मुंचसु मं, कल्ले उण अवस्सं कहिस्सं । तओ य राया वागरेइ—‘मुक्खोवि किं करयलचडियं चितारयणं मुंचइ ?’ तीए वि भणियं—‘एवं कुणमाणस्स तुज्जवि हविस्सइ पच्छातावो’, तहवि पृहवीसरो तं न मुंचइ । तओ तीए मूलाओ जणणीए दुव्विलसियं कहंतीए संवुत्तो अरुणुग्गमो ।

[ ४१ ] तम्मि समए केसकलावं विलूलियं संठवमाणीए पडिओ मओ नागो, तं पलोइय सा बाला विसायपिसायगहिउव्व झत्ति मुच्छानिमोलियच्छी छिन्नसाहूव्व महिवीडे पडिया । सीयलोवयारेहि पत्तचेयणा सा भणिया राइणा—‘पाणेसरि ! केण हेउणा अप्पाणयं विसायसायरे पक्खिवसि ?’ तओ सा भणइ—‘सामिय ! ताउव्व हियकारी एस नागकुमारसुरो, जो मज्झ सौंज्जं सया कुणमाणो आसि, तेण य मे पुरओ भणियं हुत्था—‘जइ मज्जाएसं विणारुणोदयं जाव अन्नत्थ चिट्ठिहिसि, तओ परं मज्झ ते दंसणं न भविस्सइ, केसपासाओ य मयभुयंगो पडिस्सइ, तओ नाह ! तुम्हं अविसज्जियाए महंवि संपयं तं वुत्तं ।’ तओ परं सावि तत्थेव ठिया ।

[ ४२ ] तबभइणि गोसे तोसेण रहिओ निविडबंधणोहि बंधिय जाव

राया कसाहि ताडिउं पउत्तो, ताव विन्नतो चलणेसु निवडिऊण सहाव-  
सरलाए आरामसोहाए—

जइ मइ उवरि पसायं करेसि ता सामि ! मुंच मे भइणि ।

करिय दयं हियदइयं एवं पुव्वं व पिक्खेसु ॥ १८ ॥

रायावि भणइ जइविहु एयाए देवि ! दुट्ठचित्ताए ।

ठावणयंपि न जुत्तं वयणं तुह तहवि दुल्लंघं ॥ १९ ॥

मोयाविया य तोए नियपासे ठाविया य भइणि त्ति ।

पच्चक्खं सज्जणदुज्जणाण परिपिच्छह विसेसं ॥ २० ॥

[ ४३ ] तओ पलयानलं व पज्जलंतेण राइणा नियपुरिसा हक्कारि-  
ऊण समाइट्ठा—रे रे दुवालस वि गामे हरिऊण अग्गिसम्मं माहणं तस्स  
माहणिं च कण्णनासऊडे छिदिऊण मज्झ देसाओ निववासेह, एयं रायवयणं  
वज्जग्गिफुल्लिगउग्गं सोऊण आरामसोहा भतुणो चलणेसु निवडिऊण  
विन्नवेइ—

जइ कहवि डसइ भसणो पुणो वि किं कोवि खाइ तं सुयणो ।

इय मुणिय नाह ! मुंचसु मह जणए करिय मइ पणयं ॥ २१ ॥

[ ४४ ] एवं देवीए भणिओ रायावि तच्चित्तखेयपणोयणत्थं तेसिं  
पुव्वं व गामे देइ, तओ तेसिं विसयसुहमणुहवंताणं सुहंसुहेण वच्चइ  
कालो ।

[ ४५ ] एगया परुप्परं धम्मवियारं कुणंताणं एरिसो संलावो संवुत्तो  
आरामसोहाए—‘पिययम ! पुव्विमहं दुविखया होऊण पच्छा सुहभायणं  
जाया, ता मन्ने कस्सवि कम्मस्स एस परिणामो । एयमत्थं च पुच्छामि  
जइ कोवि नाणी एइ ।’

[ ४६ ] एवं सलवतीए तोए उज्जाणपालओ आगंतूण पणामपुव्वं  
नरवरं विन्नवेइ—‘देव ! नंदणुज्जाणे करकलियमुत्ताहलमिव सयलभावे  
वियाणमाणो पंचसयसाहुपरियरिओ सिरिवीरचंदसूरी समोसरिओ ।’ तं  
सुणिय हरिसभरुभिन्नरोमंचो राया तस्स पीइदाणं दाऊण विसज्जेइ ।  
तओ रण्णा भणियं—‘पिए ! उट्ठेसु, संपुण्णो ते मणोरहो, जं अज्जेवागओ  
महप्पा ।’ तओ राया आरामसोहासहिओ सयललोयपरियरिओ य उज्जाणे  
गंतूण तिपयाहिणापुव्वं मुणिंदं पणमिय जहोच्चियट्ठाणे उवविट्ठो !  
भगवयावि पारद्धा देसणा—

अणोरपारे संसारे भमंतो वि जणो सया ।

पावाओ दुक्खारिछोलि लहंते धम्मओ सुहं ॥ २२ ॥



## ५. मुणिचंद-कहाणयं\*

[ भरहखेतं वियरतेहि दोहि वि (भद्-सयंभु) बलदेववासुदेवेहि दिट्ठो मुणिचंदो णाम अणगारो । तं च दट्ठूण (भद्) बलएवेण भणियं-भयवं ? पढमजोव्वणम्मि किं भोगपरिच्चोयकारणं ? तओ भयवया भणियं-सोम ? सुणसु संसारविलसियं । ति भणिऊण णियचरियं साहिउमाढत्तो । ]

[१] अत्थि जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे सोरियपुरं णाम णयरं । तत्थाहं दढवम्मणो पुत्तो गुणधम्मो णाम परिवसामि । गहियकलाकलावो य णवरइणो पुरजणस्स अच्चंतं मणाभिप्पेओ ।

अणया य 'वसन्तरसामिणो ईसाणचंदस्स धूयाए कणगमईए सयंवरो' त्ति सोऊण महया चडयरेणमहं गओ । पत्तो, आवासिओ बाहिरियाए । पविट्ठो य सयंवरामंडवे । अण्णे य बहवे रायउत्ता । तओ अहं रायधूयाए णिद्धाए दिट्ठीए ईसीसिवलन्तद्धच्छिपेसियच्छिच्छोहहियय-गयभावं पिसुणन्तीए पलोईओ । विण्णायं तं मए जहा-इच्छइ त्ति । तओ पच्चूसे सयंवरो भविस्सइ त्ति गओ णिययमावासं । अण्णे वि रायउत्ता सट्ठाणेसु गया । एत्थन्तरम्मि रयणीए पढमजामम्मि समागया एगा परिणयवया दासचेडीहिं परिवारिया इत्थिया । तीए समप्पिया चित्तवट्ठियाए लिहिया विज्जाहरदारिया । तीए य हेट्ठओ अहिप्पाय-सूयगा गाहा—

तुह पढमदंसणुप्पणपेम्मरसविणडियाए मुद्धाए ।

कह कह वि संठविज्जइ हिययं हियसव्वसाराए ॥१॥

[२] तओ तयणन्तरमेव उप्पियं तम्बोलं समालहणयं च कुसुमाणि य । सव्वं च गहियं सबहुमाणं कुमारेणं । दिण्णं च तीए कण्ठाहरणं परिओसियं । भणियं च तीए-कुमार ? भट्टिदारियाएसेणं किंचि वत्त-वमत्थि, ता विवित्तमादिसउ कुमारो । तओ कुमारेणं पासाइं पलोइयाइं, ओसरिओ परियणो । तओ भणिओ तीए-कुमार ! कुमारी विण्णवेइ जहा-इच्छिओ मए तुमं, किंतु जाव य मह कोइ समओ ण पुण्णो ताव य

\* पाठ-सम्पादन : डॉ० के० आर० चन्द्रा, मुणिचंदकहाणयं, अहमदाबाद,

१९७७ ।





[४] तओ मए चितियं-केण उण उवाएण इमीए अभिप्पाओ णज्जिही ? । एवं चितावरो रयणीए सुत्तो । दिट्ठो य रयणीय चरिम-जामम्मि सुविणो जहा—“गहियकुमुममाला एगा इत्थिया मह समीवे आगया । तीए आगंतूण भणियं जहा-गिण्ह एयं कुमुममालं बहूणि दिवसाणि तुह इमीए संकप्पियाए” त्ति । तओ अहं कुमुममालं गेण्हंतो चेव विउद्धो । कयं मए उच्चियकरणिज्जं । उवविट्ठो अत्थाइयामंडवे । चितियं च मए-संपणं समीहियं त्ति ।

[५] ताव व पडिहारेण जाणावियं जहा-देव ! एगो परिव्वायगो दारे चिट्ठति, भणइ य ‘अहं भइरवायरिएण पेसिओ रायपुत्तस्स दंसणणिमित्तं’ त्ति । एवमायणिकुण भणियं मए-लहुं पवेसय । तओ पडिहारेण पेसिओ । दिट्ठो य सो मए दीहचिविडणासो ईसीसिरत्तव-ट्टलोयणो थूलतिकोणुत्तिमंगो समुणमग्ग दीहदसणो लंबोयरो दीहसण्हजंघो सिराउलसंवालयसव्वावयवो । पणमिओ य सो मए । दाऊण आसीसं उवविट्ठो णियए कट्ठासणे । भणियं च तेण-रायउत्त ! भइरवायरिएण अहं पेसिओ तुम्ह समीवं । [मए भणियं—] काहिं पुण भगवन्तो चिट्ठन्ति ? । तेण भणियं—णयरस्स बाहिरियाए । मए भणियं-अम्हं ते दूरत्था वि हु गुरवो, ता सोहणं भयवंतेहिं अणुट्ठयं जमिहागय त्ति, वच्चह तुब्भे सुए दच्छामि । त्ति भणिकुण विसज्जिओ परिव्वायओ, गओ य ।

[६] वीयदिवसे पच्चूसे कयसयलकरणिज्जो गओ भइरवायरिय-दंसणत्थं उज्जाणं । दिट्ठो य वग्घकत्तीए उवविट्ठो भइरवायरिओ । अब्भुट्ठिओ य अहं तेणं । पडिओ य अहं चलणेसु । आसीसं दाऊण मियकर्त्ति दंसिकुण भणियं तेण जहा-उवविससु त्ति । मए भणियं-भयवं ! ण जुत्तमेवं अवरणरवतिसमानत्तणेण मं खलीकाउं, अवि य ण तुम्ह एस दोसो, एस इमीए एवंविहणरवइसयसेवियाए रायलच्छीए दोसो त्ति, जेण भयवन्तो वि सीसजणे ममम्मि णियआसणप्पयाणेणं एवं ववहरन्ति भयवं ! तुम्हे मज्झ दूरट्ठिया वि गुरवो, अहं पुण णिययपुरिसुत्तरीए उवविट्ठो । थेववेलाए भणिउमाढत्तो भयवं ! कयत्थो सो देसो णयरं गामं पएसो वा जत्थ तुम्हारिसा पसंणेणावि आगच्छन्ति किमंगपुण उदिदसिउं त्ति, ता अणुगहिओ अहं तुम्हागमणेणं । जडहारिणा भणियं-णिरीहा वि गुणसंदाणिया कुणति पक्खवायं भइयजणे, ता को ण तुम्ह गुणेहिं समाग-रिसिओ ? त्ति, अवि य तुम्हारिसाण वि समागयाणं णिकिचणो अम्हारिसो किं कुणउ ?, ण हु मया जम्मप्पभिति परिग्गहो कओ, दविणजाएण य

विणा ण लोगजत्ता संपज्जइ त्ति । एवमायण्णिऊण भणियं मए-भयवं !  
किं तुम्ह लोगजत्ताए पओयणं ? , तुम्हासीसाए चैव अत्थित्तं लोयस्स ।  
पुणो भणियं जडहारिणा-महाभाय !

गुरुयणपूया पेम्मं भत्ती सम्माणसंभवो विणओ ।  
दाणेण विणा ण हू णिव्वडंति सच्छम्मि वि जणम्मि ॥६॥

दाणं दविणेण विणा ण होइ, दविणं च धम्मरहियाणं ।  
धम्मो विणयविहूणाण, माणजुत्ताण विणओ वि ॥७॥

[ ७ ] एयमायण्णिऊण भणियं मए-भयवं ! एवमेवेयं, किंतु तुम्हा-  
रिसाणं अवलोयणं चैव दाणं, आएसो चैव सम्माणं, ता आइसंतु भयवन्तो  
किं मए कायव्वं ? ति । भणियं भइरवायरिएण-महाभाग ! तुम्हारिसाणं  
परोवयारकरणतल्लिच्छाणं अत्थिजणदंसणं मणोरहपूरणं ति, ता अत्थि मे  
बहूणि य दिवसाणि कयपुव्वसेवस्स मन्तस्स, तस्स सिद्धी तुमए आयत्ता,  
जइ एगदिवसं महाभागो समत्तक्खिपडिघायहेउत्तणं पडिवज्जइ तओ  
महं सफलो अट्टवरिसमंतजावपरिस्समो होइ त्ति । तओ मए भणियं-भयवं !  
अणुगहिओ इमिणाएसेणं ति, ता किं मए कहिं वा दिवसे कायव्वं ? ति  
आइसंतु भयवन्तो । तयणंतरमेव भणियं जडहारिणा जहा-महाभाग !  
इमीए किण्हचउद्दसीए तए मंडलग्गवावडकरेण णयरुत्तरबाहिरियाए  
एगागिणा मसाणदेसे जामिणीए समइक्कते जामे समागन्तव्वं ति, तत्थाहं  
तिहिं जणोहिं समेओ चिट्ठिस्सामि त्ति । तओ मए भणियं-एवं करेमि ।

[ ८ ] तओ अइक्कतेसु दिवसेसु समागया जामिणी चउद्दसीए । अत्थं-  
गयम्मि भुयणेक्कलोयणे दिणयरे उत्थरिए तिमिरप्पसरे मया विसज्जि-  
यासेससेवयेणं 'सिरो महं दुक्खइ' त्ति पेसिया वयंसया । तओ एगागी  
पविट्ठो सोवणयं । परिहिओ पट्टजुगस्स पट्टो ; गहियं मंडलग्गं । णिग्गओ  
णयराओ परिणयं वंचिऊण एगागी । दिट्ठो य मए भइरवायरिओ मसाण-  
भूमीए, अहं पि तेहिं । भणिओ य अहं जडहारिणा-महाभाग ! एत्थ  
भविस्सन्ति विभीसियाओ, ता तए इमे तिण्णि वि रक्खियव्वा अहं च,  
तुज्झ पुण जम्मप्पभिइं अविण्णायभयसख्वस्स किमुच्चइ ? त्ति, ता  
तुहाणुवेण करेमि अहं साहणं ति । तओ मए भणियं-भयवं ! वीसत्थो कुण,  
को तुह सीसवालं पि णामेउं समत्थो ! त्ति । एयमायण्णिऊण गहियं मडयं,  
जालिओ तस्स मुहे अग्गी ! पत्थुयं मंतजावपुव्वं होमं ।

[ ९ ] तओ आरडन्ति सिवाओ, किलिकिलन्ति वेयालगणा, हिडंति  
महाडाइणीओ, उट्टंति मत्ताविभीसियाओ, सरइ मन्तजावो, ण खुबभन्ति

तिणिण वि जणा । जाव य अहं उत्तरदिसाए गहियमंडलग्गो चिट्ठामि  
 ताव य बहिरंतो तिहुयणं पलयब्भरसियाणुकारी भरन्तो महिहरकुहराई  
 समुच्छलिओ भूमिणिहाओ । सहसा समासणमेव विहडियं धरणिमंडलं ।  
 समुट्ठिओ सीहणायं मुयन्तो कालमेहो व्व कालो कुडिलकसिणकेसो  
 पुरिसो । तस्स य सीहणाएणं पडिया ते तिणिण वि जणा दिसायाला ।  
 भणियं च तेणं—रे रे दिव्वंगणाकामुय ! सइवाथरियाहम ! ण विण्णाओ  
 अहं तए मेहणायाहिहाणो खेत्तपालो इहं परिवसंतो ? महं पूयमकाऊण  
 मंतसिद्धिं अहिलससि ? एसो संपयं चव ण होसि, एसो वि तुमए कियारिओ  
 रायउत्तो अणुहवउ सणीयस्स अविणयस्स फलं । तओ मए तं दट्ठूण  
 भणियं—रे रे पुरिसाहम ! किमेवं पलवसि ? जइ अत्थि ते पोखुसं ता किमेवं  
 पलविणं ? अहिमुहो समागच्छ जेण दंसेमि ते गज्जियस्स फलं ति, पुरि-  
 सस्स हि भुएमु वीरियं, ण सदददददरे त्ति । तओ एसो अमरिसिओ  
 वलिओ मज्झ सम्मुहं । अणाउहं च दट्ठूण मए समुज्झियं मंडलग्गं ।  
 संजमीकयं परिहणयं सह केसपासेणं । पयट्ठ दोण्ड वि बाहुजुद्धं । लग्गा  
 जुज्झउं विविहकरणंहि कत्तरिप्प-हारेहि । एवं च जुज्झंताणं मए पाडिओ  
 सो दुट्ठवाणमन्तरो । सत्तप्पहाणत्तणेण य वसोकओ । भणियं च तेण—  
 भो महापुरिस ! मुंचसु तुमं सिद्धो हं तुह इमीए महासत्तयाए, ता भण किं  
 तुह कीरइ ? त्ति, मए भणियं—जं एस जडहारी समीहइ तं तुमं कुणसु जइ  
 सिद्धो । तेण भणियं—एयस्स तुहावट्ठंभसिद्धमन्तस्स सइं चव सिद्धं सव्वं  
 तुह पुण किं कीरउ ? त्ति । मए भणियं—मज्झ एत्तिएण पओयणं जमेयस्स  
 सिद्धि त्ति, तथा वि जइ सा मम भज्जा कह वि वसत्तणं महं णिज्जउ त्ति ।  
 तेण उवओगं दाऊण भणियं—भविस्सइ सा तुहं कामरूवित्तणपसाएण तुमं  
 पुण मज्झाणुहावेण कामरूवी भविस्ससि । दाऊण वरं गओ वेयालो ।

[१०] इयरेण सिद्धमन्तेण भणियं—“महाभाग ! तुहाणुहावेण सिद्धो  
 मंतो, सम्पन्नं समोहियं, जाया दिव्वदिट्ठी, उल्लसियं अमाणुसोच्चियं  
 वीरियं, समुप्पण्णा अण्ण च्चिय देहप्पहा, ता किं भणामि तुमं ? को  
 सुविणे वि तुमं मोत्तूण अण्णो एवविहं मग्गं परोवयारेक्करसियं पडिवज्जइ ?  
 अहं तुम्ह गुणोहं उवकरणीकओ ण सक्कुणोमि भासिउं ‘गच्छामि’ त्ति  
 सकज्जणिट्ठुरया, ‘परोवयारतप्परो सि’ त्ति अत्थेणं चव दिट्ठस्स पुणरुत्तं,  
 ‘तुम्हायत्तं जीवियं’ त्ति ण गेहभावोच्चियं, ‘बंधवो सि’ त्ति दूरीकरणं  
 ‘णिक्कारणं परोवयारित्तणं’ त्ति अणुवाओ कयग्घालावेसु, ‘संभरणीओ अहं’  
 त्ति आणत्तियादाणं” । एवमादि भणिऊण गओ भइरवायरिओ सह तेहि  
 सीसेहि ।

[११] अहं पि पक्खालिऊण सरीरं पविट्ठो णिययमावासं । मुक्को पट्टसाडओ, ठिओ अत्थाइयामंडवे । गओ य कणगमतीभवणं । पयत्ता गोट्ठी । पढिया तीए पहेलिया । मए पढिया हियालिया—

जइ सिक्खविओ सीसो जईण रयणीए जुज्जइ ण गंतुं ।

त की (सो) स भणइ अज्जो ! मा कुप्पसु दो वि सरिसाइं ॥८॥

तीए भणियं—दिव्वणाणो खु सो । पुणो वि तीए पढिया हियालिया—

जइ सा सहीहिं भणिया दइओ ते दोसमगणसयण्हो ।

ता कीस मुद्धडमुही अहिययरं गव्वमुव्वहइ ? ॥९॥

मए भणियं-जेण वल्लह त्ति ।

[१२] तओ अहं उट्ठिऊण गओ णिययमावासं । कयमुच्चियकरणिज्जं । अत्थमिए भुवणेक्कपदीवे दिणयरं पेसिया वयंसया । गया जाममेत्तरयणी । गहियं मए मंडलगं । माणुसचक्खूण अगोयरीभूयं रूवं काऊण गओ कणगमईभवणं । सा य ठिया धवलहरोवरिभूमियाए, पासेसु दुवे दासचेईओ चिट्ठन्ति, बाहिं पि जामइल्लगा । वीयभूमियाए एगदेसे ठिओ अहं । ताव य तीए भणिया एगा जणी-हले ! कित्तिया रयणी ? । तीए भणियं-दुवे पहरा किंचण त्ति ।

[१३] तओ तीए मग्गिओ ण्हाणसाडओ । पक्खालियं अंगं, लूहिअं पट्टंसुएण । कओ अंगराओ । गहियं सविसेसमाभरणं । परिहियं पट्टसुयं । विउरुव्वियं विमाणं, आरूढाओ तिण्णि वि जणीओ । अहं पि एक्ककोणम्मि समारूढो । गयं च उत्तरदिसाहुत्तं मणो व्व सिग्घं विमाणं । ओइण्णं च सरतीराए णंदणवणस्स मज्झयारदेसे । तत्थ य असोगवीहियाए हेट्ठो दिट्ठो मए विज्जाहरो । कणगमती य णीसरिऊण विमाणाओ गया तस्स समीवं, पणमिओ य । तेण भणियं उवविससु । थेववेलाए य अवराओ वि तिण्णि जणीओ तहेव समागयाओ । ताओ वि पणमिऊण तयणुमतीए उवविट्ठाओ । थेववेलाए य अण्णे वि आगया तत्थ विज्जाहरा । तेहिं च समागंतूण, पुव्वत्तरदिसाभाए भगवओ उसहसामिगा चेइयहरं तत्थ गंतूण पुव्वं कयं उवलेवण-सम्मज्जणाइयं । गओ सो विज्जाहरो तत्थ । ताओ वि चत्तारिं जणीओ गंतूण य तत्थ कीए वि वीणा, अण्णाए वेणू गहिओ, अवराए आढत्तं कायलीपहाणं गेयं । एवं च विहीए कयं भुवणगुरुणो मज्जणयं । विलित्तो गोसीसचंदणेण । आरोवियाणि कुसुमाणि । उग्गाहिओ धूओ । पयट्ठियं गट्टं । विज्जाहरेण भणियं-अज्ज कीए वारओ ? । तओ उट्ठिया

कणगमती, समारद्धा णच्चिउं । णच्चन्तोए अ इमीए एगा किंकिणी सगुणा तुट्टिऊण गया । गहिया सा मए, सं गोविया य गविट्ठा य तेहिं साऽऽवरेण णोवलद्ध त्ति । उवसंघरियं च णट्टं । विसज्जियाओ तेण गयाओ नियेसु ठाणेसु दिक्करियाओ । कणगमई वि समारूढा विमाणं सह दासचेडीहिं । अहं पि तहेव समारूढो । समागयं कणगमईभवनं विमाणं ।

[१४] णिगंगंतूण अहं गओ णिययभवनं । अलक्खिओ चेव पविट्ठो निपयभवनं । जामसेसाए रयणीए पमुत्तो । उट्ठिओ य समुट्ठिए सूरिए । कयमुचियकरिणज्जं । समागओ य मतिपुत्तो मह मित्तो मइसागराहिहाणो । तस्स मए समप्पिया किंकिणी । भणिओ य सो मए जहा-कणगमतीए मह समोवगतस्स उप्पेज्जसु भणेज्जसु य 'पडिया एसा मए लद्ध' त्ति । तेण भणियं-एवं करेमि त्ति ।

[१५] गओ अहं कणगमतीगेहं । दिट्ठा सा मए । उवविट्ठो दिण्णासणे । उवविट्ठा य सा मह समीवे पट्टमसूरियाए । पत्थुयं सारीहिं जूयं । जिओ अहं । मग्गियं कणगमतीए गहणयं । समप्पिया किंकिणी मइसागरेण । पच्चभिण्णाया य सा इमीए । भणियं च तीए-कहिं एसा लद्ध ? त्ति । मए भणियं-किं कज्जं ? । तीए भणियं-एवमेव । मए भणियं-जइ कज्जं ता गेण्हसु अम्हेहिं पडिया एसा लद्ध त्ति । तीए भणियं कहिं पएसे लद्ध ? त्ति । मए भणियं-कहिं तुह पडिया ? । तीए भणियं-ण याणामि । मए भणियं-एसो मइसागरो णेमिस्सिओ सव्वं भूयं भव्वं च जाणइ त्ति, इमं पुच्छ जत्थ पडिय त्ति, एसो चेव साहिस्सइ त्ति । पुच्छिओ कणगमतीए मइसागरो । तेण वि य महाहिप्पायं णाऊण भणियं-सूवे निवेयइस्सामि त्ति तीए भणियं-एवं त्ति । गओ य अहं तीए सह पासएहिं खेल्लिउं निययावासं ।

[१६] तओ अत्थमिए सूरिए गयाए जाममेत्ताए रयणीए तहेवाहं एगागी गओ कणगमतीए भवनं । दिट्ठा तहेव सा मए । पुणो वि तीए तहेव पुच्छिऊण रयणिं विउरुव्वयं विमाणं । समारूढाओ य तिण्णि वि जणीओ तत्थ । अहं पि तहेव । पत्ताणि तमुद्देसं । पुव्वकमेणेव ण्हवणाणंतरं समारद्धो णट्टविही । वीणं वायंतीए य कणगमतीए पडियं चलणाओ णेउरं । गहियं च मए । गच्छंतीए पलोइयं, णोवलद्धं त्ति । पुणरवि समागया विमाणेण णिययभवनं ।

[१७] अहं पि पत्तो जामसेसमेत्ताए रयणीए णिययभवनं । सुत्तो उट्ठिओ य ण य केणइ उवलक्खिओ । विउद्धो य पहाए । समागओ मइसागरो । समप्पियं तस्स णेउरं । सिक्खविऊण लहं चेव गओ अहं सह तेण वयं सएणं

कणगमतीभवणं । अब्भुट्टिओ य कणगमतीए, दिण्णमासणं, उवविट्ठो अहं । उवविट्ठा य सा मह समीवे । पत्थुया गोट्टी गूढचउत्थएहि । पढियं च तीए—  
खरपवणाहयकुवलयदलतरलंजीवियं च पेम्मं च ।

जीयाण जोव्वणं धणसिरी य.

मए भणियं—

धम्मं दयं कुणह ॥१०॥

[१८] तयणंतरं कणगमतीए किंकिणीलाभसंकियाए पुच्छियं मइसागर-  
मुट्टिसिऊण जहा-पलोइयं जोइसं भवया ? । तेण भणियं-पलोइयं, अण्णं  
पि तुह किं पि णट्टं । तीए भणियं किं तयं ? । तेण भणियं—किं तुमं ण  
याणसि ? तीए भणियं—जाणामि अहं जहा णट्टं किंतु उद्देसेणं ण याणामि  
जत्थ णट्टं ति तुमं पुण जाणसु 'किं तयं ? कहिं च णट्टं ?' ति । मए  
भणियं-मज्झ अण्णेण साहियं जहा-दूरभूमीए णेउरं चलणाओ कणगमतीए  
पडियं, तं च जेण गहियं सो मए जाणिओ ण केवलं जाणिओ तस्स हत्थाओ  
मए गहियं । तओ कणगमई किंकिणीवुत्तंतेणेव खुद्धा आसि संपयमणेण  
वुत्तंतेण सुट्ठुसमाउलीहूया जहा-अहं जाणिया अण्णत्थ वच्चन्ती, ता ण  
याणामि 'किं पडिवज्जिस्सं ?' को वा एस वुत्तंतो ?, किमयं सच्चं चैव  
णेमित्तिओ ?, अहवा जइ णेमिस्सिओ तो केवलं जं णट्टं तमेव जाणउ, कहां  
पुण मज्झ तत्थ णट्ठं अयं इहट्ठिओ चैव जाणइ पावेइ य ?, ता भवियव्व-  
मेत्थ केण वि कारणेण, अयं च इमेसु दिणेसु लहं चैव मह गेहे समागच्छइ  
णिहासेसकसायलोयणो य, ता केण वि पओएणं अयमेव मह भत्ता तत्थ  
गच्छइ ति मह आसंक ति । एवं च चित्तिऊण भणियं कणग-मतीए-कहिं  
पुणं तं णेउरं जं तुम्हेहि जोइसबलेण संपत्तं ? ति । तओ मह मुहं पलोइऊण  
मइसागरेण कडिडऊण समप्पियं । गहियं च कणगमईए । कणगमतीए  
भणियं-कहिं पुण तुम्हेहि एयं पावियं ? ति । मए भणियं-कहिं पुण एयं  
णट्ठं ? ति । तीए भणियं-जहा इमं मह णट्टं तहा सइं चैव अज्जउत्तेण दिट्ठं  
ति । मए भणियं-मज्झअण्णेण साहियं, अहं पुण अमुणियपरमत्थो ण याणामि  
जं जहावुत्तं ति । तीए भणियं-किमणेणं णट्ठवयणेणं ?, किं बहुणा ?,  
सोहणमेयं जइ सइं चैव अज्जउत्तेण दिट्ठं, अहमण्णेण केणावि साहियं तओ  
ण सोहणं ति, जओ जलणपवेसेणावि मह णत्थि सोहि ति । मए भणियं-  
किमेत्थ जलणप्पवेसेणं ? । तीए भणियं-सधमेव विण्णाही अज्जउत्तो, जहा  
एत्तियं विण्णायं तहा सेसं पि जाणिस्सइ ति । एवं भणिऊण सखेया चित्ता-  
उराय वामकरयलम्मि मत्थं णिमेऊण ठिया । तओ अहं थेववेल्मच्छिऊण  
काऊण य सामण्णकहाओ मइसागरेण सद्धिं हसावेऊण य अण्णकहालावेण  
कणगमईं गओ णिययमावासं ति ।

[१९] पुणो पुव्वक्कमेण य जाममेत्ताए रयणीए गओ कणगमतीए गेहं ति । दिट्ठा कणगमती सह दासचेडीहिं विमणा किं पि किं पि अफुडक्खरं मन्तयन्ती । उवविट्ठो य अहं ते ? (ता) सिं समीवे अणुवलक्खओ । तओ थेववेलाए भणियंमेणीए दासचेडीए जहा सामिणि ! कीरउ गम्मारंभो, अइक्कमइ वेला रूसिही सो विज्जाहराहिवती । तओ दीहं णीससिऊण भणियं कणगमतीए जहा—“हला ! किं करेमि ?, मंदाभाइणी अहं तेण विज्जाहरणरिन्देण कुमारभावम्मि णेऊण समयं माहिया जहा—जाव तुमं मए णाणुण्णाया ताव तए पुरिसो णाहिल सणीओ । पडिवण्णं च तं मए । जणयाणुरोहेण विवाहो वि अणुमण्णिओ । अणुमया य पिययमस्स । अहं पि गुणरूवाखित्तहियया तप्परायणा जाया । जाणिओ य विज्जाहरवइयरो मह भत्तुणा । ता ण जाणामि ‘किं पज्जवसाणमेयं भविस्सइ ?’ ति सासकं मह हियं । किं वा एस मह दइओ तम्मि विज्जाहरकोवजलणंम्मि पयं गत्तणं पडिवज्जिस्सइ ? ति, उवाउ सो मं चेव वावाइस्सइ ? किं वा अण्णं किं पि भविस्सइ । ति । सव्वहा समाउलीहूया इमेणं देहेणं ण याणामि ‘किं करेमि ?’, दुट्ठो विज्जाहरो णियवलज्जत्तो य । दढमणुरत्तो य भत्तारो ण छड्डेइ अणुबंधं, गरुओ जोव्वणारंभो बहुपच्चवाओ य गरुयाइं जणयसमुरघराइं, विसमो लोओ, अइकुडिला कज्जगई, ता एयाए चिंताए दढं समाउलीहूय म्हि” । पुणो तमायण्णिऊण भणियं दासचेडीए-जइ एवं ता अहं चेव तत्थ गच्छामि, साहिस्सामि य जहा-सिरं दुक्खइ ति तओ जाणिस्सामो ‘किं सो पडिवज्जिस्सइ ?’ ति कणगमईए सुइरं चिन्तिऊण भणियं एवं होउ ति ।

[२०] तयणंतरमेव कणगमतीए विउरुव्वियं विमाणं । मए चितियं-सोहणं कयमिमीए जं ण गय ति, अहमेव तत्थ गंतूण अवणेमि विज्जाहरणरिन्दत्तणं, केडेमि पेक्खणयसद्धं दूरीकरेमि जियलोयं । ति चितयंतो सह तीए दासचेडीए आरूढो विमाणेक्कदेसे । गयं तहेव तं विमाणं तमुद्देसं ।

[२१] जाव य उसहसामिणो ण्हवणं काऊण णट्टं समारद्धं ताव य सा दासचेडी संपत्ता तमुद्देसं । णीसरिऊण विमाणाओ उवविट्ठा एगदेसम्मि । पुच्छिया य अवरेणं विज्जाहरेणं-किमूसूरे तुमं समागया ? कहिं च कणगमइ ? ति । तओ तीए भणियं-ण सोहणं सरीरं कणगमईए तओ अहं पेसिय ति । तं सोऊण भणियं विज्जाहरणरिन्देणतुब्भे करेह पेक्खणयं अहं तीए सोहणं सरीरं करिस्सामि । [ ति ] जंपिए संखुद्धा चेडी । सज्जिओ मए परियरो, सणाहीकयं च खग्गरयणं । ताव य उवसंहारिओ

णट्टुविही । णीसरिओ देवहरयाओ विज्जाहरो । गहिया चेडी केसपासम्मि,  
 भणियं च तेण-रे दुट्ठचेडि ! पढमं तुह च्चैव रहिरप्पवाहेण मह कोहग्गिणो  
 होउ णिव्ववणं, पच्छा जहोच्चियं करेस्सामि तुह सामिसालीए । तं  
 चाऽऽयण्णिऊण भणियं चेडीए-तुम्हारिसेहि सह संगमो एवविहवइयराव-  
 साणो, त्ति ता कुणसु जं तुज्झ अणुसरिसं, एयं अम्हेहि पुव्वमेव संकप्पियं  
 त्ति, ण एत्थ अच्छरियं । तयणंतरं च ददयं कुविणं भणियं विज्जाहरेण-  
 किमेवं पलवसि उम्मत्ता इव ?, संभरसु इट्टुदेवयं, गच्छसु वा सरणं त्ति  
 तओ भणियं चेडीए—

एसो च्चिय सुर-विज्जाहरीणर-तिरियवच्छलो भयवं ।

उसहो तेलोक्कगुरु सरणागयवच्छलो सरिओ ॥११॥





## ६. सिरिकुम्मापुत्तचरिअं\*

नमिऊण वद्धमाणं असुरिदसुरिदपणयपयकमलं ।  
 कुम्मापुत्तचरित्तं वोच्छामि अहं समासेणं ॥ १ ॥  
 रायगिहे वरनयरे नयरेहापत्तसयलपुरिसवरे ।  
 गुणसिलए गुणनिलए समोसढो वद्धमाणजिणो ॥ २ ॥  
 देवेहि समोसरणं विहिअं बहुपावकम्मओसरणं ।  
 मणिकणयययसारप्पायारपहापरिप्फुरिअं ॥ ३ ॥  
 तत्थ निविट्ठो वीरो कणयसरोरो समुद्दगंभीरो ।  
 दाणाइचउपयारं कहेइ धम्मं परमरम्मं ॥ ४ ॥  
 दाणतवसीलभावणभेएहि चउव्विहो हवइ धम्मो ।  
 सव्वेसु तेसु भावो महप्पभावो मुणोयव्वो ॥ ५ ॥  
 भावो भवुदहितरणी भावो सग्गापवग्गपुरसरणी ।  
 भवियाणं मणच्चित्तिअअच्चित्तचित्तामणी भावो ॥ ६ ॥  
 भावेण कुम्मपुत्तो अवगयतत्तो य अगहियचरित्तो ।  
 गिहवासे वि वसंतो संपत्तो केवलं नाणं ॥ ७ ॥  
 गोयम जं मे पुच्छसि कुम्मापुत्तस्स चरिअमच्छरिअं ।  
 एग्गमणो होउं समग्गमवि तं निसामेसु ॥ ८ ॥  
 जंबुद्दीवे दीवे भारहखित्तस्स मज्झयारंमि ।  
 दुग्गमपुराभिहाणं जग्गप्पहाणं पुरं अत्थि ॥ ९ ॥  
 तत्थ य दोगनरिदो पयावलच्छीइ निज्जिअदिग्गिदो ।  
 णिच्चं अरियणवज्जं पालइ निवकंटयं रज्जं ॥ १० ॥  
 तस्स नरिदस्स दुमा नामेणं पट्टराणिआ अत्थि ।  
 संकरदेवस्स उमा रमा जहा वासुदेवस्स ॥ ११ ॥  
 दुल्लभणामकुमारो सुकुमारो रम्मरूवजियमारो ।  
 तेसि सुओत्थि गुणमणिभंडारो बहुजणाधारो ॥ १२ ॥

\* पाठ-सम्पादन—प्र० के० वी० अभयंकर, कुम्मापुत्तचरियं, अहमदाबाद,  
 १९३३ ।

सो कुमरो नियजुव्वणराजमएणं परे बहुकुमारे ।  
 कंदुकमिव गयणतले उच्छालितो सया रमइ ॥१३॥  
 अण्णदिणे तस्स पुरस्सुज्जाणे दुग्गिलाभिहाणम्मि ।  
 सुगुरु सुलोयणणामा समोसढो केवली एगो ॥१४॥  
 तत्थुज्जाणे जक्खणि भद्दुम्ही नाम निवसए निच्चं ।  
 बहुसालवखवडदुद्धुमअहिठिअभवणंमि कयवासा ॥१५॥  
 केवलकमलाकलियं संसयहरणं सुलोअणं सुगुरुं ।  
 पणमिय भत्तिभरेणं पुच्छइ सा जक्खणी एवं ॥१६॥  
 भयवं पुव्वभवे हं माणवई नाम माणवी आसी ।  
 पाणपिथा परिभुग्गा सुवेलवेलंधरसुरस्स ॥१७॥  
 आउखए इत्थ वणे भद्दुम्ही नाम जक्खणी जाया ।  
 भत्ता पुण मम कं गइमुववन्नो णाह आइससु ॥१८॥

तओ सुलोयणो नाम केवली महुरवाणीए भणइ—

भदे निसुणसु नयरे इत्थेव दोणनरवइस्स सुओ ।  
 उप्पन्नो तुज्ज पिओ सुदुल्लहो दुल्लहो नाम ॥१९॥  
 तं निसुणिअ भद्दुम्ही नाम जक्खणी हिट्ठा ।  
 माणवईरूवधरा कुमरसमीवम्मि संपत्ता ॥२०॥  
 दट्ठूण तं कुमारं बहुकुमरुच्छालणिककतल्लिच्छं ।  
 सा जंपइ हसिऊणं किमिणेणं रंकरमणेणं ॥२१॥  
 जइ ताव तुज्ज चित्तं विचित्तचित्तमि चंचलं होइ ।  
 ता मउज्जं अणुधावसु वयणमिणं सुणिअ सो कुमरो ॥२२॥  
 तं कण्णं अणुधावइ तव्वअणकुऊहलाकुलिअचित्तो ।  
 तप्पुरओ धावती सा वि हु तं निअवणं नेइ ॥२३॥  
 बहुसालवडस्स अहेपहेण पायालमज्जमाणीओ ।  
 सो पासइ कणगमयं सुरभवणमईव रमणिज्जं ॥२४॥

तं च केरिसं—

रयणमयखंभपंतीकंतीभरभरिअभित्तरपएसं ।  
 मणिमयतोरणधोरणितरुणपहाकिरणकब्बुरिअं ॥२५॥  
 मणिमयखंभअहिट्ठिअपुत्तलिअकेलिखोभिअजणोहं ।  
 बहुभत्तिचित्तचित्तिअगवक्खसंदोहकयसोहं ॥२६॥

एयमवलोइऊणं सुरभवणं भुवणचित्तचुञ्जकरं ।  
 अइविम्हयमावन्नो कुमरो इअ चित्तिउं लग्गो ॥२७॥  
 किं इंदजालमेअं एअं सुमिणम्मि दीसए अहवा ।  
 अहंय नियनयराओ इह भवणे केण आणीओ ॥२८॥  
 इय संदेहाकुलिअं कुमरं विनिवेसिऊण पल्लंके ।  
 विन्नवइ वंतरवहू सामिअ वयणं निसामेसु ॥२९॥  
 अञ्ज मए अञ्जुमए चिरेण कालेण नाह दिट्ठो सि ।  
 सुरभिवणे सुरभवणे निअकज्जे आणिओ सि तुमं ॥३०॥  
 अज्जं चिअ मज्ज मगोमगोरहो कप्पपायवो फलिओ ।  
 जं सुकयसुकयवसओ अज्ज तुमं मज्ज मिलिआसि ॥३१॥  
 इअ वयणं सोऊणं वयणं दट्ठण सुनयणं तीसे ।  
 पुव्वभवस्स सिणेहो तस्स मणम्मो समुल्लसिओ ॥३२॥  
 कत्थ वि एसा दिट्ठा पुव्वभवे परिचिआ य एअस्स ।  
 इय ऊहापोहवसा जाईसरणं समुप्पणं ॥३३॥  
 जाइसरणेण तेणं नाऊणं पुव्वजम्मवुत्तंतो ।  
 कहिओ कुमरेणं निअपियाइ पुरओ समग्गो वि ॥३४॥  
 तत्तो नियसत्तीए असुभाणं पुगलाण अवहरणं ।  
 सुभपुग्गल्पक्खेवं करिअ सुरी तस्सरीरम्मि ॥३५॥  
 पुव्वभवंतरभज्जा लज्जाइ विमुत्तु भुंजए भोगे ।  
 एवं विसयसुहाइं दुन्नि वि विलसंति तत्थ ठिया ॥३६॥  
 अह तस्सम्मापियरो पुत्तविअंगेण दुक्खिआ निच्चं ।  
 सव्वत्थ वि सोहंति अ लहंति न हि सुद्धिमत्तं पि ॥३७॥  
 देवेहि अवहरिअं नरेहि पाविज्जए कहं वत्थु ।  
 जेण नराण सुराणं सत्तीए अंतरं गरुअं ॥३८॥  
 अह तेहि दुक्खिएहि अम्मापियरेहि केवली पुट्ठो ।  
 भयवं कहेह अमहं सो पुत्तो अत्थि कत्थ गओ ॥३९॥  
 तो केवली पयंपइ सुणेह सवणेहि सावहाणमणा ।  
 तुम्हाणं सो पुत्तो अवहरिओ वंतरीए अ ॥४०॥  
 ते केवलिवयणेणं अईव अच्छरिअविम्हआ जाया ।  
 साहंति कहं देवा अपवित्तनरं अवहरंति ॥४१॥

यदुक्तमागमे—

चत्तारि पंच जोयणसयाई गंधो अ मणुयलोगस्स ।  
उड्ढं वच्चइ जेणं न हू देवा तेण आयंति ॥४२॥  
पंचसु जिणकल्लाणेसु चेव महूरिसितवाणुभावाओ ।  
जम्मंतरनेहेण य आगच्छंति हू सुरा इहयं ॥४३॥  
तउ केवल्लिणा कहिअं तीसे जम्मंतरसिणेहाइ ।  
ते बिंति तओ सामिय अइबलिओ कम्मपरिणामो ॥४४॥  
भयवं कया वि होही अम्हाण कुमारसंगमो कह वि ।  
तेणुत्तं होही पुण जयेह वयमागमिस्सामो ॥४५॥  
इअ संबंधं सुणिउं संविग्गा कुमरमायपियरो य ।  
लहुपुत्त ठविअ रज्जे तयंतिए चरणमावन्ना ॥४६॥  
दुक्करतवचरणपरा परायणा दोसवज्जियाहारे ।  
निस्संगरंगचित्ता तिगुत्तिगुत्ता य विहरंति ॥४७॥  
अन्नदिणे गामाणुग्गामं विहरंतओ अ सो नाणी ।  
तत्थेव दुग्गिलवणे समोसढो तेहि संजुत्तो ॥४८॥  
अह जक्खणी अवहिणा कुमरस्साउं विआणिउं थोवं ।  
तं केवल्लिणं पुच्छइ कयंजली भत्तिसंजुत्ता ॥४९॥  
भयवं जावियमप्यं कहमवि तीरिज्जएभिवड्डेउं ।  
तो कहइ केवली सो केवलकलिअत्थवित्थारो ॥५०॥  
तित्थयरा य गणधरा चक्कधरा सबलवासुदेवा य ।  
अइबलिणो वि न सक्का काउं आउस्स संधाणं ॥५१॥  
जंबुदुदीवं छत्तं मेहं दंडं पहू करेउं जे ।  
देवा वि ते न सक्का काउं आउस्स संधाणं ॥५२॥

यदुक्तम्—

नो विद्या न च भेषजं न च पिता नो बान्धवा नो सुताः,  
नाभीष्टा कुलदेवता न जननी स्नेहानुबन्धान्विता ।  
नार्थो न स्वजनो न वा परिजनः शारीरिकं नो बलं,  
नो शक्ताः सततं सुरासुरवराः संधातुमायुः क्षमाः ॥५३॥  
इअ केवल्लिवयणाइ सुणिउं अमरी विसण्णचित्ता सा ।  
निअभवणं संपत्ता पणट्टुसव्वस्ससत्थ व्व ॥५४॥

दिट्ठा सा कुमरेणं पुट्टा य सुकोमलेहिं वयणेहिं ।  
 सामिणि मणे विसण्णा अज्ज तुमं हेउणा केणं ॥५५॥  
 किं केण वि दूहविआ किं वा केण वि न मन्निआ आणा ।  
 किं वा मह अवरारहेण कुप्पसन्ना तुमं जाया ॥५६॥  
 सा किंचि वि अकहंती मणे वहंती महाविसायभरं ।  
 निब्बंघे पुण पुट्टा वुत्तंतं साहए सयलं ॥५७॥  
 सामिय मए अवहिणा तुह जीवियमप्पमेव नाऊणं ।  
 आउसरुवं केवलपासे पुट्टं च कहिअं च ॥५८॥  
 एएण कारणेणं नाह अहं दुक्खसल्लियसरीरा ।  
 विहिविलसिअम्मि बंके कहं सहिस्सामि तुह विरहं ॥५९॥  
 कुमरो जंपइ जक्खणि खेअं मा कुणसु हिअअमज्झम्मि ।  
 जलंबिदुच्चंचले जीविअम्मि को मच्चइ थिरत्तं ॥६०॥  
 जइ मज्झुवरि सिणेहं धरेसि ता केवलिस्स पासम्मि ।  
 पाणपिए मं मुंचसु करेमि जेणप्पणो कज्जं ॥६१॥  
 तो तीइ ससत्तीए केवलपासम्मि पाविओ कुमरो ।  
 अभिबंदिअ केवलिनं जहारिहट्ठाणमासीणो ॥६२॥  
 पुत्तस्स सिणेहेणं चिरेण अवलोइऊण तं कुमरं ।  
 अह रोइउं पवत्ता तथ्य टिआ मायतायमुणी ॥६३॥  
 कुमरो वि अयाणंतो केवलिणा समहिअं समाइट्ठो ।  
 वंदसु कुमार मायातायमुणी इह समासीणा ॥६४॥  
 सो पुच्छइ केवलिनं पहु कहमेसि वयग्गहो जाओ ।  
 तेण वि पुत्तविओगाइकारणं तस्स वज्जरिअं ॥६५॥  
 इअ सुणिअ सो कुमारो मोरो जह जलधरं पलोएउं ।  
 जह य चकोरो चंदं जह चक्को चंडभाणुं व ॥६६॥  
 जह वच्छो निअसुरभिं सुरभिं सुरभिं जहेव कलकण्ठो ।  
 संजाओ संतुट्ठो हरिससमुल्लसिअरोमंचो ॥६७॥  
 इअनियमायतायमुणिणं कंठम्मि विलग्गिऊण रोयंतो ।  
 नियदिइ जक्खणीए निवारिओ महुरवयणेहिं ॥६८॥  
 निअवत्थअंचलेणं कुमारनयणाणि अंसुभरियाणि ।  
 सा जक्खणी विलूहइ अहो महामोहदुल्ललिअं ॥६९॥

निअमायतायदंसणसमुल्लसंतप्पमोअभरभरिअं ।  
 केवलनाणिसगासे अमरी विणिवेसए कुमरं ॥७०॥  
 अह केवली वि सव्वेसि तेसिमुवगारकारणं कुणइ ।  
 धम्मस्स देसणं समयेऽमयरसंसारणीसरिसं ॥७१॥  
 जो भविओ मणुअभवं लहिउं घम्मप्पमायमायरइ ।  
 सो लद्धं चिंतामणिरयणं रयणायरे गमइ ॥७२॥  
 एगम्मि नयरपवरे अत्थि कलाकुसलवाणिओ को वि ।  
 रयणपरिक्खागंथं गुरुण पासम्मि अब्भसइ ॥७३॥  
 सोगंधियकक्केयणमरगयगोमेयइंदनीलाणं ।  
 जलकंतसूरकंतयमसारगल्लंकफलिहाणं ॥७४॥  
 इच्चाइयरयणाणं लक्खणगुणवण्णनामगुत्ताइं ।  
 सब्वाणि सो विआणइ विअक्खणो मणिपरिक्खाए ॥७५॥  
 अह अन्नया विंचितइ सो वणिओ किमवरेहि रयणेहिं ।  
 चिंतामणी मणीणं सिरोमणी चिंतिअत्थकरो ॥७६॥  
 तत्तो सो तस्स कए खणेइ खाणीओ नेगठाणेसुं ।  
 तह वि न पत्तो स मणी विचिहेहि उवायकरणेहिं ॥७७॥  
 केण वि भणिअं वच्चसु वहणे चडिऊण रयणदी ।  
 तत्थत्थि आसपूरी देवी तुह वंछियं दाही ॥७८॥  
 सो तत्थ रयणदीवे संपत्तो इक्कवीसखवणेहिं ।  
 आराहइ तं देवि संतुठ्ठा सा इमं भणइ ॥७९॥  
 भो भदद केण कज्जेण अज्ज आराहिआ तए अहयं ।  
 सो भणइ देवि चिंतामणीकए उज्जमो एसो ॥८०॥  
 देवी भणेइ भो भो नत्थि तुहं कम्ममेव सम्मकरं ।  
 जेणप्पंति सुरा वि अ धणाणि कम्माणुसारेणं ॥८१॥  
 सं भणइ जइ मह कम्मं हवेइ तो तुज्ज कीस सेवामि ।  
 तं मज्ज देसु रयणं पच्छा जं होउ तं होउ ॥८२॥  
 दत्तं चितारयणं तो तीए तस्स रयणवणिअस्स ।  
 सो निअगिहामणत्थं संतुठ्ठो वाहणे चडिओ ॥८३॥  
 पोअपएसनिविट्ठो वणिओ जा जलहिमज्झमायाओ ।  
 ताव य पुव्वदिसाए समुग्गओ पुण्णिमाचंदो ॥८४॥

तं चंद्रं दठ्ठुणं निअचित्ते चित्ते स वाणियओ ।  
 चित्तामणिसस तेअं अहिअं अह वा मयंकस्स ॥८५॥  
 इअ चित्तिऊण चित्तारयणं निअकरतले गहेऊणं ।  
 नियदिठ्ठीइ निरक्खइ पुणो पुणो रयणमिदं य ॥८६॥  
 इअ अवलोअंतस्स य तस्स अभग्गेण करतलपएसा ।  
 अइसुकुमालमुरालं रयणं रयणायरे पडिअं ॥८७॥  
 जलनिहिमज्जे पडिओ बहु बहु सोहंतएण तेणावि ।  
 कि कह वि लब्भइ मणी सिरोमणी सयलरयणाणं ॥८८॥  
 तह मणुअत्तं बहुविहभवभमणसएहि कहकह वि लद्धं ।  
 खणमित्तेणं हारइ पमायभरपरवसा जीवो ॥८९॥  
 ते धन्ना कयपुत्ता जे जिणधम्मं धरंति निअहियए ।  
 तेसि चिअ मणुअत्तं सहलं सलहिज्जे लोए ॥९०॥  
 इअ देसणं सुणेउं सम्मत्तं जक्खिणीइ पडिवन्नं ।  
 कुमरेण य चारित्तं गुरुयं गुरुयंतिए गहिअं ॥९१॥  
 थेराणं पयमूले चउदसपुव्वीमहिज्जइ कुमारो ।  
 दुक्करतवचरणपरो विहरइ अम्मापिऊहि समं ॥९२॥  
 कुमरो अम्मापियरो तिन्नि वि ते पालिऊण चारित्तं ।  
 महसुक्के सुरलोए अवइत्ता मंदिरविमाणे ॥९३॥  
 सा जक्खिणी वि चइउं वेसालीए अ भमरभूवइणो ।  
 भज्जा जाया कमला नामेणं सच्चसीलधरा ॥९४॥  
 भमरनरिंदो कमलादेवी य दुवे वि गहियजिणध ।  
 अंतसुहज्जवसाया तत्थेव य सुरवरा जाया ॥९५॥

इतश्च—

रायगिहं वरनयरं वरनयरंगंतमंदिरं अत्थि ।  
 धणधन्नाइसमिद्धं सुपसिद्धं सयललोगम्मि ॥९६॥  
 तत्थ य महिदसिंहो राया सिहु व्व अरिकरिविणासे ।  
 नामेण जस्स समरंगणम्मि भज्जइ सुहडकोडी ॥९७॥  
 तस्स य कुम्मादेवी देवी विअ रूवसंपया अत्थि ।  
 विणयविवेगवियारप्पमुहुणाभरणपरिकलिया ॥९८॥

विसयसुहं भुंजंताण ताण सुवखेण वच्चए कालो ।  
 जह अ सुरिदसईणं अह वा जह वम्महरईणं ॥९९॥  
 अन्नदिणे सां देवी निअसयणिज्जम्मि सुत्तजागरिआ ।  
 सुरभवणं मणहरणं पिच्छइ सुमिणम्मि अच्छरिअं ॥१००॥  
 जाए पभायसमए सयणिज्जा उट्ठिऊण सा देवी ।  
 रायसमीवं पत्ता जंपइ महुराहि वग्गूहि ॥१०१॥  
 अज्ज अहं सुरभवणं सुमिणम्मी पासिऊण पडिबुद्धा ।  
 एअस्स सुमिणगस्स य भविस्सई के फलविसेसे ॥१०२॥  
 इअ सुणिअ हट्ठतुट्ठो राया रोमंचअचिअसरीरो ।  
 निअमइअणुसारेणं साहइ एआरिसं वयणं ॥१०३॥  
 देवि तुमं पडिपुत्ते नवमासे सड्ढसत्तदिणअहिए ।  
 बहुलक्खणगुणजुत्तं पुत्तं पाविहिसि जगन्तिं ॥१०४॥  
 इअ नरवइणो वयणं सुणिऊणं हट्ठतुट्ठनिअहिअया ।  
 नरनाहअणुन्नाया सा जाया नियगिहं पत्ता ॥१०५॥  
 तत्थ य कुमारजीवो देवाउं पालिऊण कुम्माए ।  
 उअरम्मि सुकयपुण्णो सरम्मि हंसु व्व अवइण्णो ॥१०६॥  
 रयणेण रयणखाणी जहेव मुत्ताहलेण सुत्तिउडी ।  
 तह तेणं गब्भेणं सा सोहग्गं समुव्वहई ॥१०७॥  
 गब्भस्सणुभावेणं धम्मागमसवणदोहलो तीसे ।  
 उप्पन्नो सुहपुण्णोदएण सोहग्गसम्पन्नो ॥१०८॥  
 तो तेणं नरवइणा छट्ठंसणनाइणो नयरमज्जे ।  
 सदाविआ जणेहिं कुम्माए धम्मसवणकए ॥१०९॥  
 ण्हाया कायवलिकम्मा कयकोउयमंगलाइविहिधम्मा ।  
 निअपुत्थयसंजुत्ता संपत्ता रायभवणंमि ॥११०॥  
 कयआसीसपदाणो नरवइणा दत्तमाणसंमाणा ।  
 भदासणोवविट्ठा नियनियधम्मं पयासेति ॥१११॥  
 इयरेसि दंसणीण य धम्मं हिसाइसंजुयं सुणिउं ।  
 जिणधम्मरया देवी अईव खेयं समावन्ना ॥११२॥



## ७. अगडदत्तचरियं\*

अत्थि जए सुपसिद्धं संखउरं पुरवरं गुणसमिद्धं ।  
 तम्मि य राया जणजणियतोसओ सुन्दरो नाम ॥१॥  
 तस्स कुलरूवसरिसा समग्ग जणजणिय लोयणाणन्दा ।  
 अन्तेउरस्स पढमा सुलसा नामेण वरभज्जा ॥२॥  
 तीए कुच्छिपसूओ पुत्तो नामेण अगडदत्तो त्ति ।  
 अणुदियह सो पवरं वड्ढन्तो जोव्वणं पत्तो ॥३॥

### सो य केरिसो—

धम्मत्थदयारहिओ गुरुवयणविवज्जिओ अलियवाई ।  
 पररमणिरमणकामो निस्संको माणसोण्डीरो ॥४॥  
 मज्जं पिण्डु जूर्यं रमइ पिसियं महं च भक्खेइ ।  
 नडचेडयवेसाविन्दपरिगओ भमइ पुरमज्जे ॥५॥  
 अन्नम्मि दिणे रन्नो पुरवरलोएण वइयो सिट्ठो ।  
 जह कुमरेण नराहिव नयरे असमंजसं विहियं ॥६॥  
 सुणिऊण पउरवयणं राया गुरुकोवजायरत्तच्छो ।  
 फुडभिउडिभासुरसिरो एयं भणिउं समाढत्तो ॥७॥  
 रे रे भणह कुमारं “सिग्घं चिय वज्जिऊण मह विसयं ।  
 अन्नत्थ कुणसु गमणं मा भणसु य जं न कहियं ति” ॥८॥  
 नाऊण वइयरं सो कुमारो चइऊण नियपुरं रम्मं ।  
 खगसहाओ चलिओ गुरुमाणपवड्ढियामरिसो ॥९॥  
 लघित्ता गिरिसरिकानणाइं पुरगोट्टुगामवन्दाइं ।  
 नियनयराओ दूरे पत्तो वाणारसि नयरि ॥१०॥  
 त्थिय चच्चरमाईसुं असहाओ भमइ नयरमज्जम्मि ।  
 चित्ते अमरिसजुत्तो करि व्व जूहाउ परिभट्ठो ॥११॥  
 हिण्डन्तेणं च तथा पुरीए मग्गेसु रायत्तणएण ।  
 बहुतरुणनरसमेओ एक्को किल जाणओ दिट्ठो ॥१२॥

\* पाठ—सम्पादन : डा० राजाराम जैन, अगडदत्तचरियं, आरा ।

सो य केरिसो—

सत्थत्थकलाकुसलो विउसो भावन्नुओ सुगम्भीरो ।  
 निरओ परोवयारे किवालुओ रूवगुणकलिओ ॥१३॥  
 नामेण पवणचण्डो वाईणं न उण सीसाणं ।  
 सन्दणहयगयसिक्खं साहिन्तो निवसुयाण तहि ॥१४॥  
 तस्स समीवम्मि गओ चरणजुयं पणमिउं समासीणो ।  
 “कत्तो सि तुमं सुन्दर” अह भणिओ पवणचण्डेण ॥१५॥  
 एगन्ते गन्तूणं सङ्खउराओ जहा विणिक्खन्तो ।  
 कहिओ तह वुत्तन्तो कुमरेणं पवणचण्डस्स ॥१६॥  
 चण्डेण तओ भणिओ अच्छसु एत्थं कलाउ सिक्खन्तो ।  
 परमतणो य गुञ्जं कस्स वि मा सुयणु पयडेसु ॥१७॥  
 उट्टेउं उज्जाओ पत्तो गेहम्मि रायसुयसहिओ ।  
 साहेइ महिलियाए “एसो मह भाउयसुओ” त्ति ॥१८॥  
 ष्हविऊणं कुमरवरं दाऊणं पवरवत्थमाभरणं ।  
 तो भोयणावसाणे भणियमिणं पवणचण्डेणं ॥१९॥  
 भवणघणं परिवारो सन्दणतुरयाइँ सन्तियं मज्झं ।  
 सव्वं तुज्जायत्तं विलससु हियइच्छियं कुमर ॥२०॥  
 एवं सो किर संतुट्टमाणसो मुक्ककूरववसाओ ।  
 चिट्ठइ तस्सेव घरे सव्व्राउ कलाउ सिक्खन्तो ॥२१॥  
 गुरुयणगुरुविणयपवन्नमाणसो सयलजणमाणन्दो ।  
 बावत्तारि कलाओ गेष्हइ थेवेण कालेणं ॥२२॥  
 एवं सो कुमरवरो नायकलो परिसमं कुणेमाणो ।  
 भवणुज्जाणे चिट्ठइ अणुदियहं तप्परो धणियं ॥२३॥  
 उज्जाणस्स समीवे पहाणसेट्ठिठस्स सन्तियं भवणं ।  
 वायायणरमणीयं उत्तुङ्गमईव वित्थिण्णं ॥२४॥  
 तत्थत्थि सेट्ठिधूया मणोहरा मयणामज्जरी नाम ।  
 सा घरसिरमारूढा अणुदियहं पेच्छए कुमरं ॥२५॥  
 अह तम्मि साणुराया अगवरयपलोयणं कुणेमाणो ।  
 विक्खिवइ कुसुमफलपत्तलेट्ठुए किंपि चिन्तंती ॥२६॥

हिययत्थं पि हु बालं कुमरो न निरिक्खए कलारसिओ ।  
 आसङ्काए गुरुणं विज्जाए गहणलोभेण ॥२७॥  
 अन्नदिणम्मि तीए वम्महसरपसरविहुरियमणाए ।  
 गहणे कलाण सत्तो पहओ उ असोगगुच्छेणं ॥२८॥  
 कुमरेण तम्मि दियहे सा बाला पलोइया य सयिसेसं ।  
 कङ्कलिलपल्लवन्तरियतणुलया संभमुब्भन्ता ॥२९॥

### चिन्तियं च—

किं एसा अमरविलासिणी उ अह होज्ज नागकन्न व्व ।  
 कमल व्व किं नु एसा सरस्सई किं व पच्चक्खा ॥३०॥  
 अह्वा पुच्छामि इमं कज्जेणं केण चिट्ठइ एत्थं ।  
 इय चिन्तिऊण हियए कुमरो पयडं इमं भणइ ॥३१॥  
 “का सि तुमं वरवाले ईसिं पयडेसि कीस अप्पाणं ।  
 विज्जागहणासत्तं कीस ममं सुयणु खोभेसि” ॥३२॥  
 सुणिउं कुमारवयणं वियसियदिट्ठीए विहसिय मुहीए ।  
 पयडन्तकिरणावलीए तीए इमं भणियं ॥३३॥  
 “नयरपहाणस्स अहं धूया सेट्ठस्स बन्धुदत्तस्स ।  
 नामेण मयणमञ्जरी इह चेव विवाहिया नयरे” ॥३४॥  
 जद्विवासाओ दिट्ठो सुन्दर तं कुसुमचावसारिच्छो ।  
 तद्वियहाओ मज्झं असुहतर वड्ढिओ हियए ॥३५॥

### जेण—

निद्दा वि हु नट्ठा लोयणाण देहम्मि वड्ढिओ दाहो ।  
 असणं पि नो य रुच्चइ गुरुवियणा उत्तमङ्गम्मि ॥३६॥  
 तावच्चिय होइ सुहं जाव न कीरइ पिओ जणो को वि ।  
 पियसङ्को जेण कओ दुक्खाण समप्पिओ अप्प ॥३७॥  
 पे रिज्जन्तो उ पुराकएहि कम्मेहि केहि वि वराओ ।  
 सुहमिच्छन्तो दुल्लहजणाणुराए जणो पडइ ॥३८॥  
 ता जइ मए समाण सङ्गं न ग कुणसि तरुणिमणहरणं ।  
 होहं तुह नियवज्जा फुडं जओ नत्थि मे जीय” ॥३९॥  
 सो निसुणिऊण वयणं तीए बालाए चिन्तए हियए ।  
 मरइ फुडं चिय एसा मयणमहाजलणदड्ढिणी ॥४०॥

निसुणिज्जइ पयडमिणं भारहरामायणेसु सत्थेसु ।  
 जह दस कामावत्था होन्ति फुडं कामुयजणाणं ॥४१॥  
 पढमा जणेइ चिन्तं वीयाए महइ संगमसुहं ति ।  
 दीहुण्हा नीसासा हवन्ति तइयाए वत्थाए ॥४२॥  
 जरयं जणइ चउत्थी पञ्चमवत्थाए डज्जए अङ्गं ।  
 न य भोयणं च रुच्चइ छट्ठावत्थाए कामिस्स ॥४३॥  
 सत्तमियाए मुच्छा अट्टमवत्थाए होइ उम्माओ ।  
 पाणाण य संदेहो नवमावत्थाए पत्तस्स ॥४४॥  
 दसमावत्थाए गओ कामी जीवेण मुच्चए नृणं ।  
 ता एसा मह विरहे पाणाण वि संसयं काही ॥४५॥  
 परिभाविऊण हियए रायकुमारेण भावकुसलेणं ।  
 भणिया सिणेहसारं सा बाला महुरवयणेण ॥४६॥  
 “सुन्दरि सुन्दररन्नो सुन्दरचरियस्स विउलकित्तिस्स ।  
 नामेण अगडदत्तं पढमसुयं मं वियाणेहि ॥४७॥  
 कलयायरियसमीवं कलगहणत्थं समागओ एत्थ ।  
 पविसिस्सं जम्मि दिणे तए वि घेत्तुं गमिस्सामि” ॥४८॥  
 कह कह वि सा मयच्छी वम्महसरपसरसल्लियसरीरा ।  
 एमाइ बहुपयारं भणिऊण कया समासत्था ॥४९॥  
 सो रायसुओ तत्तो तीए गुणरूवरञ्जियमणो हु ।  
 नियनिलए सम्पत्तो चिन्तंतो संगमोवायं ॥५०॥  
 अन्नम्मि दिणे सो रायनन्दणो वाहियाए मग्गेणं ।  
 तुरयारूढो वच्चइ ता नयरे कलयलो जाओ ॥५१॥

### अवि य—

किं चलिउ व्व समुहो किं वा जलिओ हुयासणो घोरो ।  
 किं पत्तं रिउसेन्नं तडिदण्डो निवडिओ किं वा ॥५२॥  
 एत्थन्तरम्मि सहसा दिट्ठो कुमरेण विम्हिहयमणेण ।  
 मयवारणो उ मत्तो निवाडियालाणवरखम्भो ॥५३॥  
 मिण्ठेण वि परिचत्तो मारेन्तो सोण्डगोयरं पत्तो ।  
 सवडंमुहं चलन्तो कालो व्व अकारणे कुद्धो ॥५४॥

तुट्टपयबन्धरञ्जू संचुण्णियभवणहट्टदेवउलो ।  
 खगमेत्तेण पयण्डो सो पत्तो कुमरपुरओ त्ति ॥५५॥  
 तं तारिसख्वधरं कुमरं दट्ठण नायरजणेहि ।  
 गहिरसरेणं भणिओ ओसर ओसर करिपहाओ ॥५६॥  
 कुमरेण वि नियतुरयं परिचइऊणं सुदक्खगइगमणं ।  
 हक्कारिओ गइन्दो इन्दगइन्दस सारिच्छो ॥ ५७ ॥  
 सुणिउं कुमारसद्दं दन्ती पञ्जरियमयजलपवाहो ।  
 तुरिओ पहाविओ सो कुद्धो कालो व्व कुमरस्स ॥ ५८ ॥  
 कुमरेण य पाउरणं सवेल्लेऊण हिट्टचित्तेणं ।  
 धावन्तवारणस्सा सोण्डापुरओ उ पक्खित्तं ॥ ५९ ॥  
 कोवेण धमधमेन्तो दन्तच्छोभे य नेइ सो तम्मि ।  
 कुमरो वि पिट्ठभाए पण्हणइ दढमुट्ठिपहरेणं ॥ ६० ॥  
 ता ओधावइ धावइ चलइ खलइ परिणओ तथा होइ ।  
 परिभमइ चक्कभमण रोसेण धमधमेन्तो सो ॥ ६१ ॥  
 अइव महत्तं वेलं खेल्लावऊण तं गयं पवरं ।  
 निययवसे काऊणं आरूढो ताव खन्धम्मि ॥ ६२ ॥  
 अहं तं गइन्दखेडं मणोहरं सयलनयरलोयस्स ।  
 अन्तेउरसरिसेणं पलोइयं नरवरिन्देणं ॥ ६३ ॥  
 दट्ठु कुमरं गयखन्धसंठियं सुरवइं व सो राया ।  
 पुच्छइ नियभिच्चयणं को एसो गुणनिहि बालो ॥ ६४ ॥  
 तेणं अहिमयरो सोमत्तणएण तहं य निसिनाहो ।  
 सव्वकलागमकुसलो वाई सुरो सुख्वो य ॥ ६५ ॥  
 एक्केण तओ भणियं “कलयायरियस्स मन्दिरे एसो !  
 कलपरिसमं कुणन्तो दिट्ठो मे तत्थ नरनाहं” ॥ ६६ ॥  
 तो सो कलयायरिओ नरवइणा पुच्छिओ हरिसिएणं ।  
 को एसो वरपुरिसो गयवरसिक्खाए अइकुसलो ॥ ६७ ॥  
 अभयं परिमग्गेउं कलयायरिएण कुमरवुत्तन्तो ।  
 सविसेसं परिकहिओ नरवइणो बहुजणजुयस्स ॥ ६८ ॥  
 तं निमुणिऊण राया नियहियए गइयतोसमावन्नो ।  
 संपेसइ पडिहार आणे हि तंममं पासं ॥ ६९ ॥

गयखंधपरिट्ठयओ अह सो भणिओ य दारवालेणं ।  
 “ह्वकारइ नरनाहो आगच्छसु कुमार रायउलं” ॥ ७० ॥  
 रायाएसेण तओ ह्त्थि खम्भम्मि आगलेऊणं ।  
 कुमरो ससङ्कहियओ पत्तो नरनाहपासम्मि ॥ ७१ ॥  
 जाणूकरुत्तमङ्गे महीए विणिहित्तु गरुयविणएणं ।  
 जाव न कुणइ पणामं अवगूढो ताव सो रत्ता ॥ ७२ ॥  
 तम्बोलासणसंमाणदाणपुइओ अहियं ।  
 कुमरो पसन्नहियओ उवविट्ठो रायपासम्मि ॥ ७३ ॥

**तओ चिन्तियं राइणा “उत्तमपुरिसो एसो । जओ—**

विणओ मूलं पुरिसत्तणस्स मूलं सिरीए ववसाओ ।  
 धम्मो सुहाण मूलं दप्पो मूलं विणासस्स ॥ ७४ ॥

**अन्नं च---**

को चित्तेइ मंऊरं गइं च को कुणइ रायहंसाणं ।  
 को कुवल्याण गन्धं विणय च कुलप्पसूयाणं ॥ ७५ ॥

**अवि य--**

साली भरेण तोएण जलहरा फलभरेण तरुसिहरा ।  
 विणएण य सप्पुरिसा नमन्ति न हु कस्स वि भएण” ॥ ७६ ॥  
 तो विणयरञ्जिएणं कुसलपउत्तीउ पुच्छिओ कुमरो ।  
 रन्ना कलाण गहणं सविसेसं तह य पुट्ठंति ॥ ७७ ॥  
 नियगुणगहण पयडेइ नो य लज्जाए जाव सो ताव ।  
 उज्झाएणं भणियं “पहु निउणो एस सव्वत्थ ॥ ७८ ॥



## द. गायधम्मकहा\*

### (क) चतुर्थं कूर्मअध्ययन

(१) जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं नायाणं तच्चस्स नायज्जयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, चउत्थस्स णं नायाणं के अट्ठे पन्नत्ते ?

(२) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समेणं वाणारसी नामं नयरी होत्था, वन्नओ । तीसे णं वाणारसीए नयरीए बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसिभागे गंगाए महानदीए मयंगतीरद्दहे नामं दहे होत्था अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजले अच्छविमलसलिलपलिच्छन्ने संछन्नपत्तपुप्फपलासे बहुउप्पलपउमकुमुयनलिणसुभगसोगंधियपुंडरीय-महापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरपुप्फोवचिए पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिह्वे ।

(३) तत्थ णं बहूणं मच्छाण य कच्छपाण य गाहाण य मगराण य सुंसुमारण य सइयाण य साहस्सियाण य सयसाहस्सियाण य जूहाइं निब्भयाइं निरुव्विग्गाइं सुहंसुहेणं अभिरममाणयाइं अभिरममाणयाइं विहरंति ।

(४) तस्स णं मयंगतीरद्दहस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे मालुया-कच्छए होत्था, वन्नओ । तत्थ णं दुवे पावसियालगा परिवसंति, पावा चंडा रोद्दा तल्लिच्छा साहसिया लोहियपाणी आमिसत्थी आमिसाहारा आमिसप्पिया आमिसलोला आमिसं गवेसमाणा रत्ति वियालचारिणो दिया पच्छन्नं चावि चिट्ठंति ।

(५) तए णं ताओ मयंगतीरद्दहाओ अन्नया कयाइं सूरियंसि चिरत्थ-मियंसि लुलियाए संज्ञाए पविरलमाणुसंसि णिसंतपडिणिसंतंसि समार्णंसि दुवे कुम्मगा आहारत्थी आहारं गवेसमाणा सणियं सणियं उत्तरंति । तस्सेव मयंगतीरद्दहस्स परिपेरंतेणं सब्बओ समंता परिघोलेमाणा परिघोले-माणा वित्ति कप्पेमाणा विहरंति ।

(६) तयाणंतरं च णं ते पावसियालगा आहारत्थी जाव आहारं गवेसमाणा मालुयाकच्छयाओ पडिणिक्खमंति । पडिणिक्खमिन्ता जेणेव मयंगतीरे दहे तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छत्ता तस्सेव मयंगतीर-

\* पाठ-सम्पादन-पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, ज्ञाताधर्मकथा, अहमदनगर, १९६४ ।

इहस्स परिपेरतेण परिघोलेमाणा परिघोलेमाणा विट्ति कप्पेमाणा विहरंति ।

(७) तए णं ते पावसियाला ते कुम्मए पासंति, पासित्ता जेणेव ते कुम्मए तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

(८) तए णं ते कुम्मगा ते पावसियालए एज्जमाणे पासंति । पासित्ता भीता तत्था तसिया उव्विग्गा संजातभया हत्थे य पाए य गोवाए य सर्एहि सर्एहि कार्एहि साहरंति, साहरित्ता निच्चला निष्फंदा तुसिणोया संचिट्ठंति ।

(९) तए णं ते पावसियालया जेणेव ते कुम्मगा तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता ते कुम्मगा सब्बओ समंता उव्वत्तेन्ति, परियत्तेन्ति, आसारेन्ति, संसारेन्ति, चालेन्ति, घट्टेन्ति, फंदेन्ति, खोभेन्ति, नहेहि आलुंपंति, दंतेहि य अक्खोडेंति, नो चेव णं संचाएंति तेसि कुम्मगाणं सरोरस्स आबाहं वा, पबाहं वा, वाबाहं वा उप्पाएत्तए छविच्छेयं वा करेत्तए ।

(१०) तए णं ते पावसियालया एए कुम्मए दोच्चं पि तच्चं पि सब्बओ समंता उव्वत्तेंति, जाव नो चेव णं सचाएंति करित्तए । ताहे संता तंता परितंता निव्विन्ना समाणा सणियं सणियं पच्चोसक्कंति, एगंतमवक्कमंति, निच्चला निष्फंदा तुसिणोया संचिट्ठंति ।

(११) तत्थ णं एगे कुम्मए ते पावसियालए चिरंगए दूरगए जाणित्ता सणियं सणियं एगं पायं निच्छुभइ । तए णं ते पावसियालया तेणं कुम्मएणं सणियं सणियं एगं पायं नीणियं पासंति । पासित्ता ताए उक्किट्ठाए गईए सिग्घं चवलं तुरियं चंडं जइणं वेगिइं जेणेव से कुम्मए तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छित्ता तस्स णं कुम्मगस्स तं पायं नखेहि आलुंपंति, दंतेहि अक्खोडेंति, तओ पच्छा मंसं च सोणियं च आहारेंति, आहारित्ता तं कुम्मगं सब्बओ समंता उव्वत्तेंति जाव नो चेव णं संचाइंति करेत्तए । ताहे दोच्चं पि अवक्कमंति, एवं चत्तारि त्रि पाया जाव सणियं सणियं गोवं णोणेइ । तए णं ते पावसियालया तेणं कुम्मएणं गोवं णीणियं पासंति, पासित्ता सिग्घं चवलं तुरियं चंडं नहेहि दंतेहि कवालं विहाडेंति, विहाडित्ता तं कुम्मगं जीवियाओ ववरोवेति, ववरोवित्ता मंसं च सोणियं च आहारेंति ।

(१२) एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आय-रियउवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंच से इंदियाइं अगुत्ताइं भवंति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं सावगाणं साविगाणं



होलणिज्जे परलोए वि य णं आगच्छइ बहूणि दंडणाणि जाव अणुपरियट्ठइ, जहा कुम्मए अगुत्तिदिए ।

(१३) तए णं ते पावसियालया जेणेव से दोच्चए कुम्मए तेणेव उवा-  
गच्छंति, उवागच्छता तं कुम्मयं सव्वओ समंता उव्वत्तेति जाव दंतेहि  
अक्खुडेंति जाव करित्तए ।

(१४) तए णं ते पावसियालया दोच्चं पि तच्चं पि जाव नो संचाएति  
तस्स कुम्मगस्स किंचि आबाहं वा विबाहं वा जाव छविच्छेयं वा करित्तए,  
ताहे संता तंता परितंता निव्विन्ना समाणा जामेव दिंसि पाउब्भूआ तामेव  
दिसि पडिगया ।

(१५) तए णं से कुम्मए ते पावसियालए चिरंगए दूरगए जाणित्ता  
सणियं सणियं गीवं नेणेइ, नेणित्ता दिसावलोयं करेइ, करित्ता जमग-समगं  
चत्तारि वि पाए नीणेइ, नीणेत्ता ताए उक्किट्ठाए कुम्मगईए वीइवयमाणे  
वीइवयमाणे जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छता मित्त-  
नाइनियगसयणसंबंधिपरियणेणं सद्धि अभिसमन्नागए यावि होत्था ।

### (ख) छठा तुंबक अध्ययन

(१) 'जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स  
नायज्जयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, ळट्ठस्स णं भंते ! णायज्जयणस्स समणेणं  
जाव संपत्तेणं के अट्ठे पणत्ते ?'

(२) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं  
नयरे होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए नामं राया होत्था । तस्स  
णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसिलए नामं  
चेइए होत्था ।

(३) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्वि  
चरमाणे जाव जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव  
समोसडे । अहापडिरूवं उग्गहं गिण्हत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे  
विहरइ । परिसा निग्गया, सेणिओ वि निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा  
पडिगया ।

(४) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे  
अंतेवासी इंदभूर्इ नामं अणगारे अदूरसामंते जाव सुक्कज्झाणोवगए विहरइ ।

तए णं से इंदभूई जायसइडे समणस्स भगवओ महावीरस्स एवं वयासी-  
'कहं णं भते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति ?'

(५) 'गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं सुक्कं तुम्बं णिच्छिदं  
निरुवहयं दब्भेहिं कुसेहिं वेढेइ, वेढित्ता मट्टियालेवेणं लिपई, उण्हे दलयइ,  
दलइत्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भेहिं य कुसेहिं य वेढेइ, वेढित्ता  
मट्टियालेवेणं लिपई, लिपित्ता उण्हे सुक्कं समाणं तच्चं पि दब्भेहिं य कुसेहिं  
य वेढेइ, वेढित्ता मट्टियालेवेणं लिपई । एवं खलु एएणुवाएणं अंतरा वेढेमाणे  
अंतरा लिपेमाणे, अंतरा सुक्कवेमाणे जाव अट्टहिं मट्टियालेवेहिं आलिपई,  
अत्थाहमतारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिजेज्जा । से णूणं गोयमा ! से तुंभे  
तेसिं अट्टण्हं मट्टियालेवेणं गुरुययाए भारिययाए गुरुयभारिययाए उप्पि  
सलिलमइवइत्ता अहे धरणियलपइट्टाणे भवइ ।

(६) एवामेव गोयमा ! जीवा वि पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसण-  
सल्लेणं अणुपुव्वेणं अट्टकम्मपगडीओ समज्जिणंति । तासिं गुरुययाए  
भारिययाए गुरुयभारिययाए कालमासे कालं किच्चा धरणियलमइवइत्ता  
अहे नगरतलपइट्टाणा भवंति । एवं खलु गोयमा ! जीवा गुरुयत्तं  
हव्वमागच्छंति ।

(७) अहण्णं गोयमा ! से तुम्भे तंसि पढमिल्लुगंसि मट्टियालेवंसि  
तिन्नेंसि कुहियंसि परिसडियंसि ईंसि धरणियलाओ उप्पइत्ता णं चिट्ठइ ।  
ततोऽणंतरं च णं दोच्चं वि मट्टियालेवे जाव उप्पइत्ता णं चिट्ठइ । एवं खलु  
एएणं उवाएणं तेसु अट्टसु मट्टियालेवेसु तिन्नेसु जाव विमुक्कबंधणे अहे  
धरणियलमइवइत्ता उप्पि सलिलतलपइट्टाणे भवइ ।

(८) एवामेव गोयमा ! जीवा पाणाइवाय वेरमणेणं जाव मिच्छादंसण-  
सल्लवेरमणेणं अणुपुव्वेणं अट्टकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता  
उप्पि लोयगपइट्टाणा भवंति । एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं  
हव्वमागच्छंति ।

(९) एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं छट्ठस्स नायज्ज-  
यणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि ।



## ६. उत्तराध्ययनसूत्र\*

### (क) विणयसुयं प्रथमं अध्ययनम्

संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगाररस्स भिक्खुणो ।  
 विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुर्व्वि सुणेह मे ॥१॥  
 आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए ।  
 इंगियागारसम्पन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥२॥  
 आणानिद्देसकरे गुरूणमणुववायकारए ।  
 पडणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई ॥३॥  
 जहा सुणी पूइकणी निक्कसिज्जइ सव्वसो ।  
 एवं दुस्सीलपडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ॥४॥  
 कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे ।  
 एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए ॥५॥  
 सुणिया भावं साणस्स सूयरस्स नरस्स य ।  
 विणए ठवेज्ज अप्पाणमिच्छन्तो हियमप्पणो ॥६॥  
 तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जए ।  
 बुद्धपुत्ते नियागट्ठी न निक्कसिज्जइ कण्हई ॥७॥  
 निसन्ते सियाऽमुहरी बुद्धाणं अन्तिए सया ।  
 अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए ॥८॥  
 अणुसासिओ न कुप्पिज्जा खंति सेविज्ज पण्डिए ।  
 खुड्डीह सह संसंगि हासं कीडं च वज्जए ॥९॥  
 मा य चण्डालियं कासी बहुयं मा य आलवे ।  
 कालेण य अहिज्जित्ता तओ ज्ञाइज्ज एगणो ॥१०॥  
 आहच्च चण्डालियं कट्टु न निण्हविज्ज कयाइ वि ।  
 कडं कडे त्ति भासेज्जा अकडं नो कडे त्ति य ॥११॥  
 मा गलियस्से व कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो ।  
 कसं व दट्ठुमाइण्णे पावगं परिवज्जए ॥१२॥

❧ पाठ-सम्पादन, प्रो० एन० वी० वैद्या, उत्तराध्ययनसूत्रम्, पूना, १९५९ ।

अणासवा थूलवया कुसीला  
मिडं पि चण्डं पकरिन्ति सीसा ।  
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया  
पसायए ते हु दुरासयं पि ॥१३॥

नापुट्ठो वागरे किञ्चि पुट्ठो वा नालियं वए ।  
कोहं असच्चं कुब्बेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं ॥१४॥  
अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुददमो ।  
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य ॥१५॥  
वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य ।  
माहं परेहि दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य ॥१६॥  
पडणीयं च बुद्धाणं वाया अदुव कम्मणा ।  
आवी वा जइ वा रहस्से नेव कुज्जा कयाइ वि ॥१७॥  
न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ ।  
न जुंजे ऊरुणा ऊरं सयणे नो पडिस्सुणे ॥१८॥  
नेव पल्लहत्थियं कुज्जा पवखपिण्डं च संजए ।  
पाए पसारिए वावि न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥१९॥  
आयारिएहं वाहित्तो तुसिणीओ न कयाइ वि ।  
पसायपेही नियागट्ठी उवचिट्ठे गुरुं सया ॥२०॥

### (ख) रहनेमिज्जं द्वाविंशं अध्ययनम्

सोरियपुरंमि नयरे आसि राया महिड्ढिए ।  
वसुदेवे त्ति नामेणं रायलक्खणसंजुए ॥१॥  
तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तथा ।  
तासि दोण्हं दुवे पुत्ता इट्ठा रामकेसवा ॥२॥  
सोरियपुरंमि नयरे आसी राया महिड्ढिए ।  
समुददविजए नामं रायलक्खणसंजुए ॥३॥  
तस्स भज्जा सिवा नाम तीसे पुत्तो महायसो ।  
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे ॥४॥  
सोऽरिट्ठनेमिनामो उ लक्खणस्सरसंजुओ ।  
अट्ठसहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी ॥५॥

वज्जरिसहस्रघयणो समचउरंसो झसोयरो ।  
 तस्स राईमइं कन्तं भज्जं जायइ केसवो ॥६॥  
 अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारुपेहिणी ।  
 सव्वलक्खणसंपन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा ॥७॥  
 अहाह जणओ तीसे वासुदेवं महिड्ढियं ।  
 इहागच्छऊ कुमारो जा से कन्तं इलामि हं ॥८॥  
 सव्वोसहीहि ष्हविओ कयकोउयमंगलो ।  
 दिव्वजुयलपरिहिओ आभरणेहि विभूसिओ ॥९॥  
 मत्तं च गन्धर्हत्थि वासुदेवस्स जेट्ठगं ।  
 आरूढो सोहए अहियं सिरे चूडामणी जहा ॥१०॥  
 अह ऊसिएण छत्तेण चामराहि य सोहिए ।  
 दसारचक्केण य सो सव्वओ परिवारिओ ॥११॥  
 चउरंगिणीए सेनाए रइयाए जहक्कमं ।  
 तुरियाण सन्निनाएण दिव्वेण गगणं फुप्पे ॥१२॥  
 एयारिसाए इड्ढीए जुईए उत्तिमाए य ।  
 नियगाओ भवणाओ निज्जाओ वण्हिपंगवो ॥१३॥  
 अह सो तत्थ निज्जन्तो दिस्स पाणे भयद्दुए ।  
 वाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥१४॥  
 जीवियन्तं तु संपत्ते मंसट्ठा भक्खियव्वए ।  
 पासेत्ता से महापन्ने सारहिं इणमव्ववी ॥१५॥  
 कस्स अट्ठा इमे पाणा एए सव्वे सुहेसिणो ।  
 वाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धा य अच्छहिं ॥१६॥  
 अह सारही तओ भणइ एए भट्ठा उ पाणिणो ।  
 तुज्झं विवाहकज्जमि भोयावेउं बहं जणं ॥१७॥  
 सोऊण तस्स वयणं बहुपाणिविणासणं ।  
 चिन्तेइ से महापन्ने साणुक्कोसे जिएहि उ ॥१८॥  
 जइ मज्झ कारणा एए हम्मन्ति सुबहू जिया ।  
 न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई ॥१९॥  
 सो कुण्डलाण जुयलं सुत्तगं च महायसो ।  
 आभरणाणि य सव्वाणि सारहिस्स पणामए ॥२०॥

मणपरिणामे य कए देवा य जहोइयं समोइण्णा ।  
सव्विड्ढीए सपरिसा निक्खमणं तस्स काउं जे ॥२१॥  
देवमणुस्सपरिवुडो सीयारयणं तओ समारूढो ।  
निक्खमिय वारगाओ रेवययंमि द्विओ भगवं ॥२२॥  
उज्जाणं संपत्तो ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ ।  
साहस्सीए परिवुडो अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥२३॥  
अह से सुगन्धगन्धिए तुरियं मउकुंचिए ।  
सयमेव लुंचई केसे पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४॥  
वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं ।  
इच्छियमणोरहे तुरियं पावसू तं दमीसरा ॥२५॥  
नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तवेण य ।  
खन्तीए मुत्तीए वड्डमाणो भवाहि य ॥२६॥  
एवं ते रामकेसवा दसारा य बहू जणा ।  
अरिट्ठणेमि वन्दित्ता अभिगया वारगापुरिं ॥२७॥  
सोऊण रायकन्ता पव्वज्जं सा जिणस्स उ ।  
नीहासा य निराणन्दा सोगेण उ समुत्थिया ॥२८॥  
राईमई विचित्तेइ धिरत्थु मम जीवियं ।  
जा हं तेण परिच्चत्ता सेयं पव्वइउं मम ॥२९॥  
अह सा भमरसन्निभे कुच्चफणगसाहिए ।  
सयमेव लुंचई केसे धिइमन्ता ववस्सिया ॥३०॥  
वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं ।  
संसारसागरं घोरं तर कन्ने लहुं लहुं ॥३१॥  
सा पव्वइया सन्ती पव्वावेसी तहिं बहुं ।  
सयणं परियणं चैव सीलवन्ता बहुस्सुया ॥३२॥  
गिरिं रेवययं जन्ती वासेणुल्ला उ अन्तरा ।  
वासन्ते अन्धयारंमि अन्तो लयणस्स सा ठिया ॥३३॥  
चीवराइं विसारन्ती जहाजाय त्ति पासिया ।  
रहनेमी भग्गचित्तो पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥३४॥  
भीया य सा तहिं दट्ठुं एगन्ते संजयं तयं ।  
बाहाहिं काउं संगोप्फं वेवमाणी निसीयई ॥३५॥

अह सो वि रायपुत्तो समुद्द्विजयंगओ ।  
 भोयं पवेवियं ददुं इमं वक्कं उदाहरे ॥३६॥  
 रहनेमी अहं भद्दे सुख्वे चारुभासिणि ।  
 ममं भयाहि सुयणू न ते पीला भविस्सई ॥३७॥  
 एहि ता भुंजिमो भोए माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।  
 भुत्तभोगी पुणो पच्छा जिणमग्गं चारिस्सिमो ॥३८॥  
 ददुण रहनेमि तं भग्गुज्जोयपराइयं ।  
 राईमई असम्भन्ता अप्पाणं संवरे त्तिहि ॥३९॥  
 अह सा रायवरकन्ता सुट्ठया नियमव्वए ।  
 जाई कुलं च सीलं च रक्खमाणी तयं वए ॥४०॥  
 जइ सि रूवेण वेसमणो लल्लिएण नल्लकूबरो ।  
 तहा वि ते न इच्छामि जइ सि सक्खं पुरन्दरो ॥४१॥  
 धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवियकारणा ।  
 वन्तं इच्छसि आवाउं सेयं ते मरणं भवे ॥४२॥  
 अहं च भोगरायस्स तं च सि अन्धगवण्हणो ।  
 मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥४३॥  
 जइ तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि नारिओ ।  
 वायाविद्धो व्व हढो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥४४॥  
 गोवालो भण्डवालो वा जहा तद्दव्वण्णस्सरो ।  
 एवं अण्णस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि ॥४५॥  
 तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं ।  
 अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपाडवाइओ ॥४६॥  
 मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ ।  
 सामण्णं निच्चलं फासे जावज्जीवं दढव्वओ ॥४७॥  
 उग्गं तवं चरित्ताणं जाया दोण्णि वि केवली ।  
 सव्वं कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥४८॥  
 एवं करेन्ति संबुद्धा पण्डिया पवियक्खणा ।  
 विणियवुन्ति भोगेसु जहा सो पुरिसोत्तमो ॥४९॥ त्ति बेमिं ॥



## १०. वसुनन्दि-श्रावकाचार\*

### द्यूतदोष-वर्णन

जूयं खेलंतस्स ह्नु कोहो माया य माण-लोहा य ।  
एए ह्वंति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं ॥६०॥  
पावेण तेण जर-मरण-वोचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि ।  
चउगइगमणावत्तम्मि हिंडइ भवसमुट्टम्मि ॥६१॥  
तत्थ वि दुक्खमणंतं छेयण-भेयण विकत्तणाईणं ।  
पावइ सरणविरहिओ जूयस्स फलेण सो जीवो ॥६२॥  
ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा ।  
जूबंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं बहुयाइं ॥६३॥  
सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो ।  
माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमतस्स ॥६४॥  
अग्गि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं थोवं कुणंति इहलोए ।  
दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भवसयसहस्सेसु ॥६५॥  
अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिदिएहि वेएइ ।  
जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥६६॥  
अलियं करेइ सवहं जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्टं ।  
पासम्मि बहिणि-मायं सिंसुं पि हणेइ कोहंधो ॥६७॥  
ण य भुंजइ आहारं णिइं ण लहेइ रत्ति-दिण्णं ति ।  
कत्थ वि ण कुणेइ रइं अत्थइ चिंताउरो णिच्चं ॥६८॥  
इच्चेवमाइबह्वो दोसे णाऊण जूयरमणम्मि ।  
परिहरियव्वं णिच्चं दंसणगुणमुव्वहंतोण ॥६९॥

### मद्यदोष-वर्णन

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।  
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७०॥

\* पाठ-सम्पादन; पं हीरालाल शास्त्री, वसुनन्दि-श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ,  
दिल्ली १९५४ ।



अइलंधिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाययंगणे मत्तो ।  
 पडियस्स सारमेया वयणं विलिहति जिब्भाए ॥७१॥  
 उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणति तो समुल्लवइ ।  
 पडिओ वि मुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई ॥७२॥  
 जं किंवि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहि ।  
 लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ॥७३॥  
 जेणज्ज मज्झ दव्वं गहियं दुट्ठेण से जमो कुद्धो ।  
 कहिं जाइ सो जिवंतो सीसं छिदामि खग्गेण ॥७४॥  
 एवं सो गज्जंतो कुविओ गंतूण मंदिरं गिययं ।  
 घित्तूण लउडि सहसा रुट्ठो भंडाई फोडेइ ॥७५॥  
 गिययं पि सुयं बहिंणि अणिच्छमाणं बला विधंसेइ ।  
 जंपइ अजंपणिज्जं ण विजाणइ किं पि मयमत्तो ॥७६॥  
 इय अवराइ बहुसो काउण बहूणि लज्जणिज्जाणि ।  
 अणुबंधइ बहु पावं मज्जस्स वसंगदो संतो ॥७७॥  
 पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे ।  
 पावइ अणंतदुक्खं पडिओ संसारकंतारे ॥७८॥  
 एवं बहुप्पयारं दोसं णाऊण मज्जपाणम्मि ।  
 मण-वयण-काय-कय-कारिदाणुमोएहि वज्जिज्जो ॥७९॥

### मधुदोष-वर्णन

जह मज्जं तह य महू जणयदि पावं णरस्स अइबहुयं ।  
 असुइ व्व णिदणिज्जं वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥८०॥  
 दट्ठूण असणमज्जे पडियं जइ मच्छियं पि णिट्ठिवइ ।  
 कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं णिघणो पिबइ ॥८१॥  
 भो भो जिंभिदियलुद्धयाणमच्छेरयं पलोएह ।  
 किमि मच्छियणिज्जासं महुं पवित्तं भणति जदो ॥८२॥  
 लोगे वि सुप्पसिद्धं बारहू गामाइ जो डहइ अदओ ।  
 तत्तो सो अहिययरो पाविट्ठो जो महुं हणइ ॥८३॥  
 जो अवलेहइ णिच्चं णिरयं सो जाइ णत्थि संदेहो ।  
 एवं णाऊण फुडं वज्जेयव्वं महुं तम्हा ॥८४॥

### मांसदोष-वर्णन

मंसं अमेज्जसरिसं किमिकुलभरियं दुग्धवीभच्छं ।  
 पाएण छिवेउं जं ण तीरणं तं कर्हं भोत्तुं ॥८५॥  
 मंसासणेण वड्डइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।  
 जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिण्णं पाउणइ दोसे ॥८६॥  
 लोइय सत्थम्मि वि वण्णिण्यं जहा गयणगामिणो विप्पा ।  
 भुवि मंसासणेण पडिया तम्हा ण पउंजए मंसं ॥८७॥

### चौर्यदोष-वर्णन

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ ।  
 पाउणइ जायणाओ ण कयावि मुहं पलोइए ॥१०१॥  
 हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाणसव्वंगो ।  
 चइऊण णिययगेहं धावइ उप्पहेण संतत्तो ॥१०२॥  
 किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधगतेण ।  
 ल्हुकइ पलाइ पखलइ णिदं ण लहेइ भयविट्ठो ॥१०३॥  
 ण गणेइ माय-वप्पं गुरु-मित्तं सामिणं तवस्सि वा ।  
 पबलेण हरइ छलेण किंचिण्णं किंपि जं तेसिं ॥१०४॥  
 लज्जा तहाभिमाणं जस-सीलविणासमादणासं च ।  
 परलोयभयं चोरो अगणंतो साहसं कुणइ ॥१०५॥  
 हरमाणो परदव्वं दट्ठणारक्खिण्हि तो सहसा ।  
 रज्जूहि बंधिऊणं धिप्पइ सो मोरबंधेण ॥१०६॥  
 हिंडाविज्जइ टिट्ठे रत्थामु चढाविऊण खरपुट्ठि ।  
 वित्थारिज्जइ चोरो एसो त्ति जणस्स मज्जम्मि ॥१०७॥  
 अण्णो वि परस्स धणं जो हरइ सो एरिसं फलं ल्हइ ।  
 एवं भणिऊण पुणो णिज्जइ पुर-बाहिरे तुरियं ॥१०८॥  
 णेतुद्धारं अहं पाणि-पायगहणं णिसुंभणं अहवा ।  
 जीवंतस्स वि सूलावारोहणं कीरइ खलेहि ॥१०९॥  
 एवं पिच्छंता वि हु परदव्वं चोरियाइ गेण्हति ।  
 ण मुणति किं पि सहियं पेच्छह हो मोह माहप्पं ॥११०॥  
 परलोए वि य चोरो चउगइ-संसार-सायर-निमण्णो ।  
 पावइ दुक्खमणंतं तेयं परिवज्जए तम्हा ॥१११॥

## ११. अशोक के अभिलेख\*

### गिरनार शिला

#### प्रथम अभिलेख

१. इयं धमलिपी देवानं प्रियेन
२. प्रियदसिना राजा लेखापिता [१] इध न किं
३. चि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं [२]
४. न च समाजो कतव्यो [३] बहुकं हि दोसं
५. समाजमिह पसति देवानंप्रियो प्रियद्रसि राजा [४]
६. अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं-
७. प्रियस प्रियदसिनो राजो [५] पुरा महानसमिह
८. देवानं प्रियस प्रियदसिनो राजो अनुदिवसं ब-
९. हूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय [६]
१०. से अज यदा अयं धमलिपी लिखिता ती एव प्रा-
११. णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि
१२. मगो न ध्रुवो [७] एते पि त्री प्राणा पछा न आरभिसरे [८]

#### द्वितीय अभिलेख

१. सर्वत विजितमिह देवानंप्रियस प्रियदसिनो राजो
२. एवमपि प्रचंतेसु यथा चोडा पाडा सतियपुत केतलपुतो आ तंब
३. पंगी अंतियोको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं
४. राजानो सर्वत्र देवानं प्रियस प्रियदसिनो राजो द्वे चिकीछ कता
५. मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च [१] ओसुढानि च यानि  
मनुसोपगानि च
६. पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्रा हारापितानि च रोपा-  
पितानि च [२]
७. मूलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत हारापितानि रोपा-  
पितानि च [३]

❧ ३१० राजबली पाण्डेय, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर ।

८. पंथेसू कूपा च खानापिता ब्रह्मा च रोपापिता परिभोगाय-  
पसुमनुसानं [४]

### तृतीय अभिलेख

१. देवानं प्रियो पियदसि राजा एवं आह [१] द्वादस बासाभिसितेन  
मया इदं आजपितं [२]
२. सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पंचसु पंचसु  
वासेसु अनुसं-
३. यानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धंमानुसस्थिय यथा अत्रा-
४. य कंमाय [३] साधु मातरि च पितरि च सुसूसा मित्रसंस्तुत-  
त्रातीनं बाम्हण-
५. समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभाडता  
साधु [४]
६. परिसा पि युते आजपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [५]

### चतुर्थ अभिलेख

१. अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा  
च भूतानं ज्ञातीसु—
२. असंप्रतिपती ब्राह्मणस्रमणानं असंप्रतीपती [१] त अज देवानं-  
प्रियस प्रियदसिना राजो
३. धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदर्सणा च  
हस्तिदसणा च
४. अगि खंधानि च अत्रानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्या जनं  
[२] यारिसे बहूहि वाससतेहि
५. न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राजो  
धंमानुसस्थिया अनारं—
६. भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ज्ञातीनं संपटिपती ब्रम्हण समणानं  
संपटिपती मातरि पितरि
७. सुसुसा थैरसुसुसा [३] एस अत्रे च बहुविधे धंमचरणे वढिते  
[४] वढयिसति चैव देवानंप्रियो
८. प्रियद्रसि राजा धंमचरणं इदं [५] पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च  
देवानंप्रियस प्रियदसिनो राजो

९. प्रवधयिसति इदं धंमचरणं आव सवटकपा धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसति [६]
१०. एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं [७] धंमचरणे पि न भवति असीलस [८] त इमम्हि अथम्हि
११. वधो च अहीनी च साधु [९] एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च
१२. नो लोचेतव्या [१०] द्वादस वासाभिसितेन देवानं प्रियेन प्रिय-  
दसिना राज्ञा इदं लेखापितं ।

### पंचम अभिलेख

१. देवानं प्रियो पियदसि राजा एवं आह [१] कलाणं दुकरं [२] यो आदिकरो कल्याणस सो दुकरं करोति [३]
२. त मया बहु कलाणं कतं [४] त मम पुता च पोता च परं च तेन य मे अपचं आव संवटकपा अनुवतिसरे तथा
३. सो सुकतं कासति [५] यो तु एत देसं पि हापेसति सो दुक्तं कासति [६] सुकरं हि पापं [७] अतिकातं अंतरं
४. न भूतप्रुवं धंममहामाता नाम [८] त मया त्रैदसवासाभिसितेन धंममहामाता कता [९] ते सव पांषडेसु व्यापता धामधिस्टानाय
५. ....धंमयुतस च योण कंबोज गंधारानं रिस्टिकपेतेणिकानं ये वा पि अंत्रे आपराता [१०] भतमयेसु व
६. ....सुखाय धंमयुतानं अपरिगोधाय व्यापता ते [११] बंधनबधस पटिविधानाय
७. ....प्रजा कताभीकारेसु वा थैरेसु वा व्यापता ते [१२] पाटलिपुते च बाहिरसु च
८. ....ये वा पि मे अत्रे त्रातिका सर्वं व्यापता ते [१३] यां अयं धंमनिस्सितो ति व
९. ....ते धंममहामाता [१४] एताय अथाय अयं धंमलिपी लिखिता
१०. ....



## १२. कर्पूरमंजरी\*

### प्रथम जवनिकान्तर

भद्रं भोदु सरस्सईएँ कइणो णंदन्तु वासाइणो  
अण्णाणं पि परं पअट्टदु वरा वाणी छइल्लप्पिआ ।  
वच्छोमी तह मागही फुरदु णो सा किं पि पंचालिया  
रीदीआ ओल्लिहंतु कव्वकुसला जोण्हं चओरा विअ ॥१॥  
अकलिअपरिरंभविढभमाई अजणिअचुम्बणडम्बराई दूरं ।  
अघडिअघणताडणाई णिच्चं णमह अणंगरईण मोहणाई ॥२॥

(नान्द्यन्ते) सूत्रधारः ।

ससिहण्डमण्डणाणं संमोहणासाणं सुरअणपियाणं ।  
गिरिसगिरिंदमुआणं संघाडी वो सुहं देउ ॥३॥

अवि अ

इसारोसप्पसादप्पणदिसु बहुसो सग्गंगाजलेणं  
आमूलं पूरिदाए तुहिणकरकलारुप्पसिप्पीअ र्हो ।  
जोण्हामुत्ताहलिल्लं णदमउल्लिण्हित्तंगहत्थेहिं दोहिं  
अघं सिग्घं व देंतो जअदि गिरिसुआपाअ पंकेरुहाणं ॥४॥

(परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखम् अवलोक्य) किं पुण णट्टपअट्टो  
विअ दीसदि अम्हकुसीलवाण पवञ्चो । जदो एक्का पत्तोचियाई  
सिचआई उच्चिणोदि । इअरा कुसुमावलीओ गुम्फेदि । अण्णा  
पडिसीसआई पसारेदि । कावि हु पट्टए वणिणआओ वट्टेदि । एस  
वंसो ठविदो ठाणे । इअं वीणा पडिसारीअदि । इमे तिणिण वि  
मुअंगा सज्जिज्जति । एस कंसतालाणं पक्खाउज्जाण हलवोलो ।  
एदं धुवागीदं आलवीअदि । ता किं पे कुट्टुम्बं हक्कारिअ पुच्छिस्सं ।  
(नेपथ्याभिमुखम् संज्ञापयति) ।

(प्रविश्य) पारिपाश्विकः—आणवेदु भाओ ।

सूत्रधारः—किं पुण णट्टपअट्टा विअ दीसध ।

पारिपाश्विकः—सट्टअं णच्चिदव्वं ।

\* पाठ—सम्गादन : ड० आर० पी० पोद्दार, प्राकृत शोध संस्थान,  
वैशाली १९७४ ।

सूत्रधारः—को उण तस्स कई ।

पारिपार्श्विकः—

भाव कहिज्जदु एदं को भण्णइ रअणिवल्लहसिहण्डो ।  
रहुकुलचूडामणिणो महिन्दवालस्स को अ गुरु ॥५॥

सूत्रधारः—( विचिन्त्य ) अए पण्होत्तरं एदं । ( प्रकाशं ) रायसेहरो ।

पारिपार्श्विकः—सो एदस्स कई ।

सूत्रधारः—( स्मृत्वा ) कथिदं ज्जेव छइल्लोहि ।

सो सदुओ त्ति भण्णइ दूरं जो णाडिआएँ अणुहरदि ।  
किं पुण पवेसअविक्खम्भआइ इह केवलं णत्थि ॥६॥

( विचिन्त्य ) ता किं त्ति सक्कअं परिहरिअ पाइअबन्धे पअट्टो कई ।

पारिपार्श्विकः—सब्बभासा-चदुरेण तेण भणिदं ज्जेव जहा—

अत्थविसेसा ते च्चिअ सद्दा ते च्चेव परिणमन्ता वि ।  
उत्तिविसेसो कव्वं भासा जा होउ सा होउ ॥७॥

सूत्रधारः—ता अप्पा किं ण वणिणदो तेण ।

पारिपार्श्विकः—सुणदु । वणिणदो ज्जेव तक्कालकईणं मज्झमि मअङ्कलेहा  
कहाकारेण अवराइएण, जधा—

बालकई कइराओ णिम्भरराअस्स तह उवज्जाओ ।  
इअ जस्स पएहिं परम्पराये माहूपमारूढं ॥८॥  
सो एअस्स कई सिरिराअसेहरो तिहुअणं पि धवलेन्ति ।  
हरिणंकपाडिसिद्धीएँ णिक्कलंका गुणा जस्स ॥९॥

सूत्रधारः—ता केण सभादिट्ठा पउंजध ।

पारिपार्श्विकः—

चाहुआणकुलमौलिमालिआ राअसेहरकइन्दगेहिणी ।  
भत्तुणो किदिमवन्तिसुन्दरी सा पउंजइदुमेदमिच्छदि ॥१०॥

किं च

चण्डबालधरणीहरिणंको चक्कवट्टिपअलाहणिमित्तं ।  
एत्थ सदुअवरे रससोत्ते कुंतलाहिदसुदं परिणेदि ॥११॥

ता भाव एहि । अणन्तरकरणज्जं संपादेमह । जदो महारा-  
अस्स देईए भूमिअं घेतूण अज्जा अज्जभारिआ-अ जवणिअन्तरे  
चिट्ठदि । ( इति परिक्रम्य निष्क्रान्तौ ) ।

इति प्रस्तावना

( ततः प्रविशति राजा देवी विदूषको विभवतश्च परिवारः । सर्वे परिक्रम्य यथोचितं उपविशन्ति )

राजा—देवि दक्षिणाहिवर्णारिदणंदणे वद्धावीअसि वसंतारम्भेण । जदो—

बिम्बोद्वे वहलं ण देति मअणं णो गंधतेल्लाविला  
वेणीओ विरअन्ति लेन्ति ण तथा अंगम्मि कुप्पासअं ।  
जं बाला मुहकुंकुमम्मि वि घणे वट्टन्ति ढिल्लाअरा  
तं मण्णे सिसिरं विणिज्जिय बला पत्तो वसन्तूसवो ॥१२॥

देवी—अहं पि पडिवद्धाविआ भविस्सं । जधा—

छोल्लति दंतरअणाइं गदे तुसारे  
इसीसि चंदणरसम्मि मणं कुणंति ।  
एण्ह सुवति घरमज्जिमसालिआसु  
पाअन्तपुजितपडं मिहुणाइं पेच्छ ॥१३॥

(नेपथ्ये) वैतालिकयोरेकः—जअ पुव्वदिगंगणाभुअंग-चम्पाचम्पअकण्णऊर-  
राढाजणिदराढ-चंगत्तणणिज्जिदकामरूव-परिकेलीकेलिआर-अव-  
मण्णिअ-कण्णसुवण्णदाण-सव्वंगसुंदरत्तणरमणिज्ज सुहाअ  
देवस्स भोदु सुरहिसमयसमारम्भो । इह हि—

पंडीणं गण्डबालीपुलअणचवला कंचिबालाबलाणं  
माणं दोखण्डअन्ता रदिरहसअरा चोडचोडालआणं ।  
कण्णाडीणं कुणन्ता कुरलतरलणं कुन्तलीणं पिएसुं  
गुम्फन्ता णेहगण्ठि मलअसिहरिणो सिघला एन्ति वाआ ॥१४॥

(अत्रैव) द्वितीयः—

जादं कुंकुमपंकलीढमरढीगण्डप्पहं चम्पअं  
थोआवट्टिददुद्धमुद्धकुसुमा पम्फुल्लिया मल्लिआ ।  
मूले सामलमगलमगभसलं लक्खिज्जए किमुअं  
पिज्जंतं भमरेहिं दोहि वि दिसाभाएमु लगेहि व ॥१५॥

राजा—पिए विब्भमलेहे को अहं वद्धावओ तुज्ज का तुमं पि वद्धाविआ  
मज्ज । कि पुण दो-वि अम्हे वद्धाविआ कंचणचण्डरअणचण्डेहिं  
वन्दीहिं । ता विब्भमपअट्टावअं तरट्टीणं णट्टावअं मलअमारुदन्दो-  
लिदचन्दणलदाणचवणीणं चारुपवंचिदपंचमं कलकंठिकंठेसु कंद-



लिदकंदप्पकोदण्डदण्डचण्डिमं गिद्धबंधवं वसुन्धरापुरन्धीए ता  
वित्थारिद पसइप्पमाणच्छिणी महोच्छवं जहिच्छं पेच्छ ।

देवी—जधा निवेदिदं वन्दीहि पअट्टा ज्जेव मलआणिला । तथा अ

लंकातोरणमालिआतरलिणो कृंभुभवस्सासमे  
मंदंदोलिदचंदणदुमलदा कप्पूरसंपविकणो ।  
कंकोलीकुलकंपिणो फणिलदाणिप्पट्टणट्टावआ  
चण्डंचुंबिदतंबपणिसलिला वाअन्ति चेत्ताणिला ॥१६॥

अवि अ

माणं मुंचध देह वल्लहजणे दिट्ठ तरंगुत्तरं  
तारुणं दिअहाइं पंच दह वा पीणत्थणुत्थंभणं ।  
इत्थं कोइलमंजुंसिजिदमिसा देवस्स पंचेसुणो  
दिण्णा चेतमहूसवेण सइसा आण-व्व सव्वंकसा ॥१७॥

विदूषकः—भो तुम्हाणं सव्वस्सि मज्जे अहं एवको कालक्खरिओ जस्स मे  
ससुरओ<sup>१</sup> परधरेसु पोत्थाइ वहंतो आसि ।

चेटी—(विहस्य) तदो कमागदं ते पण्डच्चं ।

विदूषकः—(सक्रोधम्)—आ दासीए धूदे भविस्सकुट्टिणि गिल्लक्खणे अवि-  
अक्खणे ईदिसोहं मुखो जं तए वि उवहसीआमि । अण्णं च रे  
परपुत्तविट्ठालिणि भमरटेण्ठे टेण्ठाकराले दुट्ठसंघडिदे—अहवा  
हत्थे कंकणं किं दप्पणेण ।

विचक्षणा—एवं णेदं । तुरंगस्स सिग्घत्तणे किं सक्खिणो पुच्छिज्जति ।  
ता वण्णअ वसंतं ।

विदूषकः—कधं पंजरगदा सारि-व्व कुरुकुरुअन्ती चिट्ठसि । ण किं पि  
जाणासि । ता पियवअस्सस्स देवीए पुरदो पढिस्सं । जदो ण  
कत्थूरिआ गामे वणे वा विक्किणीअदि । णेदं सुवण्णं जं कस-  
वट्ठिअं विणा कसीअदि । (इति पठति) ।

फुल्लुक्करं कलमकूरसमं वहंति  
जे सिधुवारविडवा मह वल्लहा ते ।  
जे गलिअस्स महिसीदहिणो सरिच्छा  
ते किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुंजा ॥१८॥

१. पंडिअघरे ।

विचक्षणा—(विहस्य) गिअकंतारत्तणजोगं ते वअणं ।

विदूषकः—किं पि उदारवअणा तुमं पढ ।

देवी—(किञ्चत् स्मित्वा) सहि विअक्खणे अम्हाणं पुरदो तुमं गाढ कइ-  
त्तणेण उताणा भोसि । ता पढ संपदं अज्जउत्तस्स पुरदो सअं कदं  
कव्वं । जदो तं कव्वं जं सहाए पढोअदि । तं सुवण्णं जं कस्स-  
वट्टिआए णिव्वहदि । सा घरिणी जा पदि रंजेदि ।

विचक्षणा—जं देवी आणवेदि । (इति पठति)

जे लंकागिरिमेह्लाहिं खलिदा संभोअखिण्णोरई  
फारप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिदूत्तणं ।  
ते एण्ह मलआणिला विरहिणीणीसाससंपक्कणो  
जादा झत्ति सिमुत्तणे वि वहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥१९॥

राजा—सच्चं विअक्खणा विअक्खणा चदुरत्तणे उत्तीणं ता किं पि अण्णं  
विचित्ताए । कइणं सुकइ-त्ति । कइचूडामणित्तणे ठिदा एसा ।

विदूषकः—(सक्रोधम्) ता उज्जुअं ज्जेव किं ण भण्णइ अचुत्तमा  
विअक्खणा अच्चाधमो कविजलो बंभणो ति ।

विचक्षणा—अज्ज मा कुप्प । कव्वं ज्जेव कवित्तणं पिमुणेदि । जदा  
गिअकंतारत्तणणिदगिज्जे वि अत्थे सुकुमारा दे वाणी, लंबत्थ-  
णीए विअ एक्कावली, तुंडिलाए विअ कंचुलिआ, काणाए विअ  
कज्जलसलाआ सुट्ठुतरं ण भादि रमणिज्जा ।

विदूषकः—तुव्व भ उण रमणिज्जे-वि अत्थे ण सुंदरा सदावली । कणअकडि-  
सुत्तए विअ लोहकिंकणीमालिआ, पडिपट्टे विअ टसरिविरअणा,  
गोरंगीए विअ चंदणचच्चा ण चारुत्तणं अवल्लेवेदि । तथा वि  
तुमं वण्णीअसि ।

विचक्षणा—अज्ज का तुम्हेहिं समं अम्हाणं पाडिसिद्धी । जदो तुमं पाराओ  
विअ गिरक्खरो वि रअणतुलाए णिउंजीअसि । अहं पुण तुलं  
व्व लद्धक्खरा वि ण सुवण्णतोलणे णिसंजीआमि ।

विदूषकः—(सक्रोधम्) एवं मह भणंतीए तुह वामं दक्खिणं च जुहिट्टिल-  
जेठ्ठभाअरणामधेअं अंगजुअलं तडत्ति उप्पाडइस्सं ।

विचक्षणा—तुज्ज पुणो हं उत्तरफग्गुणीपुरस्सरणामधेअं अंगं तडत्ति  
खण्डिस्सं ।

राजा—वअस्स कइत्तणे ठिदा एसा ।

विदूषकः—ता उज्जुअं ज्जेव किं ण भण्णइ अम्हाणं चेडिआ हरिउड्ढ-  
णँदिउड्ढ-पोट्टिस-हालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइ त्ति ।

राजा—एवं णेदं ।

(विदूषकः रूढ इव सक्रोधम् उत्थाय परिक्रामति)

विचक्षणा—(विहस्य) तर्हि गच्छ जर्हि मे मादाए पढम साडोलिआ गदा ।

विदूषकः—(वलितश्रीवम्) तुवं पुण तर्हि गच्छ जर्हि मे मादाए पढमा  
दंतावली गदा । अण्णं च, ईदिसस्स राउलस्स भद्दं भोदु जर्हि  
चेडिआ बंभणेण समं समसीसिआए दीसदि, मइरा पंचगव्वं च  
एक्कस्सि भण्डे कीरदि, कच्चं माणिककं च समं आहरणे  
पउंजीअदि ।

विचक्षणा—इह राउले तं ते भोदु कण्ठट्टिदं जं तिलोअणो भअवं सीसे  
समुव्वहदि । तेणं च दे मुहं चूरीअदु जेण असोअतरू दोहलं  
लहेदि ।

विदूषकः—आ दासीए पुत्ति टेण्णकराले कोसअवट्टिणि रच्छालोट्टिणि  
एवं मं भणसि । ता महं महंभणस्स भणिदेण तं तुमं लहं जं  
फग्गुणसमए सोहज्जणो जणादो लहेदि, जं च पामराहितो  
गलिवइल्लो लहेदि ।

विचक्षणा—अहं पुण तुह एवं भणंतस्स णेउरस्स विअ पाअलग्गस्स पाएण  
मुहं चूरइस्सं । अण्णं च, उत्तरासाढापुस्सर णक्खत्तणामधेअं  
अंगजुअलं उप्पाडिअ घल्लिस्सं ।

विदूषकः—(सक्रोधम् परिक्रामन् जवनिकान्तरे किञ्चिदुच्चैः) ईदिस  
राउलं दूरेण वंदीअदि जर्हि दासो बंभणेण समं पडिसिद्धि  
करेदि । ता अज्जपहुदि णिअवसुंधराणाम बंभणीए चलण-  
सुस्सुअओ भविअ गेहे ज्जेव चिट्ठस्सं ।

( सर्वे हसन्ति )

देवी—कीदिसी अज्ज कविजलेण विणा गोट्टी, कीदिसी उण णअणंजणेण  
विणा पसाहणालच्छी ।

(नेपथ्ये) विदूषकः—ण ह्ण ह्ण आगमिस्सं । अण्णो कोवि पिअवअस्सो  
वअस्सेण अण्णेसीअदु । एसा वा दुट्टदासी लम्बकुच्चं टप्परकण्णं  
पडिसीअअं देइअ महं ठाणे कीरदु । अहं एक्को मुदो तुम्हाणं  
सव्वाणं मज्झमि । तुम्हे उण वरिस सअं जीवध ।

राजा—कर्विजलेण विणा कुदो हिअअस्स णिव्वुदि । विचक्षणा । मा  
अणुसंधेध । अणुणअकक्कसो ख कर्विजलबंभणो । सलिलसित्तो  
सणगुणगंठी दिहं गाढअरो भोदि ।

देवी—(समन्तादवलोक्य)

गाअन्तगोववहूपअपेखिदासु

दोलासु विब्भमवदीसु णिविट्ठिट्ठी ।

जं जादि खंजिदतुरंगरहो दिणेसो

तेण व्व होंति दिअहा अइदीहदीहा ॥२०॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण)

विदूषकः—आसणं आसणं ।

राजा—किं तेण ।

विदूषकः—भइरवाणंद दुवारे । उवविस्सदि ।

राजा—किं सो जो जणवअणादो अच्चवभुदसिद्धी सुणीअदि ।

विदूषकः—अध किं ।

राजा—पवेसअ ।

(विदूषको निष्क्रम्य तेनैव सह प्रविशति)

भैरवानन्दः—(किञ्चिन् मदमभिनीय)

मंतो ण तंतो ण अ किं पि जाणे

ज्ञाणं च ण किं पि गुरुप्पसादा ।

मज्जं पिवामो महिलं रमामो

मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा ॥२१॥

अवि अ

रणडा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा

मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।

भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा

कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो ॥२२॥

किं च

मुत्ति भणति हरिबम्हमुहा वि देवा

ज्ञाणेण वेअपढणेण कदुक्किआहिं ।

एककेण केवलमुमादइदेण दिट्ठो

मोक्खो समं सुरअकेलिसुरारसेहिं ॥२३॥

राजा—इदं आसणं । उवविसदु भइरवाणंदो ।

भैरवानन्दः—(उपविश्य) किं कादव्वं ।

राजा—कहिं पि विसए अच्छरिअं दट्ठुं इच्छामि ।

भैरवानन्दः—

दसेमि तं पि सणिणं वसुहावइण्णं

थम्भेमि तस्स वि रविस्स रहं णहद्धे ।

आणेमि जक्खसुरसिद्धगणंगणाओ

तं णत्थि भूमिबलए मइ जं ण सज्जं ॥२४॥

ता भणं किं कीरदु ।

राजा—वअस्स भण किं-पि अउव्वं दिट्ठं महिलारअणं ।

विदूषकः—अत्थि एत्थ दक्खिणावहे वच्छोमं णाम णअरं । तहिं मए एक्कं  
कण्णआरअणं दिट्ठं । तं इह आणीअदु ।

भैरवानन्दः—आणीअदि ।

राजा—अवदारिज्जदु पुण्णिमाहरिणंको धरणीअलम्मि ।

(भैरवानन्दो ध्यानं नाटयति)

(ततः प्रविशति पटाक्षेपेण नायिका । सर्वे अवलोकयन्ति ।)

राजा—अहह अच्छरिअं अच्छरिअं ।

जं धोअंजणसोणलोअणजुअं लग्गालअग्गं मुहं

हत्थालम्बिदकेसपल्लवचाए दोलंति जं बिदुणो ।

जं एक्कं सिचअंचलं णिवसिदं तं ष्हाणकेलिट्ठिदा

आणीदा इअमब्भूदेक्कजणणी जोईसरेणामुणा ॥२५॥

अवि अ

एक्केण पाणिणलिणेण णिवेसअंती

वत्थंचलं घणथणत्थलसंसमाणं ।

चित्ते लिहिज्जदि ण कस्स-वि संजमंती

अण्णेण चंकमणदो चलिदं कडिल्लं ॥२६॥

विदूषकः—

णहाणावमुक्काहरणुच्चवाए तरंगभंगक्खदमण्डणाए ।

ओल्लंमुउल्लासिथगल्लणाए सुन्देरसव्वस्समिमोएँ दिट्ठी ॥२७॥

नायिका—(सर्वानवलोक्य स्वगतम्) एस महाराओ को-वि इमिणा गम्भीर-  
महुरेण सोहासमुदएण जाणीअदि । एसा वि एदस्स महादेवी

लक्वीअदि । अद्धणारीसरस्स वामद्धे अकहिआ वि गोरी  
मुणिज्जदि । एसो वि जोईसरो । एस उण परिअणो । (विचिन्थ)  
ता कि-ति एदस्स महिला सहिदस्स वि दिट्ठी मं बहु मण्णेदि  
(इति त्र्यस्रं वीक्षते) ।

राजा—(विदूषकमपवार्यं)

जं मुक्का सवणंतरेण सहसा तिक्खा कडक्खच्छडा  
भिगाहिट्ठिकेदअ-अग्गिमदलदुदोणीसरिच्छच्छवी ।  
तं कप्पूरसेण णं धवल्लिदो जोप्हाएँ णं भ्हाविदो  
मुत्ताणं घणरेणुण-व्व छुरिदो जादो मिह एत्थंतरे ॥१८॥

(विदूषकं तथैव) अहो से रूवसोहा ।

मण्णे मज्झं तिवल्लिवल्लिअं डिम्भमुट्ठीअ गेज्झं  
णो बाहूहिं रमणफलअं वेढिदुं जादि दोहिं ।  
णेत्तच्छेतं तरुणपसईकिज्जमाणोवमाणं  
ता पच्चक्ख मह विल्लिहिदुं जादि एसा ण चित्ते ॥२९॥  
कहं ण्हाणधोदविल्लेवणा वि समुत्तारिदभूसणा-वि रमणिज्जा ।

अह वा

रूवेण मुक्काओ विभूसीअंति ताणं अलंकारवसेण सोहा ।  
णिसग्गचंगस्स ण माणुसस्स सोहा समुम्मिलदि भूसणेहिं ॥३०॥

एदाए एदं दाव । जदो ।

लावणं णवजच्चकंचणणिहं णेत्ताण दीहत्तणं  
कण्णेहिं खल्लिदं कवोलफलआ दोखण्डचंदोवमा ।  
एसा पंचसरेण संधिदधणुदण्डेण रक्खिज्जए  
जेणं सोसणमोहणप्पहुदिणो विधंति मं मग्गणा ॥३१॥

विदूषकः—(विहस्य) जाणे रच्छासु लुण्ठदि तुह सोण्डीरत्तणं ।

राजा—(विहस्य) पिअवअस्स कधेमि दे ।

अंगं चंगं णिअगुणगणालंकिदं कामिणीणं  
पच्छाअंती तणुगुणसिंरिं भादि णेवच्छलच्छी ।  
इत्थं जाणं अवअवगदा का वि सुन्देरमुद्धा  
मण्णे ताणं वल्लिदधणू णिच्चभिच्चो अणंगो ॥३२॥

अवि-अ एदाए

तहा रमणवित्थरो जह ण ठादि कंचीलदा  
 तहा सिहिणत्तुगिमा जह णिएइ णाहि ण-हु ।  
 तहा णअणवडिढमा जह ण किं पि कण्णुप्पलं  
 तहा अ मुहमुज्जलं दुससिणो जहा पुण्णिमा ॥३३॥

देवी—अज्ज कविज्जल पुच्छिअ जाण का एस त्ति ।

विदूषकः—(तां प्रति) एहि मुद्धमुहि उवविसिअ णिवेदेहि का तुमं ति ।

देवी—आसणं इमीए ।

विदूषकः—एदं मे उत्तरीअं ।

(विदूषकनायिके वस्त्रदानेन उपवेशने नाटयतः)

विदूषकः—संपदं कहिज्जदु ।

नायिका—अत्थि एत्थ दक्खिणावहे कुंतलेसुं सअलजणवल्लहो । वल्लहराओ  
 णाम राआ ।

देवी—(स्वगतम्) जो मह माउच्छओ होदि ।

नायिका—तस्स घरणी ससिप्पहा णाम ।

देवी—सा वि मे माउच्छिआ ।

नायिका—(विहस्य) तोहं अहं खलखण्डेहि कीदा दुहिद-त्ति बुच्चामि ।

देवी—(स्वगतम्) णहि ससिप्पहागब्भमंतरेण ईदिसी रूवसोहा । णो वा  
 विदूरभूमिगब्भुप्पत्ति अन्तरेण वेरूलिअमणिसलाआ णिप्पज्जति ।  
 (प्रकाशं) णं तुवं कप्पूरमंजरी ।

(नायिका अधोमुखी तिष्ठति)

देवी—एहि बहिणिए आलिगसु मं । (इति परिष्वजेते) ।

नायिका—अम्ह कप्पूरमंजरीए एसो पढमपणामो ।

देवी—अज्ज मए भइरवाणंद तुज्ज पसाएण अपुवं संविहाणअं अणुभविदं  
 बहिणिआए दंसणेण । चिट्ठु दाव पंचसत्तदिवसाई । पच्छा ज्ञाण-  
 विमाणेण पुणो णइस्सघ ।

भैरवानन्दः—जं भणदि देवी ।

विदूषकः—(राजानम् उद्दिश्य) अम्हे परं इत्थ दुवे-वि बाहिरा तुवं अहं च ।  
 जदो एदाणं मिलिदं कुट्टुम्बं वट्टदि । जदो इमीओ दो वि बहिणि-  
 आओ । भइरवाणंदो उण एदाणं संजोअरओ अग्घिदो

महृग्घदो । एसा विअक्खणा महीअल सरस्सई कुट्टिणी देवीज्जेव  
देहंतरेण वट्टदि ।

देवी—विअक्खणे णिअजेट्टबहिणिअं सुलक्खणं भणिअ भइरवाणंदस्स हिअ-  
इच्छिदा सपज्जा कादव्वा ।

विचक्षणा—जं देवी आगवेदि ।

देवी—(राजानं प्रति) अज्जउत्त पेसेहि मं जेण बहिणीए एदावत्थाए  
णेवच्छलच्छीलीलाणिमित्तं अंतेउरं गमिस्सं ।

राजा—जुज्जदि चंपअलदाए कत्थूरिआकप्पूररसेहिं आलवालपूरणं ।

(नेपथ्ये) वैतालिकयोरेकः—सुसंज्ञा भोदु देवस्स ।

एदं वासरजीवपिण्डसरिसं चण्डंसुणो मण्डलं

को जाणादि कहिं-पि संपदि गदं पत्तम्मि कालंतरे ।

जादा किं च इअं पि दीहविरहा सोऊण णाहे गदे

मुच्छामुट्टिदलोअण व्व णलिणी मोलन्तपकेरुहा ॥३४॥

द्वितीयः

उग्घाडिज्जंति लीलामणिमअवलहीचित्तभित्तिणिवेसा

पल्लंका किंकीरिहि उदुसमअसुहा पत्थरिज्जंति झत्ति ।

सेरन्धी लोलहत्थंगुलिचलणवसा पट्टसद्दो पअट्टो

हुंकारो मण्डवेसु विलसदि महुरा रुट्टुट्टुगणाणं ॥३५॥

राजा—अम्हे वि संज्ञं वंदिदुं गमिस्सामो ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमं जवनिकान्तरम् ।





## १३. कहाणय अट्ठगं\*

### १. पाडलिपुत्तरायकुमारो मूलदेवो

[१] अत्थि उजेणी नयरी । तीए य असेस-कला-कुसलो अणेण-विन्नाण-निउणो उदार-चित्तो कयन्तू पडिवन्त-सूरो गुणाणुराई पियंवओ दक्खो रूव-लावण्णतारुण-कलिओ मूलदेवो नाम रायउत्तो पाडलिपुत्ताओ जूय-वसणा-सत्तो जणगावमाणेण पुहावि परिब्भमतो तत्थ समागओ । तत्थ गुलिया-पओगेण परावत्तिय-वेसो वामणयागारो विम्हावेइ विचित्त-कहाहिं गंधवाइ-कलाहिं नाणा-कोउगेहिं य नायर-जणं पसिद्धो जाओ ।

[२] अत्थि य तत्थ रूव-लावण-विण्णाण-गव्विया देवदत्ता नाम पहाणा गणिया । सुयं च तेण, न रंजिज्जइ एसा केणइ सामन्न-पुरिसेण अत्त-गव्विया । तओ कोउगेण तीए खोहणत्थं पच्चूस-समए आसन्न-त्थेण आढत्तंसु-महुर-रवं बहुभंगि-घोलिर-कठं अन्नन्न-वण-सवेह-रमणिज्जं गंधवं । सुयं च तं देवदत्ताए । चित्तियं च । अहो, अउव्वा, वाणी, ता दिव्वो एस कोइ, न मणुस्स-मेत्तो । गवेसाविओ चेडीहिं । गविट्ठो दिट्ठो मूलदेवो वामणरूवो । साहियं जहट्टियमेईए । पेसिया तीए तस्स वाहरणत्थं माहवाभिहाणा खुज्ज-चेडी । गंतूण विणय-पुव्वं भणिओ तीए । भो महा-सत्त, अम्ह सामिणी देवदत्ता विन्नवेइ । कुणह पसायं, एह अम्ह घरं । तेण य वियइढयाए भणियं । न पओयणं मे गणिया-जणसंगेण, निवारिओ विसिट्ठाण वेसा-जण-संसग्गो । भणियं च—

या विचित्र विट कोटि निधुष्ठा मद्य मांस निरताति निकुष्ठा ।

कोमला वचसि चेतसि दुष्ठा तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः ॥१॥

योपतापन पराग्नि शिखेव चित्त मोहन करी मदिरेव ।

देह दारण करी क्षुरिकेव गहिता हि गणिका शलिकेव ॥२॥

[३] अओ नत्थि मे गमणाभिलासो । तीए वि अणेगाहिं भणिइ-भंगीहिं आराहिऊण चित्तं महा-निव्वंधेण करे घेतूण नीओ घरं । वच्चतेण य सा खुज्जा कला-कोसल्लेण विज्जा-पओगेण य अण्फालिऊण कया पउणा । विम्हय-खित्त मणाए पवेसिओ सो भवणे । दिट्ठो देवदत्ताए वामण-रूवो अउव्व-लावण-धारी । विम्हयाए य दवावियमासणं । निसण्णो य सो,

\* पाठ सम्पादन—डॉ० राजाराम जैन, आरा, १९८१ ।

दिन्नो तंबोलो, दंसियं च माहवीए अत्तणो रूवं, कहिओ य वइयरो । सुदट्ठुरं विम्हिहा, पारद्धो आलावो महुराहिं वियड्ढ-भणिईहिं । आगरि-सियं च तेण तीए हिययं । भणियं च—

अणुणय-कुसलं परिहास-पेसलं लडह-वाणि-दुल्ललियं ।  
आलवणं पि हु छेयाण कम्मणं किं च मूलीहिं ॥३॥

[४] एत्थंतरे आगओ तत्थेगो वीणा-वायगो । वाइया तेण वीणा । रंजिया देवदत्ता । भणियं च, साहु भो वीणा-वायग, साहु सोहणा ते कला । मूलदेवेण भणियं, अहो अइनिउणो उज्जेणीजणो, जाणइ सुन्दरा-सुन्दर-विसेसं । देवदत्ताए भणियं, भो किमेत्थ खूणं । तेण भणियं, वंसो चेव असुद्धो, सगग्भा य तंती । तीए भणियं, कहं जाणिज्जइ । दंसेमि अहं । समप्पिया वीणा, कडिद्धओ वंसाओ पाहणगो, तंतीए वालो । समारिऊण वाइउं पयत्तो । कया पराहीण-माणसा स-परियणा देवदत्ता । पच्चासन्ने य करेणुया सया रवण-सीला आसि । सा वि ठिया घुम्मंती ओलंवित्रिय-ऊण्णा । अईव विम्हिहा देवदत्ता वीणावायगो य । चितियं च, अहो पच्छन्न-वेसो विस्सकम्मा एस । प्इऊण तीए पेसिओ वीणा-वायगो ।

[५] आगया भोयण-वेला । भणियं देवदत्ताए, वाहरह अंग-मह्यं, जेण दो वि अम्हे मज्जामो । मूलदेवेण भणियं, अणुमन्नह, अहं चेव करेमि तुम्ह अब्भंगणकम्मं । किमेयं पि जाणासि । न-याणामि सम्मं, परं ठिओ जाणगाण सयासे । आणियं चंपण-तेलं, आढत्तो अब्भंगिउं । कया पराहीण-मणा । चितियं च णाए, अहो विन्नाणाइसओ, अहो अउव्वो करयल-फासो । ता भवियव्वं केणइ इमिणा सिद्ध-पुरिसेण पच्छन्न-रूवेण, न पयईए एवं रूवस्स इमो पगरिसो त्ति । ता पयडीकरावेमि रूवं । निवडिया चलणेसु, भणिओ य, भो महाणुभाव असरिस-गुणेहिं चेव नाओ उत्तम-पुरिसो पडिवन्न-वच्छलो दक्खिण-पहाणो य तुमं । ता दंसेहिं मे अत्ताणयं । बाढं उक्कठियं तुह दंसणस्स मे हिययं ।

[६] मूलदेवेण य पुणो-पुणो निब्वंधे कए ईसि हंसिऊण अवणीया वेस-परावत्तिणी गुलिया । जाओ सहावत्थो । दिट्ठो दिण-नाहोव्व दिप्पंत-त्तेओ, अणंगो व्व मोहयतो रूवेण सयल-जणं सव-जोव्वण-लायण-संपुण-वेहो । हरिसवसुब्भिन्न-रोमं च, पुणो निवडिया चलणेसु । भणियं च महा-पसाओ त्ति । अब्भंगिओ स-हत्थेहिं । मज्जियाइं दो वि जिमियाइं महा-विभूईए, पडिराविओ देव-दूसे, ठियाइं विसिट्ठ-गोट्ठीए । भणियं च तीए, महाभाग, तुमं मोत्तूण न केणइ अणुरंजियं मे अवर-पुरिसेण माणसं । ता सच्चमेयं,

नयणेहि को न दीसइ केण समाणं न होति उल्लावा ।  
 हिययाणंदं जं पुण जणेइ तं माणुसं विरलं ॥४॥  
 ता ममाणुरोहेण एत्थ घरे निच्चमेवागंतव्वं । मूलदेवेण भणियं, गुणराइणि,  
 अन्नदेसिएसु निद्वणेसु अम्हारिसेसु न रेहए पडिबंधो, न य थिरी-ह्वइ ।  
 पाएण सव्वस्स वि कज्ज-वसेण चैव नेहो । भणिय च,

वृक्षं क्षीण-फलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः

पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुषा दग्धं वनान्तं मृगाः ।—इलोक (क)

निद्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः ।

सर्वः कार्यवशाज्जनोऽभिरमते कः कस्य को वल्लभः ॥५॥

तीए भणियं, सदेसो परदेसो वा अकारणं सप्पुरिसाणं । भणियं च—

जलहि-विसंघडिएण वि निवसिज्जइ हर-सिरम्मि चंदेणं ।

जत्थ गया तत्थ गया गुणिणो सीसेण बुज्जंति ॥६॥

तहा अत्थो वि असारो, न तम्मि वियक्खणाण बहुमाणो । अवि य  
 गुणेसु चेवाणुराओ ह्वइ त्ति । कि च,

वाया सहस्स-मइया सिणेह-निज्जाइयं सय-सहस्सं ।

सव्भावो सज्जण-माणुसस्स कोडि विसेसेइ ॥७॥

ता सव्वहा पडिवज्जसु इमं पत्थणं ति । पडिवन्नं तेण । जाओ तेसि  
 नेह निम्भरो संजोणे ॥

[७] अन्नया राय-पुरओ पणच्चिया देवदत्ता । वाइओ मूलदेवेण  
 पडहो । तुट्ठो तीए राया । दिन्नो वरो । नासी-कओ तीए । सो य अइव  
 जूय-पसंगी, निवसण-मेत्तं पि न रहए । भणिओ य साणुणयं तीए पिय-  
 वाणीए । पिययम, को तुह इमं मयंकस्सेव हरिण-पडिबंधं तुम्हं सयल-  
 गुणालयाणं कलंकं चैय जूयवसणं । बहु-दोस-निहाणं च एयं । तहा हि ।

कडवक—कुलं—कलंकणु सच्च-पडिवक्खु गुरु-लज्जा-सोय-हरु ।

धम्य-विग्धु अत्थह पणात्तणु जु दाण-भोगहि रहिउ ॥

पुत्त-शर-पिइ-माइ मोसणु ।

जहिं न गणिज्जइ देउ गुरु जहिं न वि कज्जु अकज्जु ।

तणु-संतावणु कुगइ-पहु तहिं पिय जूइ म रज्जु ॥८॥

ता सव्वहा परिच्चयसु इमं । अइ-रसेण य न सक्कए मूलदेवो  
 परिहरिउं ॥

[८] अत्थि य देवदत्ताए गाढाणुरत्तो मूलिल्लो मित्तसेणो अयल-नामा  
 सत्थवाह-पुत्तो । देइ सो जं मग्गियं, संपाडेइ वत्थाभरणाइयं वहइ य सो  
 मूलदेवोवरि पओसं, मग्गइ य छिड्डाणि । तस्स संकाए न गच्छइ मूलदेवो ।

तीए घरं अवसरमंतरेण । भणिया य देवदत्ता जणणंए । पुत्ति, परिच्चय मूलदेवं । न किंचि निद्धण-चंगेण पओयणमेएण । सो महाणुभावो दाया अयलो पेसेइ पुणो पुणो बहुयं दव्वं-जायं ता तं चैव अंगीकरेसु सव्वप्पणयाए । न एक्कम्मि पडियारे दोन्नि करवालाइं मायंति, न य अलोणियं सिलं कोइ चट्टेइ । ता मुंच य जूरियमिमं ति । तीए भणियं, नाहं अंब, एगतेण धणाणुरागिणी, गुणेषु चैव मे पडिबंधो । जणणीए भणियं, केरिसा तस्स ज्यगारिस्स गुणा । तीए भणियं, अंब, केवल-गुणमओ खु सो । जओ—

धीरो उदार-चित्तो दक्खिण्ण-महोयही कला-निउणो ।

पिय-भासी य कयन्नु गुणाणुराईं विसेसन्नु ॥९॥

अओ न परिच्चयामि एयं । तओ साअ णेगेहिं दिट्ठतेहिं आढत्ता पडिबोहिउं । अलत्तए मग्गिए नीरसं पणामेइ । चोइया य पडिभणइ । जारिसमेयं तारिसो एसो ते पिययमो, तहा वि तुमं न परिच्चयसि । देवदत्ताए चितियं, मूढा एसा, तेणेवविहे दिट्ठते देइ ॥

[९] तओ अन्नया भणिया जणणी, अम्मो मग्गेहिं अयलं उच्छुं । कहियं च तीए तस्स । तेण वि सगडं भरेऊण पेसियं । तीए भणियं, किमहं करिणिया जेणेवंविहं स-पत्त-डालं उच्छुं पभूयं पेसिज्जइ । तीए भणियं, पुत्ति, उदारो खु तेण एवं पेसियं ति । चितियं च णेण, अन्नाणं पि सा दाहि ति । अवरदियहे देवदत्ताए भणिया माहवी । हला, भणाहि मूलदेवं जहा, उच्छुण उवरि सद्धा ता पेसेहि मे । तीए वि गंतूण कहियं । तेण वि गहियाओ दोन्नि उच्छुल्लट्ठीओ, निच्छोल्लिऊण कयाओ दुयगुल-पमाणाओ गंडियाओ, चाउज्ज एण य अवचुणियाओ, कप्पूरेण य मणागं वासियाओ मूलाहि य मणागं भिन्नाओ । गहियाइं अभिणव-मल्लगाइं, भरिऊण ताइं ढक्किऊण य पेसियाणि । ढोइयाइं च गंतूण माहवीए, दंसियाणि तीए वि जणणीए भणिया य, पेच्छ, अम्मो, पुरिसाण अंतर ति । ता अहं एएसि गुणाणमणुरत्ता । जणणीए चितियं । अच्चंत-मोहिया एसा, न परिच्चयइ अत्तणा इमं । ता करेमि कि पि उवायं जेण एसो वि कामुओ गच्छइ विएसं । तओ सुत्थं हवइ ति चित्तिऊण भणिओ अयलो । कहसु एईए पुरओ अलिय-गामंतर-गमणं । पच्छा मूलदेवे पविट्ठं मणुस्ससामग्गीए आगच्छेज्जह विमाणेज्जह य तं, जेण विमाणिओ संतो देस-च्चायं करेइ । ता संजुत्ता चिट्ठेज्जह, अहं ते वत्तं दाहामि । पडिवन्नं च तेण ।

[१०] अन्नम्मि दिणे कयं तहेव तेण । निग्गओ अलिय-गामंतर-गमण-मिसेण । पविट्ठो य मूलदेवो । जाणाविओ जणणीए अयलो, आगओ महा-

सामग्रीए । दिट्ठो य पविसमाणो देवदत्ताए । भणिओ य मूलदेवो, ईइसो  
 चेव अवसरो, पडिच्छियं च जणणीए एय-पेसियं दव्वं, ता तुमं पलंक-  
 हेट्ठओ मुहुत्तागं चिट्ठह ताव । ठिओ सो पलंक-हेट्ठओ । लक्खिओ  
 अयलेणं । निसण्णो पलंके अयलो । भणिया य सा तेण. करेह ण्हाण-  
 सामग्गि । देवदत्ताए भणियं एवं ति, ता उट्ठह, नियंसह पोत्ति, जेण  
 अब्भंगिज्जइ । अयलेण भणियं । मए दिट्ठो अज्ज सुमिणओ जहा, नियत्थिओ  
 चेव अब्भंगिय-गतो एत्थ पलंके आरूढो ण्हाओ त्ति । ता सच्चं सुमिणयं  
 करेसु । देवदत्ताए भणियं, नणु विणासिजए महग्घियं तूलियं गंडुयमाइयं ।  
 तेण भणियं, अन्नं ते विसिट्ठतरं दाहामि । जणणीए भणियं, एवं ति ।  
 तओ तत्थ-टिठओ चेव अब्भंगिओ उव्वट्ठिओ उप्पह-खलि-उदगेहि पमज्जिओ ।  
 भरिओ तेण हेट्ठ-टिठओ मूलदेवो । गहियाउहा पविट्ठा पुरिसा । सन्धिओ  
 जणणीए अयलो । गहिओ तेण मूलदेवो बालेहि भणिओ य । रे संपयं  
 निरूवेहि, जइ कोइ अत्थि ते सरणं । मूलदेवेणो य निरूवियाइं पासाइं,  
 जाव दिट्ठं निसियासि-हत्थेहि वेढियमत्ताणयं माणुसेहि । चितियं च नाहमे-  
 एसि उच्चरामि कायव्वं च मए वइर-निज्जायणं, निराउहो संपयं ता न  
 पोरिसस्सावसरो त्ति चितियं भणियं । जं ते रोयइ तं करेहि । अयलेण  
 चितियं, उत्तम-पुरिसो कोइ एस आगईए चेव नज्जइ । सुलभाणि य संसारे  
 महा-पुरिसाण वसणाइं । भणियं च,

को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी थिराइं पेम्माइं ।

कस्स व न होइ खलियं भण को व न खंडिओ विहिणा ॥१०॥

भणिओ मूलदेवो । भो एवविहावत्था-गओ मुक्को संपयं तुमं, मम पि विहि-  
 वसेण कयावि वसण-पत्तस्स एवं चेव करेज्जह ॥

[११] तओ विमण-दुम्मणो निग्गगो नयराओ मूलदेवो । पेच्छ, कहं  
 एएण छलिओ त्ति चितयंतो ण्हाओ सरोवरे, कया पडिवत्ती । चितिय,  
 गच्छामो विएसं, तत्थ गंतूण करेमि किपि इमस्स पडिविप्पिउवायं । पट्ठिओ  
 वेण्णायड-संमुहं । गाम-नयराइं-मज्जेण वच्चंतो पत्तो दुवालस-जोयण-  
 पमाणए अडवीए मुहं । चितियं च तत्थ, जइ कोइ वच्चंतो वाया-साहेज्जो  
 वि दुइओ लब्भइ ता सुहं चेव छिज्जइ अडवी । जाव थेव-वेलाए आगओ  
 विसिट्ठाकार-दंसणीओ संबल-थइयासणाहो ढक्क-बंभणो । पुच्छिओ य,  
 भो भट्ट, केदूरं गतव्वं । तेण भणियं, अत्थि अडवीए परओ वीरनिहाणं नाम  
 ठामं, तं गमिस्सामि । तुमं पुण कत्थ पत्थिओ । इयरेण भणियं, वेण्णायडं ।  
 भेण भणियं, ता एहि, गच्छमह ।

[१२] तओ पयट्टा दो वि । मज्झण्ह-समए य वच्चतेहिं दिट्ठं सरोवरं । ढक्केण भणियं, भो वीसमामो खणमेग ति । गया उदग-समीवं, धोया हूथ-पाया । गओ मूलदेवो पालि-संठिय-ख्वख-च्छायं । ढक्केण छोडिया संबल-थइया, गहिया वट्टयम्मि सत्तुया । ते जलेण ओलित्ता लग्गो भविखउं । मूलदेवेण चितियं, एरिसा चेव बंभण-जाई-भुवका-पहाणा हवइ, ता पच्छा मे दाही । भट्टो वि भुजित्ता बंधिऊण थइयं पयट्टो । मूलदेवो वि, नूणं अवरण्हे दाहि त्ति चित्तंतो अणुपयट्टो । तत्थ वि तहेव भुत्तं, न दिन्न तस्स । कल्लं दाहि त्ति आसाए गच्छइ एसो । वंचंताण य आगया रयगी । तओ वट्टाओ ओसरिऊण वडपायव-हेट्टओ पसुत्ता । पच्चूसे पुणो वि पत्थिया, मज्झण्हे तहेव थवका, तहेव भुत्तं ढक्केण, न दिन्न एयस्स । जाव तइव-दियहे चितियं मूलदेवेण । नित्थिण्णपाया अडवी, ता अज्ज अवरस्सं मम दाही एस । जाव तत्थ वि न दिन्न । नित्थिन्ना य तेहिं अडवी । जायाओ दोण्ह वि अनन्न-वट्टाओ । तओ भट्टेण भणियं, भो तुज्ज एस वट्टा, ममं पुण एस । ता वच्च तुमं एयाए । मूलदेवेण भणियं, भो भट्ट, आगओ हं तुज्ज पहावेणं, ता मज्झ मूलदेवो नामं, जइ कयाइ किपि पओयणं मे सिज्जइ ता आगच्छेज्ज बेण्णायडे । कि च तुज्ज नामं ? ढक्केण भणियं, सद्धडो, जण-कयावडंकेण निग्घणसम्मो नाम । तओ पत्थिओ भट्टो सगामं । मूलदेवो वि वेण्णायड-संमुहं ति ॥

[१३] अंतराले य दिट्ठं वसिमं । तत्थ पविट्ठो भिक्खा-निमित्तं हिडिय असेसं गामं, लद्धा कुम्मासा, न किपि अन्नं । गओ जलासयाभिमुहं । एत्थंतरम्मि य तव-सुसिय देहो महाणुभावो महातवस्सी मासोववास-पारणय-निमित्तं दिट्ठो पविसमाणो । तं च पेच्छिय हरिस-वसुब्भिन्न-पुलएण चितियं मूलदेवेण । अहो, धन्नो कयत्थो अहं, जस्स इमम्मि काले एस महा-तवरसी दंसण-पहमागओ । ता अवरस्सं भवियव्वं मम कल्लाणेण । अवि य,

मरुत्थलीए जह कप्प-ख्वखो दरिद्द-गेहे जह हेम-बुट्ठी ।

मायंग-गेहे जह हूत्थि-राया मुणी महप्पा एत्थ एसो ॥११॥

किं च,

दंसण-नाण-विसुद्धं पंच-महव्वय-समाहियं धीरं ।

खंती-मद्दव-अज्जव-जुत्तं मुत्ति-प्पहाणं च ॥१२॥

सज्झाय-ज्झाण-तवोवहाण-निरयं विसुद्ध-लेसागं ।

पंचसमियं ति-गुत्तं अकिचण चत्तगिहि-संगं ॥१३॥

सुपत्तं एस साहू । ता—

एरिस-पत्त-सुखेत्ते विमुद्ध-सद्धा-जलेण संसित्तं ।

निहिणं तु दव्व-सस्सं इह-पर-लोए अणंत-फलं ॥१४॥

[१४] ता एत्थ कालोचिया देमि एयस्स चैव कुम्मासा । जओ अदायगो एस गामो, एसो य महप्पा कइवय-घरेसु दरिसावं दाऊण पडिनियत्तइ । अहं पुण दो तिण्णि वारे हिंडामि, तो पुणो लभिस्सं । आसन्तो अवरो बिइओ गामो, ता पयच्छामि सव्वे इमे त्ति । पणमिऊण तओ समप्पिया भगवओ कुम्मासा । साहुणा वि तस्स परिणाम-पयरिसं मुणतेण दव्वाइ-सुद्धिं च वियाणिऊण, धम्मसील, थोवे देज्जह त्ति भणिऊण धरियं पत्तयं । दिन्ना य तेण पवड्ढमाण्णाइसएण । भणियं च तेण,

धन्नाणं खु नराणं कुम्मासा होंति साहु-पारणए ।

[१५] एत्थंतरम्मि गयणंतर-गयाए रिसि-भत्ताए मूलदेव-भत्ति-रंजियाए भणियं देवयाए । पुत्त मूलदेव, सुंदरमणुचिट्ठियं तुमे । ता एयाए गाहाए पच्छद्वेण मग्गह जं रोयए, जेण संपाडेमि सव्वं । मूलदेवेण भणियं,

गणियं च देवदत्तं दत्ति-सहस्सं च रज्जं च ॥१५॥

देवयाए भणियं, पुत्त, निच्चित्तो विहरसु । अवस्सं रिसि-चलगाणुभावेण अइरेण चैव संपज्जिस्सइ एयं । मूलदेवेण भणियं भयवइ, एवमेयं ति । तओ वंदिय रिसि पडिनियत्तो, रिसि वि गओ उज्जाणं । लद्धा अवरा भिक्खा मूलदेवेण । जेमिओ पत्थिओ य बेन्नायड-संमुहं, पत्तो य कमेण तत्थ ॥

[१६] पसुत्तो रयणीए बाहिं पहिय-सालाए । दिट्ठो य चरिम-जामे सुमिणओ पडिपुण्ण-संडलो निम्मल-प्पहो मयंको उयरम्मि पविट्ठो । अन्नेण वि कप्पडिएण एसो चैव दिट्ठो, कहिओ तेण कप्पडियाणं । तत्थेणेण भणियं, लभिहिंसि तुमं अज्ज घय-गुल-संपुण्णं महंतं रोट्टगं । न-याणंति णए सुमिणस्स परत्थं ति न कहियं मूलदेवेण । लद्धो कप्पडिएण भिक्खा-गएण घर-छायणियाए जहोवइट्ठो रोट्टगो । तुट्ठो य एसो, निवेइओ य कप्पडियाणं । मूलदेवो वि गओ एगमारामं । आवज्जिओ तत्थ कुसुमोच्चय-साहिज्जेण मालागारो । दिन्नाइं तेण पुप्फ-फलाइं । ताइं वेत्तुं सुइं-भूओ गओ सुविण-सत्थ-पाढयस्स गेहं । कओ तस्स पणामो । पुच्छिया खेमारोग-वत्ता । तेण वि संभासिओ स-बहुमाणं, पुच्छिओ य पओयणं । मूलदेवेण व जोडि-ऊण कर-जुयलं कहिओ सुविणय-वइयरो । उवज्जाएण वि भणियं सहिरि-सेण । कहिस्सामि सुह-मुहुत्ते सुविणय-फलं, अज्ज ताव अत्तिही होसु

अम्हाणं । पडिवन्नं च मूलदेवेण । ण्हाओ जिमिओ य विभूर्ईए । भुत्तरे य भणिओ उवज्जाएण, पुत्त, पत्त-वरा मे एसा कन्नगा, ता परिणेषु ममोव-रोहेण एयं तुमं ति । मूलदेवेण भणियं, ताय, कहं अन्नाय-कुल-सीलं जामाउयं करेसि । उवज्जाएण भणियं, पुत्त, आयारेण चैव नज्जइ अ-कहियं पि कुलं । भणियं च—

आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति जल्पितम् ।

संभ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ॥१६॥

तहा

को कुवल्याण गंधं करेइ महरत्तणं च उच्छूणं ।

वर-हत्थीण य लीलं विणयं च कुल-प्पसूयाणं ॥१७॥

अहवा

जइ होंति गुणा तो किं कुलेण गुणिणो कुलेण न हु कज्जं ।

कुलमकळंक्कं गुण-वज्जियाण गस्यं चिय कळंक्कं ॥१८॥

[१७] एवमाइ-भणिईहि पडिवज्जादिओ सुह-सुहत्तेण परिणाविओ । कहियं सुवियण-फलं, सत्त-दिणव्भंतरे राया होहिंसि । तं च सोऊण जाओ पट्ट-मणो अच्छइ य तत्य सुहेणं । पंचमे य दिवसे गओ नयर-बाहिं, नुवण्णो य चंपगच्छायाए ॥

[१८] इओ य तीए नयरीए अपुत्तो राया काल-गओ । तत्थ अहियासि-याणि पंच दिव्वाणि । ताणि आहिंडिय नयर-मज्जे निग्गयाणि बाहिं, पत्ताणि मूलदेव-सयासं । दिट्ठो सो अपरियत्तमाण-छायाए हेट्ठओ । तं पेच्छिय गुलुगुलियं हत्थिणा, हेसियं तुरंगेण, अहिसित्तो भिगारेण, वीइओ चामरेहिं, ठियमुवरि पुं डरीयं तओ कओ लोएहिं जयजया-रओ । चडाविओ गएण खंधे, पइसारिओ य नयरिं । अहिसित्तो मंति-सामंतेहिं । भणियं च गयण-त्तल-गयाए देवयाए । भो, भो, एस महाणुभावो असेस-कलाधारगो देवयाहिट्ठिय-सरीरो विक्कमराओ नाम राया । ता एयस्स सासणे जो न वट्ठइ, तस्स नाहं खमामि ति । तओ सब्बो सामंत-मंति-पुरोहियाइओ परियणो आणा-विहेओ जाओ । तओ उदारं विसय-सुहमणुहवंतो चिट्ठइ । आढत्तो उज्जेणि-सामिणा वियारधवलेण सह संववहारो जाव जाया परोप्परं निरंतरा पीई ॥

[१९] इओ य देवदत्ता तारिसं विडंवणं मूलदेवस्स पेच्छिय विरत्ता अईव अयलोवरि । तओ य निब्भच्छओ अयलो; भो अहं वेसा, न उण



अहं तुज्ज कुल-घरिणी । तहा वि मज्ज गेहत्थो एवंविहं ववहरसि । ता ममत्थाए पुणो न खिज्जियव्वं ति भणिय गया राइणो सयासं । भणिओ य निवडिय चलणेसु राया । सामि तेण वरेण कीरउ पसाओ । राइणा भणियं । भण, कओ चेव तुज्ज पसाओ । किमवरं भणीयइ । देवदत्ताए भणियं । ता, सामि, मूलदेवं वज्जिय न अन्नो पुरिसो मम आणावेयव्वो । एसो अयलो मम घरागमणे निवारेयव्वो । राइणा भणियं एवं, जहा तुज्ज रोयए परं कहेह, को पुण एस वुत्तन्तो । तओ कहिओ माहवीए । रुट्ठो राया अय-लोवरि । भणियं च, भो मम एईए नयरीए एयाइं दोन्नि रयणाइं ताइं पि खली-करेइ एसो । तओ हक्कारिय अंबाडिओ भणिओ य । रे, तुमं एत्थ राया जेण एवंविहं ववहरसि । ता निरूवेहि संपयं सरणं, करेमि तुह पाण-विणासं । देवदत्ताए भणियं, सामि, किमेइणः सुणहपाएण पडिखद्धेणं ति । ता मूचइ एयं । राइणा भणिओ, रे, एईए महाणुभावाए वयणेणं छुट्ठो संपयं, सुद्धो उण तेणेवेह आणिएणं भविस्सइ । तओ चलणेसु निवडिऊण निग्गओ राय-उलाओ । आढत्तो गवेसिउं दिसो-दिंसि । तहा वि न लद्धो । तओ तीए चेव ऊणिमाए भरिऊण भंडस्स वहणाइं पत्थिओ पारसउलं ॥

[२०] इओ य मूलदेवेण पेसिओ लेहो कोसल्लियाइं च देवदत्ताए तस्स य राइणो । भणियो य राया, मम एईए देवदत्ताए उवरि महंतो पडि-बंधो । ता जइ एईए अभिरुचियं, तुम्हं वा रोयए, तो कुणह पसायं, पेसेह एयं । तओ राइणा भणिया राय-दोवारिगा । भो किमेयं एवंविहं लिहावियं विक्कमराएण । किं अम्हाणं तस्स य अत्थि कोइ विसेसो । रज्जं पि सव्वं तस्सेयं किं पुण देवदत्ता । परं इच्छउ सा । तओ हक्कारिया देवदत्ता । कहिओ वुत्ततो, ता जइ तुम्ह रोयए, ताहे गम्मउ तस्स सगासं । तीए भणियं, महा-पसाओ, तुम्हाणुन्नायाण मणोरहा एए अम्हं । तओ महा-विभवेणं पूइऊण पेसिया गया य । तेण वि महा-विभूईए, चेव पवेसिया । जायं च परोप्परमेगरज्जं । अच्छए मूलदेवो तीए सह विसयसुहमणुहवंतो जिण-भवण-विब-करण-तप्परो ति ॥

[२१.] इओ य सो अयलो पारस-उले विढविय बहुयं दव्वं पवरं च भण्ड भरेऊण आगओ वेण्णायडं । आवासिओ य बाहिं । पुच्छिओ लोमो, किं नामाभिहाणो एत्थ राया । कहियं च, विक्कमराओ ति । तओ हिरण-सुवण्णमोत्तियाणं थालं भरेऊण गओ राइणो पेक्खगो । दवावियं राइणा आसणं । निसण्णो पच्चभिन्नाओ य । अयलेण य न नाओ एसो । रन्ना पुच्छियं, कुओ सेट्ठी आगओ । तेण भणियं, पारस-उलाओ । रन्ना पूइएण

अयलेण भणियं, सामि, पेसेह कोवि उवरिगो, जो भंडं निरुवेइ । तओ राइणा भणियं, अहं सयमेव आगच्छामि ।

[२२] तओ पंच-उल-सहिओ गओ राया । दंसियं वहणेसु संख-फोप्फलचंदगागरु-मंजिट्टाइयं भंडं । पुच्छियं पंचउल-समक्ख राइणा । भो सेट्टि, एत्तियं चेव इमं । तेग भणियं, देव, एत्तियं चेव । राइणा भणियं, करेह सेट्टिस्स अद्ध-दाणं, परं मप समक्खं तोलेह चोल्लए । तोलियाइं पंचउलेण । भारेण य पाय-प्पहारेण य वंस-वेहेण य लक्खियं, मंजिट्टमाइ-मज्झ-गयं सार-भंडं । राइणा उक्केल्लावियाइं चोल्लयाइं, निरुवियाइं समंतओ, जाव दिट्ठं कत्थइ सुवण्णं, कत्थइ रूप्पयं, कत्थइ मणि-मोत्तिय-पवालाइं महग्गं भंडं । तं च दट्ठूण रुट्ठेण निय-पुरिसाण दिन्नो आएसो । अरे, बंधह पच्चक्ख-चोरं इमं ति । बद्धो य धगधगित्त-हियओ तेहिं । दाऊण रक्खवाले जाणेसु गओ राया भवणं । सो वि आणिओ आरक्खएण राय-समीवं । गाढ-बद्धं च दट्ठूण भणियं राइणा । रे, छोडेह छोडेह । छोडिओ अत्तेहि । पुच्छिओ राइणा, परियाणसि ममं । तेग भणियं सयल-पुहवि-विक्खाए महा-नरिदे को न याणइ ?

[२३] राइणा भणियं, अलं उवयार-भासणेहिं, फुडं साहसु, जइ जाणसि । अयलेण भणियं देव, न-याणामि सम्मं । तओ राइणा बाहराविया देवदत्ता । आगया वरच्छर व्व सव्वंग-भूसण-धरा, विन्नाया अयलेण । लज्जिओ मणम्मि बाढं । भणियं च तीए, भो एस सो मूलदेवो, जो तुमे भणिओ तम्मि काले, ममावि क्याइ विहि-जोगेण वसणं पत्तस्स उवयारं करेज्जह । ता एस सो अवसरो । मुक्को य तुमं अत्थ-सरीर-संसयमावन्नो वि पणय-दीण-जण-वच्छलेण राइणा संपयं । इमं च सोऊण विलक्ख-माणसो, महा-पसाओ त्ति भणिऊण निवडिओ राइणो देवदत्ताए य चलणेसु । भणियं च, कयं मए जं तथा सयलजण-निव्वुइ-करस्स नीसेस-कला-सोहियस्स देवस्स निम्मलसहावस्स पुण्णिमाचंदस्सेव राहुणा कयत्थणं, ता तं खमउ मम सामी । तुभह कयत्थणामरिसेण महाराओ वि न देइ मे उज्जेणीए पवेसं । मूलदेवेण भणियं, खमियं चेव मए, जस्स तुह देवीए कओ पसाओ । तओ सो पुणो वि निवडिओ दोण्ह वि चलणेसु परमायरेण । ण्हाविओ य देवदत्ताए पहिरा-विओ महग्घ-वत्थे । राइणा मुक्कं दाणं । पेसिओ उज्जेणिं । मूलदेव-राइणो अब्भत्थणाए खमियं वियारधवलेण । निग्घणसम्मो वि रज्जे निविट्ठं सोऊण मूलदेवं आगओ बेण्णायडं दिट्ठो । राया । दिन्नो सो चेव अदिट्ठ-सेवाए गामो तस्स रन्ना । पणमिऊण महा-पसाओ त्ति भणिऊण य सो गओ गामं ॥

## २. चाणक्य-चंद्रगुप्त-कहाणग

[ १ ] गोल्लविसए चणयनामो, तत्थ चणगो माहणो सो य सावओ । तस्स घरे साहू ठिया । पुत्तो से जाओ सह ढाढाहि । साहूणं पाएसु पाडिओ । कहियं च—राया भविस्सइ त्ति । 'या दोग्गइं जाइस्सइ' त्ति दंता घट्ठा । पुणो वि आयरियाण कहियं—किं किज्जउ ? एताहे वि बिबंत्तिओ राया भविस्सइ । उम्मुक्कबालभावेण चोद्दस विज्जाठाणाणि । आगमियाणि—

अंगाइं चउरो वेया, मीमांसा नायवित्थरो ।

पुराणं धम्मसत्थं च ठाणा चोद्दस आहिया ॥१॥

सिक्खा वागरणं चेव, निरुत्त छंद जोइसं ।

कप्पो य अवरो होई, छच्च अंगा विआहिया ॥२॥

[ २ ] सो सावओ संतुट्ठो । एगाओ दरिद्दभद्दमाहणकुलाओ भज्जा परिणीआ । अन्नया भाइविवाहे सा माइघरं गया । तोसे य भगिणीओ अन्नेसि ख्खादाणियाणं दिन्नाओ । ताओ अलंकियभूसियाओ आगयाओ । सब्बो परियाणो ताहिं समं संलवइ, आयरं च करेइ । सा एगागिणी अवगोया अच्छइ । अवितीयजाया । घरं आगया । दिट्ठया य ससोगा चाणक्येण, पुच्छिया सोगकारणं । न जंपए, केवलं अंसुधारहिं सिंचंती कवोले नोससइ दीहं । ताहे निब्बंधेण लग्गो । कहियं सगग्गय-वाणोए जहट्ठियं । चित्तिं च तेण—अहो ! अवमाणणाहेउ निद्धणत्तणं जेग माइघरे वि एवं परिभवो ? अहवा—

अलियं पि जणो धणइत्तमस्स सयणत्तणं पयासेइ ।

परमत्थबंधकेण वि लज्जिज्जइ हीणविह्वेण ॥३॥ \*

तहा—

कज्जेण विणा जेहो, अत्थविहूणाण गउरवं लोए ।

पडिबन्ने निव्वहणं, कुणन्ति जे ते जए बिरला ॥४॥

[ ३ ] ता धणं उवज्जिणामि केणइ उवाएण, नंदो पाडलिपुत्ते दिया-ईणं धणं देई, तत्थ वच्चामि । तओ गंतूण कत्तिप्रमुत्तिमाए पुअन्नत्थे आसणे पढ्ढे निसन्नो । तं च तस्स पत्तलीवइ राउलस्स सया ठविज्जइ । सद्धपुत्तो य नंदेण समं तःप्र आगओ भगइ—एव ब्रमणो नंदेणत्तं छायं

अक्कमिऊण टिठओ । भणिओ दासीए—भयवं ! बीए आसणे निवेसाहि ।  
'एवं होउ' विइए आसणे कु'डियं ठवेइ, एवं तइए दंडियं चउत्थे गणे-  
त्तियं पंचमे जन्नोवइयं । 'धट्ठो' त्ति बिच्छूडो पदोसमावन्नो भणइ—

कोशेन भृत्यैश्च निबद्धमूलं पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम् ।

उत्पाद्य नदं परिवर्तयामि, महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः ॥५॥

[ ४ ] निग्गओ मग्गइ पुरिसं । सुयं च गेण—“बिवंतरिओ राया  
होहामि” त्ति । नंदस्स मोरपोसगा तेसि गामे गओ परिवार्याल्लेण । तेसि  
च मयहरधूयाए चंदपियणम्मि दोहलो । सो समुयाणितो गओ । पुच्छति ।  
सो भणइ—मम दारगं देह तो णं पाएमि चंदं । पडिसुणंति । पडमंडवो  
कओ, तद्दिदवसं पुनिमा, मज्जे छिड्डं कयं, मज्जणहगए चंदे सव्वरसालूहि  
दब्बेहि संजोइत्ता खोरस्स थालं भरियं सहाविया पेच्छइ पिवइ य ।  
उवरि पुरिसो उच्छाडेइ । अवणोए डोहले कालक्कमेण पुत्तो जाओ ।  
चंदगुत्तो से नामं कयं । सो वि ताव संवड्ढइ । चाणक्को वि धाउ-  
बिलाणि मग्गइ । सो य दारएहि समं रमइ । रायनीइए विभासा ।  
चाणक्को य पडिएइ । पेच्छइ । तेण वि मग्गिओ—अम्ह वि दिज्जउ ।  
भणइ—गावोओ लएहि । या मारिज्जा कोइ । भणइ—वीरभोज्जा पुहई ।  
नायं—जहा विन्नाणं पि से अत्थि । पुच्छिओ—कस्स ? त्ति । दारगेहि  
कहियं—परिव्वायगदुत्तो एस । अहं सो परिव्वायगो, जामु जा ते रायाणं  
करेमि । सो तेण समं पलाइओ । लोगो मेलिओ ।

[ ५ ] पाडलिपुत्तं रोहियं । नंदेण भग्गो परिव्वायगो पलाणो ।  
अस्सेहि पच्छओ लग्गा पुरिसा । चंदगुत्तं पडमिणोसंडे लुभेत्ता रयओ  
जाओ चाणक्को' नंदसंतिएण जच्चवल्लीगकिसोरगएणमासवारेण पुच्छिओ—  
कहिं चंदगुत्तो ? भणइ—एस पउमसरे पविट्ठो चिट्ठड । सो आसवारेण  
दिट्ठो । तओ णेण घोडगो चाणक्कस्स अप्पिओ, खडगं मुक्कं । जाव  
निग्गुडिओ, जलयरणट्ठयाए । कंचुग मेल्लइ ताव णेण खग्गं धेतूण दुहा  
कओ । पच्छा चंदगुत्तो हक्कारिय चडाविओ । पुणो पलाणो । पुच्छिओ  
णेण चंदगुत्तो जं वेल्सि सिट्ठो तं बेलं किं चित्तयं तए ? तेण भणिय—  
हंदि ! एवं चेवं सोहणं भवइ, अज्जो चेव जाणइ त्ति । तओ णेण  
जाणियं—जोग्गो, न एस विपरिणमइ । चंदउत्तो लुहाइओ । चाणक्को  
तं ठवेत्ता भत्तस्स अइगओ, वीहेइ—मा एत्थ नज्जेज्जामो । डोडस्स बहि  
निग्गयस्स दहिकूर गहाय आगओ । जिमिओ दारगो । अन्नत्थ समुया-  
णितो गामे परिभमइ । एग्गिम्मि गिहे थेरोए पुत्तभंडाणं विलेवी पव-

डिड्या । एगेण हत्थो मज्जे छूढो । सो दड्ढो रोवइ । ताए भन्नइ—  
चाणक्कमंगलं । भेतुं पि न याणासि । तेण पुच्छिया भणइ—पासाणि  
पढमं वेप्पति तं परिभाविय गओ हिमवंतकूडं । तत्थ पव्वयओ राया  
तेण समं मेत्ती कया । भणइ—नंदरज्जं समं समेण विभज्जयामो ।  
पडिवन्नं च तेण । ओयविउमाढता । एगत्थ नयरं न पडइ । पविट्ठो  
तिरंडी वत्थूणि जोएइ । इंदकुमारियाओ दिट्ठाओ । तासिं तेएण न  
पडइ । मायाए नोणावियाओ । गहियं नयरं । पाडलिपुत्तं तओ रोहियं ।

[ ६ ] नंदो धम्मदारं मग्गइ । एगेण रहेण जं तरसि तं नीणेहि दो  
भज्जाओ एगा कन्ना दव्वं च नीणेइ । कन्ना निग्गच्छंती पुणो पुणो चंद-  
गुत्तं पलोएइ । नदेण भणियं—जाहिं त्ति । गया । ताए विलग्गंतीए चंद-  
गुत्तरहे नव आरगा भग्गा । ‘अमंगल’ ति निवारिया तेण । तिदंडी भणइ—  
मा निवारिहे । नव पुरिसजुगाणि तुज्जवंसो होही । पडिवन्नं । राउल-  
मइगया । दो भागा कयं रज्जं । तत्थ एगा विसकन्ना आसि, तत्थ पव्व-  
यगस्स इच्छा जाया । सा तस्स दिन्ना । अग्गपरियंचणेण विसपरिगओ  
मरिउमारद्धो । भणइ—वयंस ! मरिज्जइ । चंदगुत्तो ‘संभामि’ ति वव-  
सिओ । चाणक्केण भिउडी कया इमं नीत्ति सरतेण—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मसंज्ञं व्यवसायिनाम् ।

अद्धंराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥६॥

[ ७ ] ठिओ चंदगुत्तो । दो वि रज्जाणि तस्स जायाणि । नंदमणुस्सा  
य चोरियाए जीवंति । देसं अभिददवंति । चाणक्को अन्नं उग्गतं चोर-  
ग्गाहं मग्गइ । गओ नयरवाहिरियं । दिट्ठो तत्थ नलदायो कुविदो ।  
पुत्तयडसणामरिसिओ खणिऊण बिलं जलणपज्जालणेण मूलाओ उच्छायंतो  
मक्कोडए । तओ ‘सोहणो एस चोरग्गाहो’ ति बाहराविओ । सम्माणिऊण  
य दिण्ण तस्साऽऽरक्ख । तेण चोरो भत्तदाणाइणाकओवयारा वीसत्था  
सव्वे सकुडुं बा बावाइया । जायं निककंटयं रज्जं । कोसनिमित्तं च चाण-  
क्केण महिडिदयकोडुं बिएहिं सद्धिं आदत्तं मज्जपाणं । वायावेइ होलं ।  
उट्ठिऊण य तेसिं उप्पेसणत्थं गाएइ इमं पणच्चंतो गाइयं—

दो मज्झ धाउरत्ताइं, कंचणकुडिया तिदंडं च ।

राया वि मे वसवत्ती, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥७॥

[ ८ ] इमं सोऊण अन्नो असहमाणो कस्सइ अपयडियपुक्वं निग्ररिद्धिं  
पयडंतो नच्चिउमारद्धो । जओ—

कुवियस्स आउरस्स य, वसणं पत्तस्स रागरत्तस्स ।  
मत्तस्स मरंतस्स य, सबभावा पायडा होंति ॥८॥

पढियं च तेण—

गयपोययस्स मत्तस्स, उप्पइयस्स य जोयणसहस्सं ।  
पए पए सयसहस्सं, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥९॥

अन्नो भणइ—

तिल आढयस्स वुत्तस्स, निप्फन्नस्स बहुसइयस्स ।  
तिले तिले सयसहस्सं, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥१०॥

अन्नो भणइ—

णवपाउसम्मि पुन्नाए, गिरिनदियाए सिग्घवेगाए ।  
एगाहमहियमेत्तेण, नवणोएण पालि बंधामि ॥११॥  
—एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

अन्नो भणइ—

जच्चाण णवकिसोराण तद्विसेण जायमेत्ताणं ।  
केसेहि नभं छाएमि एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥१२॥

अन्नो भणइ—

दो मज्झ अत्थि रयणाइं, सालिपसूई य गद्दभीया य ।  
छिन्ना छिन्ना वि सद्धंति, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥१३॥

अन्नो भणइ—

सय सुक्किल निच्चसुयंधो, भज्ज अणुव्वय णत्थि पवासो ।  
निरिणो य दुपंचसओ, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥१४॥

[ ९ ] एवं नाऊण दब्बं मग्गियं जहोचियं । कोट्ठारा भरिया सालीणं, ताओ छिन्ना छिन्ना पुणा जायंति । आसा एगदिवसजाया मग्गिया एगदेवसियं नवणीयं । सुवन्नुप्पायणत्थं च चाणक्केण जंतपासयाकया । कई भणति—वरदिन्नया । तओ एगो दक्खो पुरिसो सिक्खाविओ । दीणारथालं भरियं सो भणइ—जइ ममं कोइ जिणइ, तो थालं गिण्हउ । अह अहं जिणामि तो एगं दीणारं गिह्णामि । तस्स इच्छाए पासा पडंति । अओ न तीरए जिणिउं । जह सो न जिप्पइ एवं मणुसलं भओवि ।



### ३. सीलवड्-चरियं

इत्थेव जंबुदीवे भारह्वासंमि वासवपुरं व ।  
 कय-विबुह जणाणंदं नंदणपुरमत्थि वर-नयरं ॥१॥  
 पडिहय-पडिवक्ख-बलो हरिव्व अरिमद्दणो त्तिहि राया ।  
 गुण-रयण-निही रयणायरु त्ति सिट्ठी त्तिहि अत्थि ॥२॥  
 तस्स सिरिनाम-पिया रूव-गुणेणं सिरिव्व पच्चक्खा ।  
 तीए न अत्थि पुत्तो तेण दढं तम्मए सेट्ठी ॥३॥

[ १ ] अन्नया भणिओ भज्जाए-‘अज्जउत्त, अत्थि इत्थेव नयरुज्जाणे अजियजिणिंद-मंदिर-दुवार-देसे अजियबला देवया अपुत्ताण पुत्तं, अवि-त्ताण वित्तं, अरज्जाण रज्जं, अविज्जाण विज्जं, असुक्खाण सुक्ख, अच-क्खूण चक्खु सरोयाण रोय-क्खयं देइ एसा ।” कयं सेट्ठिणा तीए ओवा-इयं । कमेण जाओ पुत्तो । तस्स कयं ‘अजियसेणो’ त्ति नामं । जाओ जिणधम्मज्जुओ सिट्ठी । जणयमणोरहेहि सह वड्ढिओ अजियसेणो । सिक्खिय कलाकलावो लावन्नलच्छिपुत्तं पवन्नो तारुत्तं । तस्स य सयल-जणव्भहिए रूवाइ-गुणे पिच्छिऊण चितियं सेट्ठिणा—“जइ एस मह नंदणो निय-गुणाणुरूवं कलत्तं न लहइ ता इमस्स अकयत्था गुणा ।”

जओ—

सामी अविसेसन्नु अविणीओ परियणो पर-वसत्तं ।

भज्जा य अणणुरूवा चत्तारि मणस्स सत्ताइ ॥४॥

[ २ ] इत्थंतरे आगओ एगो वाणिउत्तो पणमिऊण सिट्ठि निविट्ठो समीवे । पुट्ठो य सेट्ठिणा ववहार सरूवं । कहियं तेण सव्वं । अन्नं च, तुहाएसेण गओहं कयगलाए नयरीए । जाओ मे जिणदत्त-सिट्ठिणा समं ववहारो । निमत्तिओहं तेण भोयणत्थं । दिट्ठा मए तीग्गहे चंदकंतेणं वयणेणं पओअराएहि, हत्थपाएहि पवालेणं अहरेणं दिप्पमाणेहि रयणेहि रयएणं नियवेणं सुवन्नेणं अंगेणं, मयण-महाराय-भंडार-मंजूस व्व संचारिणी एगा कन्नगा । पुट्ठो मए सिट्ठी—“का एस” त्ति ? सिट्ठिणा वुत्तं—“भद् ! मह धूया-मिसेण मुत्तिमई एसा चिंता ।”

जओ—

किं लट्ठं लहिही वरं पिययमं किं तस्स संपज्जिही

किं लोयं ससुराइयं निय-गुणगामेण रजिस्सए ।

किं सीलं परिपालिही पसविही किं पुत्तमेवं धुवं  
चिंता मुत्तिमई पिऊण भवणे संबट्टए कन्नगा ॥५॥

[ ३ ] एसा य सरीर-सुंदरिम-दलिय-देव-रमणी-मडप्पा अणण-गुण-सोहिया हियाहिए-विचार-कुसला, सलाहणिज्ज-सीला, सीलमइ त्ति गुण-निप्पन्ननामा वालत्तणओ वि पुव्व-कय-सुकय-वसेण सउणरुय-पज्जंताहि कलाहि सहीहि व पडिवन्ना । इमीए अणुरूवं वरं अलहंतस्स मे अच्चंतं चिंता । अओ मए एसा विचिंतत्ति वुत्ता” । मए भणियं—“सिट्ठ, मा संतप्प, अत्थि नंदणपुरे रयणायर सिट्ठिणो विसिट्ठरूवाइ-गुणो पुत्तो अजियसेणो सो तुह धूआए अणुरूवो वरो त्ति ।”

[ ४ ] जिणदत्तेण वुत्तं—“भद्द, तुमए मे महंत-चिंता समुद्द-मग्ग-स्स पवरवरोवएस-बोहित्थेण नित्थारो कओ” त्ति भणिऊण तेण अजियसेणस्स सीलमइं दाउं पेसिओ जिणसेहरो निय-पुत्तो मए समं । सो इहा-गओ चिट्ठइ । ता जहा जुत्तमाइसउ सिट्ठी ।” “जुत्तं कयं तुमए” त्ति भणिऊण हक्काराविओ जिणसेहरो सिट्ठिणा । सगोरवं दिन्ना तेण अजियसेणस्स सीलमई । अजियसेणेणावि तेणेव सह गंतूण कयंगलाए परिणीया सीलमई । धेत्तूण तं आगओ स-नयरं अजियसेणो । भुंजए भोए ।

[ ५ ] अन्नया मज्झ-रत्ते घडं घित्तूण गिहाओ निग्गया सीलमई । कित्तिव्वेलाए आगया दिट्ठा ससुरेण । चिंतियं नूणं एसा कुसील त्ति गोसे गहिणी-समवक्ख वुत्तो पुत्तो—“वत्थ ! तुहेसा धरिणो कुसीला, जओ अज्ज मज्झरत्ते निग्गंतूण कत्थवि गया आसि, ता एसा न जुज्जइ गिहे धरिउं ।”

जओ—

घण-रस-वसओ उम्मग्ग-गामिणी-भग्ग-गुण-दुमा कलुसा ।  
महिला दो वि कुलाइं कूलाइं नइ व्व पाडेइ ॥६॥

[ ६ ] ता पराणेमि एयं पिइ-हरं । पुत्तेण वुत्तं—“ताय ! जं जुत्तं तं करेसु ।” भणिया बहुया—“भद्दे ! आगओ ‘सीलवइं सिग्घं पेसिज्जसु’ त्ति तुह जणयसंदेसओ । ता चलसु, जेण तुमं सयं पराणेमि ।” सा वि रयणि निग्गमणेण ममं कुसीलं संकमाणो एवमाइसउ ससुरो, पिच्छामि ताव एयं पि’ त्ति चिंतिऊण चलिया रहारूढेण सिट्ठिणा समं । वच्चंतो सेट्ठी पत्तो नइं । सेट्ठिणा वुत्ता—“बहू-पाणहाओ मुत्तूण नइं ओयरसु ।” तीए न मुक्काओ ताओ । सेट्ठिणा चित्तियं ‘अविणीय’ त्ति ।



अगगओ दिट्ठं पढम-वत्ता-पइन्नं अच्चं-फलियं मुग्गखेत्तं । सेट्ठिणा भणियं—“अहो ! सुफलियं मुग्ग-खेत्तं । सब्बसंपया खेत्तसामिणो ।” तीए भणियं—“एवमेयं, जइ न खद्धति ।” सेट्ठिणा चितियं ‘अक्खयं पेक्खंती वि खद्धति अक्खइ । अओ असंबद्धप्पलाविणो एसा ।” गओ एगं समिद्ध-पमुइय-जण-संकुलं नयरं । सेट्ठिणा भणियं—“अहो ! रम्मत्तणं इमस्स ।” तीए भणियं—“जइ न उब्बस” त्ति । सेट्ठिणा चितियं—“उल्लंठ-भासिणी इमा ।”

[ ७ ] अगगओ गच्छंतेण सेट्ठिणा दिट्ठो पढ्ढाणेगप्पहारो पहरण-करो ताव कुट्ठिओ । सेट्ठिणा चितियं—“किं न सूरु, जो सत्थेहिं कुट्ठि-ज्जइ, परं अजुत्तर्जपिरी इमा ।” गओ अगगओ नग्गोह-तले वीसंतो सेट्ठी । बहू उण नग्गोहच्छायं छड्डिऊण ठिया दूरे । सेट्ठिणा भणियं—“अच्छुसु छायाए ।” न तत्थ ठिया । सेट्ठिणा चितियं ‘सव्वहा विवरीय’ त्ति ।

पत्तो गाममेक्कं । बहूए वुत्तो सेट्ठी—“एत्थ अत्थि मे माउलंगो तं जाव पेच्छामि ताव तुब्भे पडिवालेह” त्ति गया सा मज्जे । दिट्ठा माउ-लगेण ससंभमं भणिया—“वच्छे ! कत्थ पत्थियासि ?” तीए भणियं—“ससुरेण सह पिइहरं पत्थियम्मिह ।” तेण भणियं—“कत्थ ते ससुरो ?” तीए वुत्तं—“बाहिं चिट्ठइ ।”

[ ८ ] गंतूण माऊलेण हक्कारिओ सायरं सेट्ठी । सकसाउ त्ति अणिच्छंतो वि नीओ निब्बंधेण गेहं । भोयणं काऊण आगओ बाहिं । मज्झपहसमओ त्ति वीसमिओ रह्भंतरे । सीलमई वि निसन्ना रह्छा-याए । एत्थंतरे करीरत्थंवावलंबी पुणो-पुणो वासए वायसो । भणियं अणाए—“अरे ! काय ! किं न थक्कसि करयंरतो ।”

एक्के दुन्नय जे कया तेहिं नीहरियं घरस्स ।

बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउं पियरस्स ॥७॥

[ ९ ] सुयमिणं सेट्ठिणा भणिआ सा—“वच्छे ! किमेवं जंपसि ?” बहूए भणियं—“न किं चि ।” सेट्ठिणा भणियं—“कहं न किंचि । वायस-मुट्ठिसिऊण ‘एक्के दुन्नय’ त्ति जं पढियं तं साहिप्पायं ।” बहूए वुत्तं—“एवं ता सुणेउ ।”

ताओ—

सोरब्भ—गुणेणं छेय-घरिसणाईणि चंदणं लहइ ।

राग-गुणेणं पावइ खंडण-क्कढणाइं मंजिट्ठा ॥८॥

[ १० ] एवं ममावि गुणो सत्तू संजाओ । जओ “सयल-कला-

सिरोमणि-भूयं सउण-रुयं अहं सुणेमि । तओ अइक्कंतदिण-रयणीए सिवाए वासंतीए साहियं, जहा—“नईए पूरेण बुब्भमाणं मडयं कड्ढिऊण सयं आहरणाणि गिण्हसु । मम भक्खं तं खिवसु ।” इमं सोऊण गयाहं घेत्तूण घड्ढं । तं हियए दाऊण पविट्ठा नईं । कड्ढियं मडयं । गहियाणि आभरणाणि । खित्तं सिवं सिवाए । आगया अहं गिहं । आभरणाणि घड्ढए खिविऊण निखियाणि खोणीए एवं एकक-दुन्नयस्स पभावेण पत्ता एत्तियं भूमिं । संपयं तु वासंतो वायसो कहइ, जहा—“एयस्स करोर-त्थं रुक्खस्स हेट्ठा दससुवण्ण लक्ख-प्पमाणं निहाणमत्थि तं घेत्तूण मम करंबयं देसु” त्ति ।

[ ११ ] इमं सोऊण सहसा उट्ठिओ सेट्ठी, भणइ—“वच्छे ! सच्च-मेयं ?” बहूए जंपियं—“किं अत्थियं जंपिज्जए ताय-पायाणं पुरओ । अहवा इत्थे कंकणे किं दप्पणेणं त्ति निहालेउ ताओ ।” तओ तत्थेव ठिओ सेट्ठी गहिय निहाणं रयणीए । “अहो ! मुत्तिमती इमा लच्छित्ति जाया बहू-माणो बहुं रहे आरोविऊण नियत्तो सेट्ठी । पत्तो नग्गोहं । पुच्छए बहुं—“किं न तुमं इमस्स छायाए ठिया ?” बहूए अक्खियं—“रुक्ख-मूले अहि-दंसाइ भयं, चिरासणे चोराइ-भयं, दूरट्ठियाणं तु न सव्वमेयं ।”

[ १२ ] पुणो पुट्ठं सेट्ठिणा वुत्तं—“कहमेयमुव्वसं ?” तीए वुत्तं—“जत्थ नत्थि सयणो सागाय पडिबत्तिकारओ तं कहं वसिमं ? खेत्तं दट्ठूण सेट्ठिणा पुट्ठं—“कहमेय खद्धंति ?” तीए वुत्तं—“ववहरणाओ दव्वं वुट्ठीए कहिऊण खेत्तसामिणा खद्धंति खद्धं ।” नईं दट्ठूण भणियं सेट्ठिणा—“किं तए नईए पाणहाअ न मुक्काओ ?” तीए जंपियं—“जल-मज्जे कीड-कंटाइ न दीसइ” त्ति । पत्तो गिहं सेट्ठी । दंसियाइ तीए महिनिहित्ता-हरणाइ । तुट्ठेण सेट्ठिणा भज्जाए सुयस्स सव्वं कहिऊण कया सा घर-सामिणी ।

अह जीवियस्स तरलत्तणेण पवत्तमुव्वगओ सेट्ठी ।

निहणं गया सहयरी सिरी वि छायव्व तव्विरहे ॥९॥

[ १३ ] अजियसेणो वि जिण-धम्म-परो कालं बोलेइ । अन्नया अरिमद्दण नरिदो एगूण पंच-सयाणं मंतीणं पहाणं मंति मग्गेमाणो नायरए पत्तेयं पुच्छइ—“भो भो ! जो मं पाएण पहणइ तस्स किं कीरइ ?” पुच्छिओ अजियसेणो । तेण वुत्तं—“परिभाविऊण कहिस्सं ।” गिहागएण पुच्छिया तस्सुत्तरं सीलवई । तीए चउव्विह-बुद्धि-जुत्ताए

जंपियं जहा—“तस्स महंतो सक्कारो कीरइ।” भत्तुणा भणियं—  
 “कहमेयं ?” तीए वुत्तं—“वल्लहाए विणा नत्थि अन्नस्स गयाणं पाएण  
 पहेणेमि त्ति चिंतिउं पि जोग्गया, किं पुण पहेणिउं।” तओ गओ सो  
 रायसहाए, कहियं पुव्वुत्तं। तुट्ठो राया। कओ अणेण सव्व-मंतीण  
 सिसरोमणी सो।

[ १४ ] अन्नया रन्नो विउत्थिओ सीहरहो पंचंतो राया। तस्सोवरि  
 चलंत-मय-गल-मय-जलासार-सित्त-महियलो तरल-तुरय-खुरुक्खय-खोणि-  
 रेणु-घण-पडल-पूरिय-नहंगणो, संचरंत-रह-धवल-धयवडाया वलाय-पत्ति-  
 मणोहरो, गहि-खज्जिराउज्ज-गज्जि-जज्जरिय-वंभंड-भंडोयरो, नवपाउसु  
 व्व चलिओ राया। अजियसेणो वि दिट्ठो सीलमईए चिंताउरो। पुच्छिओ  
 चिंताए कारणं। तेण वुत्तं—“गंतव्वं भए रन्ना समं। तुमं घेतूण वच्चं-  
 तस्स मे गिहं सुन्नं। तहा जइ वि तुमं अक्खलियसीला तहवि एगाणिणीं  
 गिहे मुत्तूण वच्चंतस्स मे न मणनिव्वुई। अओ चिंताउरोम्हि।”  
 तीए वुत्तं—

जलणो वि होइ सिसरो रवी वि उग्गमइ पच्छिम-दिसाए।  
 मेरु-सिहरं पि कंपइ उच्छलइ धरणि-वीढं पि ॥१०॥  
 जायइ पवणो वि थिरो मिल्लइ जलही वि नियय-मज्जायं।  
 तहवि महसील-भंगं सक्को वि न सक्कए काउं ॥११॥  
 तहवि तुमं मण-निव्वुइ-हेउं गिह्वसु इमं कुसुम-मालं।  
 मह सील-पभावेणं अमिलाणच्चिय इमा ठाही ॥१२॥  
 जइ पुण मिलाइ त्त सील-खंडणं निम्मियं ति जंपंती।  
 सा खिवइ निय-करेहि पइणो कंठे कुसुम-मालं ॥१३॥  
 तो अजियसेण-मंती सीलमई मंदिरंमि मुत्तूणं।  
 निव्वुय-चित्तो चलिओ सह अरिमद्दण नरिदेण ॥१४॥  
 अणवरय-पयाणेहि तम्मि पएसंमि नरवई पत्तो।  
 जत्थ न हवंति कुसुमाइ जाइ-सयवत्तियाईणि ॥१५॥  
 दट्ठू ण कुसुम-मालं अमिलाणं अजियसेण-कंटंमि।  
 तं भणइ निवो कत्तो तुह अमिलाणा कुसुम-माला ॥१६॥  
 अच्छरियमिणं गरुयं मए गवेसावियाइं सव्वत्थ।  
 निय-पुरिसे पट्ठविउं तहवि न पत्ताइं कुसुमाइं ॥१७॥  
 जंपइ मंती जह मह पियाइ पत्थाण-वासरे खित्ता।  
 स च्चिय माला न मिलाइ तीइ सील-प्पभावेण ॥१८॥

तं सोउं नरनाहो विम्हिय-हियओ गए अजियसेणे ।  
 निय-नम्म-मंति-मण्डलमालवइ वियार-सारमिण ॥१९॥  
 जं अजियसेण-सच्चिवेण जंपियं तं किमित्थं संभवइ ।  
 कामंकुरेण वुत्तं कत्तो सीलं महिलियाणं ॥२०॥  
 ललियंगएण भणियं सच्चं कामंकुरो भणइ एयं ।  
 रइ-केलिणा पलित्तं देवस्स किमित्थं संदेहो ॥२१॥  
 भणियमसोगेणं पट्ठवेसु मं देव ! जेण सीलमइं ।  
 वियलिय-सीलं काउं देवस्स हरामि संदेहं ॥२२॥  
 तो नरवइणा एसो आइट्ठो अप्पिऊण बहु दव्वं ।  
 पत्तो य नंदणपुरे सीलवईए गिहासन्ने ॥२३॥  
 गिहाइ गरुयं गेहं कंठ-पघोलंत-पंचमुंगारो ।  
 किन्नर-गीयाणुगुणं गायइ गीयं गवक्ख-गओ ॥२४॥  
 पयडिय-उज्जल-वेसो पलोयए साणुराय-दिट्ठोए ।  
 निच्चं पयासए चाय-भोय-दुललियमप्पाणं ॥२५॥  
 एवं बहु-प्पयारे कुणइ वियारो इमो तओ एसा ।  
 चितइ नूणं मह सील-खलणमिच्छइ इमा काउं ॥२६॥

फणि-फण-रयणुक्खणणं व जलण-जालावली कवलणं व ।

केसरि-केसर-गहण व दुक्करं तं न मुणइ जडो ॥२७॥

[ १५ ] पिच्छामि ताव कोउगं ति विचित्तिऊण पयट्ठा तं पलोइउं ।  
 असोगो वि सिद्धं मे समोहियं ति मन्ततो पट्ठवेइ दूई । भणिया तीए  
 सीलमई—“भट्टे, कुसुमं व थोव-काल-मणहरं जुव्वणं । ता इमं विसय-  
 सेवणेण सहलं काउं जुत्तं । भत्ता य तुह रन्ना समं गओ । एसो य सुहओ  
 तुमं पत्थेइ ।’ तीए चितियं—“सु-हओ त्ति सुट्ठुहओ वराओ जो एरिसे  
 पावे पयट्ठइ ।” दूईए भणियं—पसयच्छि, पसीयसु मयण-जलण-जाला  
 कलाव संतत्तं ।”

निय अंग-संगमामय-रसेण निव्ववसु मम गत्तं ।

सीलमईए वुत्तं-जुत्तमिणं, किं तु पर-पुरिस-संगो ॥२८॥

कुल-महिलाण अजुत्तो दव्व-पसंगं व्व साहूणं ।

नवरं इमो वि कीरइ जइ लवभइ मग्गियं धणं कहवि ॥२९॥

उच्चिट्ठं पि हु भत्तं भक्खिज्जइ नेह लोहेण ।

तीए-वुत्तं-मग्गसि कित्तियमित्तं धणं तुमं भद्दो ॥३०॥

सीलमई जंपइ अद्ध-लक्खमिद्धि समप्पेउ ।

गहिऊण अद्ध-लक्खं निसाइ पंचम-दिणे सयं एउ ॥३१॥

जेण अपुव्वं वियरेमि रइ-सुहं तस्स सुहयस्सा ॥३२॥

[ १६ ] तीए य कहियमेयं असोगस्स । तेणावि सम्पियं अद्ध-लक्खं । सीलमईए वि गूढ-ओयरए पच्छन्न-पुरिसेहिं खणाविया खड्डा । ठाविया तीए उवरि वर-वत्थ-पच्छाइया अवुणिया खड्डा । पंचम-दिण रयणीए दाऊण अद्ध-लक्खं आगओ असोगो । निविट्ठो खट्टाए । घस त्ति निवडिओ खड्डाए । सीलमई वि दयाए तस्स दिणे दिणे डोर-बद्ध-सरावेण भोयणं देइ ।

[ १७ ] पुण्णे य मासे रन्ना भणिया नम्म-मतिणे—“किं नागओ असोगो ?” तेहि वुत्तं—“न याणीयइ कारणं ।” रइकेलिणा वुत्तं—“देह ममा-एसं, जेणाहं साहेमि सिग्घं चेव चित्तियत्थं ।” रन्ना बहु दव्वं अप्पिऊण विसज्जिओ सो । आगओ नयरे । सो वि लक्खं दाऊण दाऊण तहेव निविट्ठो खड्डाए । पडियो खड्डाए । एवं ललियंगय-कामंकुरा वि लक्खं दाऊण पडिया खड्डाए । असोगकमेण चेव स-सोगा चिट्ठति । अरिमद्दण-नरिदो वि वसीकाऊण सीहरहं समागओ निय-नयरं । भणिया सीलमई कामंकुराईहिं—

जे अप्पणो परस्स य सत्ति न मुणंति माणवा मूढा ।

वर-सीलवति जं ते लहंति तं लद्धमर्हेहिं ॥३२॥

[ १८ ] ता दिट्ठं तुह माहप्पं, सिद्धा अम्हे । करेहि पसायं । नोसा-रेहि एक्कवारं नरयाओ व्व विसमाओ इमाओ अगडाओ । तीए वुत्तं—“एवं करिस्सं, जइ मह वयणं करेह ।” तेहि वुत्तं—“समाइसमु जं काय-व्वं ।” तीए वुत्तं—“जयाइहं ‘एवं होउ त्ति’ भणेमि, तथा तुब्भेहिं पि ‘एवं होउ त्ति’ वत्तव्वं ।” पडिवन्नमणेहिं । तीए वुत्तो—“मंती-निमंतेसु रायाणं ।” तेण तहेवं कयं । आगओ राया । कया पडिवत्ती । तीए य पच्छन्नं कया भोयणाइ-सामग्गी । रन्ना चित्तियं—“निमंतिओ हं ताव न दीसए भोयणोवक्कमो को वि । ता किमेयं ति ?”

[ १९ ] तीए य खड्डाए काऊण कुसुमाईहिं पूयं, भणियं—“भो भो जवखा, रसवई सव्वा वि होउं” तेहि भणियं—“एवं होउं त्ति । तओ आगया रसवई । रन्ना कयं भोयणं । तओ पुव्व-पउणो कयाइं तंबोल-फुल्ल-विलेवण-वत्थाहरणाइं ताइं च चत्तारि लक्खाइं इच्चाइं सव्वं पि ‘होउ त्ति’ तीए जंपिए खड्डागए जंपियं ‘एवं होउ’ त्ति । सव्वं दुक्कं सम्पियं रन्तो । चित्तियं रन्ना—“अहो, अउव्वा सिद्धि जं खड्डा-समुट्ठिए वयणेणंतरमेव सव्वं संपज्जइ त्ति ।” विम्हियमणेण पुट्टा सीलमई—“भइदे,

किमेयमच्छेरयं ?” तोए वुत्तं—“देव, मह सिद्धा चिट्ठंति चत्तारि जवखा ते सव्वं संपाडियंति ।” रन्ना वुत्तं—“समप्पेहि मे जक्खे ।” तोए वुत्तं—“देव, गिण्हेसु ।” तुट्ठो राया गओ नियावासं ।

[ २० ] तोए वि ते चच्चिया चंदणेण, अच्चिया कुसुमेहि, चउसु चुल्लगगेसु चत्तारि वि खित्ता, सगडेसु आरोविऊण वज्जंतेहि नीया राय-भवणं संज्ञाए । ‘पभाए य अज्ज जवखा भोयणाइं दाहिंति’ त्ति निवारिया रन्ना सूयाराइणो । भोयण-समए सयं कुसुमाईंहि पूइऊण चुल्लगाइं भणियं ‘रसवई होउं चुल्लगगएहि वुत्तं—‘एवं होउ’ त्ति जाव न किं पि होइ, रन्ना विलक्खवयणेण उग्घाडियाइं चुल्लगाइं । दिट्ठा छुहा-सुसियत्तणेण पणट्ठ-मंससोणिया फुडोवलिज्जमाण अट्ठसंचया पयड-दीसंत-नसा-जाला गिरि-कंदर-सोयरोयरा खाम-कवीला मिलाण-लोयणा असंसत्त-सोय-वायत्तणेण विच्छाय-कायच्छविणो विसंनचित्ता पयाव-चत्ता-चत्तारि जणा । ‘अहो, न हूति एए जक्खा, किं तु रक्खस’ त्ति भणंतो भणिओ अणेहि राया—“देव, न जक्खा न रक्खसा अम्हे, किन्तु कामं कुराइणो तुह वयंसव” त्ति जंपंता पडिया पाएसु ।

[ २१ ] रन्ना वि सम्मं निरुवतेण उवलक्खिऊण भणिया स-विम्हयं—‘भद्दा, कहं तुम्हाणमेरिसी अवत्था जाया ?’ तेहि पि कहिओ जहावित्तो वुत्तंतो । हक्कारिऊण रन्ना—“अहो, ते बुद्धि-कोसल्लं, अहो, ते सील-पालण-पयत्तो, अहो, ते उभय-लोय-भयालोयण-प्पहापयत्ति सलाहिया सीलमई । वुत्तं च ‘अमिलाण-कुसुममाला-दंसणेण पयडं पि ते सील-माहप्पं असद्दं हतेण ए चैव इमे पट्ठविया । ता न कायव्वो कोवो त्ति खमा-विया । तोए वि धम्मं कहिऊण पडिबोहिओ राया । राय-नम्म-सचिवा य कराविया सव्वे पर-दार-निर्वित्ति । रन्ना य सक्कारिया सीलमई । गया सट्ठणं ।

[ २२ ] अन्नया आगओ गंध-गओ व्व कलहेहि परिगओ समणेहि चउनाणी दमघोसो आयरियो । गओ तस्स वंदणत्थ समं सीलमईए अजियसेणो । वंदिऊण गुरुं निविट्ठो पुरओ ।

[ २३ ] भणिया गुहणा सीलमई—‘भद्दे, धन्ना तुमं पुव्व-भववभा-साओ चैव ते सील-परिपालण-पयत्तो ।’ मंतिणा वुत्तं—‘भयवं, कहमेयं ति ? वागरियं गुहणा—“कुसुमउरे नयरे कुसलाणुट्ठाण-लालसो पाव-कम्म-करणालसो सुलसो सावओ । तस्स सुजसा भज्जा । ताण घरे पयइ-भद्दओ दुग्गओ कम्मयरो । दुग्गला से घरिणि । कयाइ सुजसाए समं

गया दुग्गिला साहुणीणं सयासं । कया सुजसाए तत्थ सवित्थरं पुत्थय-  
पूया पसत्थ-वत्थ-कुसुमाईंहि । वंदिया चंदणा पवत्तिणो । विहीयं उववास-  
पच्चक्खाणं । पणमिऊण पुच्छिया दुग्गिलाए पवत्तिणी—“भयवइ, किमज्ज  
एवं ?” भणियं भयवईए—“अज्ज सियपंचमो सुय-तिहि” त्ति सा जिण-  
मए समक्खाया । एयाइ नाण-पूया तवो य सत्ति कायव्वो ।”

इह पुत्थयाइं जे वत्थ-गंध-कुसुमुच्चएहि अच्चंति ।  
दोयंति ताण पुरओ नेवज्जं दीवयं दिति ॥३३॥  
सत्तीए कुणंति तवं ते हुंति विसुद्ध-बुद्धि-संपन्ना ।  
सोहग्गाइ-गुणइढा सव्वन्नु-पयं च पावंति ॥३४॥  
तो दुग्गिलाइ वुत्तं धन्नामह सामिणि इमा सुजसा ।  
अत्थि तवे सामत्थं जीए धम्मत्थमत्थो य ॥३५॥  
अम्हारिसो उण जणो अधणो तव-करण-सत्ति-रहियो य ।  
कि कुणउ मंदभग्गो पवत्तिणोए तओ भणियं ॥३६॥  
सत्तीए चाग-ततो करेसु सीलं तु अप्प-वसमेयं ।  
पर-नर-निवित्ति-रुव जावज्जीवं तुमं धरसु ॥३७॥  
अट्टमि-चउइसीसु यत्तिहीसु तह निय-पइं पि वज्जिज्जा ।  
एयं कयंमि भइ ! तुमं पि पाविहिसि कल्लाणं ॥३८॥  
पडिवन्नमिमं तीए मन्नंतीए कयत्थमप्पाणं ।  
गेहं गयाइ कहियं निय-पइणो सो वि तं सोउ ॥३९॥  
तुट्ट-मणो बहु मन्नइ तए फलं जीवियस्स पत्तं ति ।  
भणइ य अओ परमहं काहं पर-दार-परिहारं ॥४०॥  
पव्व-तिहिसु इमासु य विरइस्सं निय-कलत्त-नियमं पि ।  
इम कय-नियमेहि कमेणं तेहि पत्तं च सम्मत्तं ॥४१॥  
अह दुग्गिला विसुल्लसंत-सद्धा सयं तवं काउं ।  
पुएइ पुत्थएसु य तिहीसु तहियह-वित्तीए ॥४२॥  
कालेण दो वि मरिउं सोहम्मे सुर-वरत्तणं लहियं ।  
चइऊण दुग्ग-जीवो जाओसि तुमं अजियसेणो ॥४३॥  
एसा य दुग्गिला तुह सीलमई भारिया समुपन्ना ।  
नाणाराहण-वसओ विसिट्टमइ-भायणं जाया ॥४४॥  
तो जाय-जाईसरणेहि तेहि भणियं मुणिदं जं तुमए ।  
अक्खायं तं सच्चं तो एवं वागरइ गुरु ॥४५॥

जइ देसओ वि परिवालियस्स सीलस्स फलमिणं पत्तं ।  
ता कुण्ह पयत्तं सव्वओ वि परिपालणे तस्स ॥४६॥  
तं सव्व-संग-परिहाररूव-दिक्खाइ होइ गहणेणं ।  
तेहिं भणिय पसायं काउं तं देहि अम्हाणं ॥४७॥  
तो दिक्खियाइं दुन्नि वि गुरुणा संवेग-परिगय, मणाइ ।  
पालंति जावजीवं अकलंकं सव्वओ सीलं ॥४८॥  
मरिऊण बंभलयं गयाइं भुत्तूण तत्थ दिव्व-सुहं ।  
तत्तो चुयाइं दुन्नि वि निव्वाण पयंमि पत्ताइं ॥४९॥







# हलुदुी-अनुवाद



## १—लीलावती कथा❀

### मंगलाचरण :

१. हरि के हाथों की उन नख-पंक्तियों को नमन करो, ( जिनमें ) क्रोधयुक्त सुदर्शनचक्र दिखाई पड़ता है तथा जो हिरण्यकश्यप के विशाल वक्षस्थल की हड्डियों में प्रविष्ट हुई थीं ।
२. उन हरि ( विष्णु ) को नमन करो जिनका उस समय तीसरा पैर तीनों लोकों को नापता हुआ अपने आप ही साकार से अनाकार ( आकाश ) में स्थित हो गया ।
३. उस ( हरि ) के लिए पुनः नमन करो, जिसके तिरछे मार्ग में स्थित देहली लाँघने में असमर्थ चरण हैं तथा ( जिन्हें देखकर ) चुपचाप हलधर के द्वारा हँसा जा रहा है ।
४. वही हरि जयवन्त हो जिसकी बादलों के सदृश काली एवं प्रलयकाल में बढ़े हुए यमराज के पास की तरह भुजारूपी अर्गला अरिष्ठासुर के गले में पड़ी ।
५. ( विष्णु के ) महासमुद्र के शयन पर लक्ष्मी के स्तनों से व्याप्त कौस्तुभ मणि के कंद के अंकुर रूप शेषनाग की फन-मणि की किरणें हम लोगों की रक्षा करें ।
६. यमार्जुन का भंजन, अरिष्ट का बलन, केशि का विदारण, कंस और असुरेन्द्र का आकर्षण ( पतन ) और शैल ( पर्वत ) के धारक हरि की भुजा को नमन करो ।
७. कर्कश ( कठोर ) हाथ से पूरित आनन ( मुख ), कठिन हाथ से दृढ़ बंधन, केशि और किशोर का कदर्थन करने में उद्यत मधुमंथन की जय हो ।
८. वे जयवन्त हैं जिन्होंने तीन लोक के संहार के आरम्भ गर्भित ( सुशोभित ) मुख से सातों ही समुद्र चुल्लू में स्थित आचमन की तरह पी लिए ।
९. गुह्रतर भार से आक्रान्त महिषासुर के शिर की हड्डी को भंजन करने

❀ अनुवादक—डॉ० उदयचन्द जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।

के लिए उद्यत प्रणम्यशील सुर-असुर के सिरों से घिसे हुए नुपुर युक्त गोरी के चरणों को नमन करो ।

१०. कठोर धनुष खींचने से परिश्रम द्वारा पसोने के ज॰ से भीगे हुए तथा केसर के रस से युक्त चण्डी के कंचुक वस्त्र हृष लोगों की सदैव रक्षा करें ।
११. चन्द्रमा की किरणों से युक्त तथा प्रकट हुए छद्र के अट्टहास की तरह सफेद गंगा का जल-समूह तुम्हारे पापों को नाश करे ।
१२. वे विचारशील सज्जन रूपी सूर्य सदा जयवंत हैं, जिनके सुवर्ण ( अच्छे शब्द ) संचय से एवं जिनके संगम ( संगति ) से दोष रहित कथानुबन्ध कमलाकर की तरह विकसित होते हैं ।
१३. वह ( ब्रह्मा ) जयवंत हों, जिसने इस संसार में सज्जन और दुर्जन बनाए हैं, क्योंकि तम ( अन्धकार ) के बिना चंद्र किरणें भी परिभावा ( गुणोत्कर्ष ) को नहीं पाती हैं ।
१४. पर-कार्य में व्याप्त मन वाले दुर्जन और सज्जनों को सदैव नमन हो, एक ( दुर्जन ) भसण-स्वभावी ( व्यर्थ का प्रलाप करने वाले ) और अन्य ( सज्जन ) दूसरों के दोषों को कहने से दूर रहने वाले हैं ।
१५. अथवा सकल जीव लोक में कोई भी दोष नहीं दिखाई पड़ रहा है । सभी सज्जन जन ही हैं । अतः जो हम कहते हैं उसे सुनो ।
१६. सज्जन की संगति से भी दुर्जन की कलुषिमा दूर नहीं होती है । चन्द्रमा के मध्य में परिस्थित कुरंग ( मृग ) भी काला ही है ।
१७. दुर्जन संगति से भी सज्जन के शील का नाश नहीं होता है । स्त्री के सलौने ( नमकीन ) मुख पर भी उसके अधर ( आँठ ) मधु ( मधुरता ) ही बहाते हैं ।
१८. बालजनों की तरह विलसित निरर्थक वचन-प्रसंग, असम्बद्ध प्रलाप के परिग्रह के अनुबन्धन से मुक्त रहा जाए ।

### कविकुल वर्णन :

१९. तीन वेद, तीन होमाग्नि के सम्पर्क से उत्पादित देव-संतोष तथा त्रिवर्ग-फल प्राप्त बहुलादित्य नामक ( ब्राह्मण ) था ।
२०. आज होमाग्नि ( यज्ञ अग्नि ) से प्रसरित ( फैले हुए ) धूम शिखा के कलुषित जिसके वक्षस्थल को भी चन्द्रमा मृग-कलंक के बहाने धारण कर रहा है ।
२१. उसकी ( बहुलादित्य की ) गुण-रत्नों से युक्त महासमुद्र सदृश पत्नी

से निजकुल के आकाश के चंद्र की तरह भूषणभट्ट नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ।

२२. चतुर्मुख ( ब्रह्मा ) से निकले हुए वेदों के द्वारा एक मात्र अपने कमल-मुख में स्थित होने से जिसके प्रिय बान्धवों के द्वारा अपने को अधिक धन्य माना जाता था ।

२३. उस भूषणभट्ट के पुत्र, तुच्छबुद्धि वाले मुझ कौतूहल के द्वारा रचित लीलावती नाम इस कथारत्न को सुनो ।

### शरद-वर्णन :

२४. (अ) जिस तरह चन्द्ररूपी केशरि के कर के प्रहार से दलित तिमिर रूपी हृस्तिकुम्भ बिखरे हुए नक्षत्र रूपी मुक्ताफल से उज्ज्वल शरद ऋतु की रात्रि में—

२४. (ब) चाँदनी से व्याप्त कोश की कान्ति से धवल, ( स्वच्छ ) सम्पूर्ण गंध युक्त प्रकम्पित पुष्प-पत्र से रस युक्त घर की वापिकाओं में—

२४. (स) अत्यन्त मधुर गुण गुण आवाज करने वाले भ्रमर चन्द्र के प्रकाश में निर्विघ्नतापूर्वक रसपान कर रहा है ।

२५. इस शरद ऋतु से चन्द्रमा, चन्द्रमा से भी रात्रि, रात्रि से कुमुदवन, कुमुदवन से नदी तट और नदी तट से हंसकुल सुशोभित होता है ।

२६. ( हे प्रिय ! ) नए कमल नाल के कपैले रंग से विशुद्ध कंठ से निकले हुए अत्यन्त मनोहर शरदऋतु रूपी लक्ष्मी के चरणों के नूपूर की आवाज वाले हंसों का संभाषण सुनो ।

२७. शीतलता से युक्त जल की तरंग के सम्पर्क से ठंडी हुई अर्ध विकसित मालती की मुग्ध ( सुन्दर ) कलिका की सुगंध से उत्कृष्ट पवन चल रहा है ।

२८. दश-दिशा रूपी बधुओं के मुख के तिलक की पंक्ति की तरह तालाब के जल में स्वच्छ तरंगों से हिलते हुए वृक्षों की यह वनरात्रि सुशोभित हो रही है ।

२९. दिन की संभावना से एक हृदय वाले विरह वेदना से रहित वापियों में मिल रहे इन चक्रवाक पक्षियों को देखो ।

३०. देखो ! विकसित सप्तच्छद की सुगन्ध से आकृष्ट हुए अर्चित कुमुम के आस्वाद से पराङ्मुख यह भ्रमर-समूह ( शरद ऋतु ) में घूम रहा है ।

३१. हे प्रिय ! प्रफुल्लित सुगन्ध युक्त नील कमल के आमोद वाले चन्द्रमा के उजले कर्णाभूषण वाले एवं निर्मल ताराओं के प्रकाश जैसी आँखों वाले इस रात्रि के मुख को चन्द्रमा मानों पी रहा है ।
३२. अत्यन्त रमणीय रात्रि ( है ), निर्मल शरद ऋतु ( है ), तुम मेरे अधीन ( हो ) और परिजन अनुकूल ( हैं ) अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मेरे पास नहीं है ।

### कथा-स्वरूप :

३३. 'हे स्वामी ! सायंकाल के विनोद के लिए, मदयुक्त, सुखकारी ( आनंदजनक ), मनोहर रचना ( कथन ), हम महिला जन के मनोज्ञ, रसयुक्त, कोई भी अपूर्व कथा कहिए ।'
३४. ( तब ) सुन्दर मुख कमल से उत्पन्न विशेषता वाली के उस वचन को सुनकर उसने ( कौतूहल ने ) कहा कि हे नीलकमलों जैसे नेत्रों वाली ! यहाँ पर कवियों ने तीन प्रकार की कथा कही है ।
३५. जैसे दिव्या, दिव्यमानुषी और मानुषी । उसमें भी वास्तव में सर्वप्रथम कवियों ने क्या लक्षण किया ? वह इस प्रकार है—
३६. दूसरी ( कथा ) श्रेष्ठ महाकवियों के द्वारा संस्कृत प्राकृत की संकीर्ण ( मिश्रित ) विद्यावाली, अच्छे वर्णों में रची गई अनेक अच्छी कथाएँ सुनी जाती हैं ।
३७. हे मृगाक्षि ! उनके ( महाकवियों के ) बीच में हम जैसे अज्ञानियों के द्वारा जो कथाएँ कही जाती हैं, वे कथाएँ लोक में गुणोत्कर्ष को नहीं पा सकेंगी ।
३८. हे सुन्दरी ! शब्द-शास्त्र के ज्ञान विशेष से रहित मेरा उनसे क्यों उपहास करवाती हो ? क्योंकि उनके सामने मैं बोलने में भी समर्थ नहीं हूँ, फिर विस्तृत कथाबंध कहने की तो बात ही कठिन है ।
३९. और तब प्रियतमा ने कहा—'हे प्रियतम ! हमारे जैसे लोगों के लिए उस शब्दशास्त्र से क्या प्रयोजन, जिसके द्वारा सुभाषित मार्ग खण्डित हो ।
४०. ( अतः हे प्रिय ! ) बिना विशेष प्रयत्न के हृदय से अर्थ स्पष्ट होता है, वही शब्द सदैव श्रेष्ठ है । हमारे लिए लक्षण से क्या प्रयोजन ?
४१. इस तरह मुग्ध युवती की तरह मनोहर, देशी शब्दों से युक्त एवं उत्तम लक्षणों वाली कोई दिव्यमानुषी कथा प्राकृत भाषा में कहिए ।'

४२. उसे वैसा सुनकर कौतुहल कवि ने कहा—‘हे चंचल बालमृग की तरह आँखों वाली ! यदि ऐसा है तो अच्छी सन्धियों से युक्त कथावस्तु को सुनो ।’

### कथा प्रारम्भ :

४३. चारों समुद्ररूपी गोलाकार करधनी से बंधी हुई विशाल नितम्ब की शोभा वाली, शेष नागराज के अंक में सभी अंगों को छिपाए हुए तीनों लोकों में अच्छी तरह स्थित—
४४. प्रलयकाल में वराह से उद्धार की गयी, सुख-सम्पत्ति एवं महान् वस्तुओं से युक्त नाना प्रकार के रत्न से अलंकृत भगवती पृथ्वी में—
४५. धान्य-सम्पत्ति से पूर्ण, खेतीहर प्रसन्न नागरिकों से युक्त और सु-व्यवस्थित गाँवों के गोधन के रंभाने की आवाज से दिशाओं को गुजाने वाला—
४६. अतिसुखद पेय, दुकानों एवं बाजारों से युक्त चर्चरी की आवाज और सुन्दरियों के समूह को सुशोभित ऐसा सम्पूर्ण सुखकर निवास आसव नामक विख्यात जिला था ।
४७. वह जो प्रदेश है, वह कृतयुग से जुड़ा हुआ, धर्म के निवास-स्थान की तरह, ब्रह्मा का मानों शिक्षा-स्थान और पुण्य का आवास था ।
४८. उस प्रदेश में मानों पुण्य का शासन था, सुख-समूह का मानों वह जन्म-स्थल था, वह आचारण का आदर्श था, तथा गुणों के लिए अच्छे क्षेत्र ( खेत ) की तरह था ।
४९. उस नगर में कोमल घास से संतुष्ट गोधन एवं गोधन से आनंदित समूह था । सर्वोत्तम बाँस समूह में वीणा की पूर्ण व्याप्त गीत की आवाज से दिशाएँ गूँजती रहती थीं ।
५०. युवतीपक्ष—अति उन्नत और भारी पयोधरवाली, कोमल मृणाल की तरह बाँहों वाली तथा सदा मधुर बोलनेवाली युवतियाँ नदियों की तरह थीं ।
- नदीपक्ष—दूर तक फैली हुई, गहरे जल से भरी हुई, कोमल मृणाल रंद्र को बहाने वाली तथा मीठे पानी से युक्त नदियों की तरह मानों वहाँ की युवतियाँ थीं ।
५१. जिस जनपद में मनोहर गीतों की आवाज हरिणों ( मृगों ) को हरण करने वाली पामर वधुओं के द्वारा अपने खेत की फसलें रक्षित की जाती थीं, वह प्रदेश सुस्थित रहे ।



## कंसवध ❀

१. मोर के पंख के मुकुट वाले, स्नेहयुक्त गोपियों के नेत्रों के कटाक्ष से देखे गए स्वयं यशोदा के पुत्रपने को प्राप्त लक्ष्मी के नाथ प्रभु (कृष्ण) गोशाला को सुशोभित करते हैं ।
२. हे सज्जनो ! अमृत की तरह सुख प्रदान करने वाली उस (कृष्ण के द्वारा) कंसवध की कथा को ही ग्रहण करें (सुनें), जिसे सदा गुरुओं के चरणों में आश्रित रहता हुआ मैं भक्ति गुण से प्रेरित होकर कहता हूँ ।
३. इसके बाद एक दिन गदा के छोटे भाई (कृष्ण) अपने बड़े भाई (बलराम) के साथ वे (कृष्ण) आगे प्रवेश करते हुए व्रजांगन (गोशाला) में घूमते हुए दिन के अन्त में (संध्या) गायों को दुहने में लगी हुई गोपियों को गान्दिनी पुत्र देखते हैं ।
४. पृथ्वी पर धूली में रेखा, रथ, संख, पंकज, ध्वज आदि पद-चिह्नों को देखकर उन्हें नमन करते हुए पुलकित पलकों वाले प्रमोद के आँसुओं से गीले आर्नदित शरीर वाले [अक्रूर] को देखते हैं ।
५. प्रतिक्षण ध्यान में बंद आँखों वाले, झुकें हुए सिर से अंजलिबद्ध प्रणाम करने वाले, आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने सामने शोभायमान अक्रूर को अत्यन्त कौतुकता से कृष्ण ने देखा ।
६. चारों ओर स्थित वस्तु समूह को न देखने वाले, कही जाने वाली ऊँची आवाज को नहीं सुनने वाले, बाहरी बाधा से रहित एवं श्रेष्ठ परब्रह्म के सुख का अनुभव करने वाले किसी देहधारी (अक्रूर) को (कृष्ण देखते हैं) ।
७. क्षण भर में रोता हुआ, दूसरे क्षण हँसता हुआ और क्षणभर में खम्भे की तरह अस्थिर स्थित, क्षणभर में चलता हुआ, क्षणभर में ऊँचा बोलता हुआ, क्षण में ही मदहोश की तरह चुपचाप (अक्रूर को कृष्ण देखते हैं) ।
८. प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र पैरों से चलते, हिलते, ढुलते एवं गिरते हुए मोतियों के गुण के फेन समूह मानो अच्युत समुद्र में सरिता के प्रवाह की तरह सम्मुख आए हुए अक्रूर का वे स्वागत करते हैं ।

❀ अनुवादक—डॉ० उदयचन्द जैन, मुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।

९. देवकी-सुत (कृष्ण) कर-कमल से उस (अक्रूर) को पकड़कर अपने घर को ले जाते हैं, सुख-शांति पूछते हैं, स्वादिष्ट भोजन कराते हैं, और फिर कुछ बोलते हैं—
१०. हे अक्रूर ! तुम्हें देखने से मेरा मन स्नेही बंधु के समान हर्षयुक्त (है)। अरे ! इसमें क्या आश्चर्य ? चंद्रमा के उदित होने पर पुण्डरीक शीघ्र विकसित होता है।
११. (अक्रूर ने कहा—हे कृष्ण !) सचमुच दिन के प्रदीप की तरह (सूर्य की तरह) तेजस्वी तीक्ष्ण किरणों वाले भोज राजा (कंस) को मैं जानता हूँ (फिर भी) प्रदीपमान होता हुआ भी वह प्रभाहीन किसी तरह आप लोगों के कारण प्राण धारण किए हुए है।
१२. हम दोनों युगल (संतान) बहुत समय तक रक्षित होने पर भी हमारे वे माता-पिता जिस बंदी गृह की (वेदना) सहन करते रहे, उस दुष्ट संतान के जन्म लेने से संतान रहित होना अच्छा है। शरीर-धारी सत्य ही कहते हैं।
१३. शरीर का भरण-पोषण करने वाले इन माता-पिता और बंधु को कैसे छोड़ दें ? जगत में जो कोयल की रीति के अनुगामी हैं वे उत्तम पुरुष क्यों नहीं निन्दा करते हैं अर्थात् अवश्य करते हैं।
१४. बहुत कहने से क्या लाभ ? आप अपने आने का कारण कहिए। यह कहते हुए माधव (कृष्ण) चुप हो गए। क्योंकि भव्यजन (सज्जन) हित-मित-अक्षर (प्रिय-वचन) बोलते हैं।
१५. विशुद्ध शील एवं झुके हुए सिर से वे हार्न कंसदूत से सम्बोधित किए जाते हैं कि तुम्हारा यथेष्ट दर्शन अच्छा है हमारे आगमन का प्रयोजन (इसी से) सार्थक हुआ।
१६. निरर्थक लगाम, प्रकृष्ट बोध-स्वरूप पथिक यम, नियम, योग अभ्यास में जो भी तपस्वी सदैव रत रहते हैं वे मेरी दृष्टि से दृष्टि-गोचर हैं।
१७. मु-निर्मित सौंदर्य के अद्वितीय मंदिर को निर्मल पूर्णिमा के चंद्रमा की किरणों के समान हास्य से उज्ज्वल तुम्हारे मुख को मेरे जिन नेत्रों के द्वारा पिया जा रहा है, उसने संसार को जीत लिया।
१८. हे माधव ! बड़े हुए पाप-समूह से आपके मामा के द्वारा (मैं) रोका गया। फिर भी इस मुख का दर्शन उत्सव की तरह (बन पड़ा), जिसे वास्तव में ही भाग्य का पलट जाना (कहूँगा)।

१९. इस समय तो मेरे ऊपर भाग्य ने कृपा दृष्टि की है, इसलिए (मैं) बड़ा ही भाग्यशाली हूँ, जो आज उसी भोज राजा के द्वारा आपके कार्य-विशेष के महत्त्व से भेजा गया हूँ।
२०. हे माधव ! मुनें ! तुम्हारा वह मामा भय से सदा व्याकुल है, जो यह प्रयत्न कर रहा है। तुम लोगों को भी इस समय ठगने की इच्छा कर रहा है। क्या वह जगत के लिए कुछ भी संपदा दे सकता है ?
२१. तम से युक्त वह इस समय फिर भी तुमको स्वयं मारने के लिए उद्यत (प्रयत्नशील) है, जिसके वध के लिए लम्बी भुजाओं वाले वे प्रलम्ब और केशी भी समर्थ नहीं हो सके।
२२. हे त्रिलोकदर्शी। मंच पर बैठा हुआ वह दुष्ट (कंस) कुम्भी राजा और मल्लों के साथ धनुष उत्सव के बहाने पृथ्वीनाथ, आपको मारने के लिए बीच का साहसिक कार्य कर रहा है।
२३. उस दुष्ट राजा (कंस) ने एकांत में बुलाकर मुझे जो कुछ भी कहा उसे भी सुनिए—हे अक्रूर ! शीघ्र गोकुल जाओ और बालक राम-केशव को इस प्रकार कहें—
२४. भोजराजा की भुजाओं से रक्षित मथुरा के राज-भवन में धनुष यज्ञ है। यदि आप लोग उसे देखने के लिए कुछ भी उत्सुक (हों) तो शीघ्र आकर उत्सव देखें।
२५. वह नंदगोप भी अपने मित्रों एवं रिश्तेदारों सहित शीघ्र मेरे भवन को प्राप्त हों। तुम सबको देखने के लिए उसके द्वारा (कंस के द्वारा ही) सब कुछ कहा गया।
२६. इस कार्य (धनुष-यज्ञ) का ऐसा शरीर (ऐसा उद्देश्य) है। जहाँ पर ही ठगने का कार्य साँस ले रहा है। इसलिए आप नंदपुत्र, जाओ या न जाओ। क्योंकि विधि और निषेध दूत का कार्य नहीं है।
२७. उस पर रोहिणीसुत (बलराम) कहते हैं—हे भाई (कृष्ण) ! मेरे मन के भाव दो प्रकार के हैं। धनुष-यज्ञ का कौतूहल प्रवृत्त हो रहा है, किन्तु कपट किए जाने के कारण निवृत्त हो रहा है।
२८. वनमाली (कृष्ण) यह वचन कहते हैं—‘प्रलम्ब को नष्ट करने वाले बलराम बहुत कहने से क्या लाभ ? क्योंकि व्यर्थ के कार्य के लिए

- तैयार व्यक्तियों के लिए शत्रुओं की संभावना बनी रहती है। कार्य में लगे हुए हम लोगों के लिए भय कहाँ ?
२९. यदि इसके बाद भी सामान्य व्यक्ति की तरह स्पष्ट साहस करेगा तो स्वयं क्षय को प्राप्त होगा। तेज अग्नि को प्रसित करने के उद्यत पतंगों का समूह क्या जल नहीं जाता, अर्थात् अवश्य जल जाता है।
३०. अधिक मद और छल करने में प्रयत्नशील कोई भी विशुद्ध शील वाले हम लोगों के छूने के लिए साहस नहीं कर सकता। स्वच्छ ताराओं के समूह को रात का अंधकार क्या मलिन कर सकता है ? कहिए।
३१. भुजाओं का प्रताप, भुजाओं के घमण्ड से युक्त शत्रुओं के बीच में ही प्रकाशित होता है। क्योंकि अग्नि की ज्वालाओं का समूह क्या ईंधन बिना स्वयं जल सकता है ? अर्थात् नहीं।
३२. (अतः) हम सब व्रज के लोगों के साथ निराकुल होकर कामर सहित गाड़ियों में चढ़े हुए इसी समय चलते हैं। ताकि वह भोजराज आदर का पात्र बने।
३३. ऐसा कहते हुए बलराम के साथ देवकी-सुत (कृष्ण) रथ पर सवार हो जाते हैं और उसके बगल में हाथ के भाग से पकड़ी हुई लगाम वाला वह गन्दिनीसुत (अक्रूर) शीघ्र सवार हो जाता है।
३४. राज-भवन की तरह (ऊँचे) रथ में सुखपूर्वक सोते हुए स्वयं रात्रि बिताकर प्रातः सम्मिलित हुए नन्द-गोप आदि प्रमुख लोगों के साथ उन माधव ने प्रस्थान किया।
३५. गरुड़ की ध्वजा वाले (कृष्ण की) कानों को दुःसह प्रवास वार्ता को सुनकर वियोग से भयभीत गोपिकाएँ गले से निकली आवाज और आँसुओं के जल से अवरुद्ध अक्षर निकालने लगती हैं—
३६. खेद है ! हम व्रजांगनाएँ बार-बार हत हुई (मारी गई) अपूर्ण चंद्रमा के होने पर शम्भु-मस्तिष्क एवं अकौस्तुभ मणि से विष्णु का वक्षस्थल कितना शोभा पाता है ? (उसी तरह) नन्द का घर कृष्ण के बिना क्या शोभा पा सकता है ?
३७. अनन्य नाथ (कृष्ण) भी हम लोगों को अनुकम्पा बिना दुःखित शीघ्र छोड़ गए। इस समय भी उसी मनुष्य में जो मन लग रहा है वह हमारे लिए निश्चय ही हँसी योग्य है।

३८. हम सब यहाँ क्या करें ? युवतियों का मन गुणों के श्रेष्ठ मनुष्य में लगा हुआ है, क्योंकि सुन्दर पुष्पों की सुगन्ध से युक्त वृक्ष पर भौरों के समूह निकालने (भगाने) के लिए समर्थ नहीं ।
३९. जिस दुष्ट आत्मा के द्वारा वे दूर ले जाए जा रहे, वे जनार्दन (कृष्ण) हम लोगों के लिए प्राणों से प्रिय हैं हे गोपियों ! (आप यह) समझें कि वह आया हुआ कंस दूत नहीं, कृतान्त (यमराज) का दूत ही (था) ।
४०. यह क्रूर है, अन्य नहीं, इसके लिए अवश्य ही जो अक्रूर शब्द-प्रक्रिया की गई वह जैसे घोरमूर्ति के शिव के अघोर शब्द उसी तरह यह की गई ।



### ३. भविष्यदत्तकाव्य\*

१. लोगों में सद्भाव उत्पन्न करने वाले, द्वीप-द्वीपान्तरों में सुखकारी एवं देवों द्वारा वर्णित भविष्यदत्त के वृत्तान्त को कहता हूँ ।
२. श्रेष्ठ मुनि के समान संसार-विजेता, छोटी-छोटी नौकाओं से युक्त समुद्र के समान, द्वीपों एवं समुद्रों के मध्य में स्थित अत्यन्त रमणीय जम्बूद्वीप नाम का एक द्वीप है ।
३. उसके दक्षिण दिशा की ओर मध्य खण्ड में पुण्यतीर्थ के समान तथा प्रति दिवस शुभरस से युक्त एवं धर्म में लीन विशाल भरत क्षेत्र है ।
४. उसमें देवों से युक्त स्वर्ग के समान, आर्य सत्ियों से युक्त बुद्ध के समान आकाश में व्याप्त चन्द्र के समान और अनेक पदों के धारी चक्रवर्ती राजा के समान, और—
५. विविध रत्नों से युक्त समुद्र के समान, सुन्दर दिवस-समूह के समान, प्रचुर मदयुक्त हाथी के समान अत्यन्त रमणीय कुरु नाम का एक देश है ।
६. उस कुरुदेश में हंस के समान सुन्दर, कोकिल के समान कण्ठवाले जनों से युक्त और सूर्य के समान महान् उदयवाला गजपुर ( हस्तिनापुर ) नाम का एक नगर है ।
७. उस गजपुर में कामदेव के समान सुन्दर, सुरगणों द्वारा सुशोभित इन्द्र के समान, कौरव-वंश में उत्पन्न भूषाल नाम का राजा राज्य करता था ।
८. दुष्ट (कठोर) एवं अदुष्ट (नम्र) स्वभाव वाला, क्रोधादि से रहित मन वाला तथा पृथ्वी का निरन्तर पालन करने वाला होने के कारण उस राजा ने अपना नाम सार्थक कर दिया ।
९. इस संसार में जो पृथ्वी का पालन करता है, वही 'भूपाल' कहलाता है और जो (व्यसन के) अभ्यास में रत है, वह (राजा) तो चोर एवं लुटेरा ही कहलाता है ।
१०. उसी श्रेष्ठ नगर (गजपुर) में धनर्पात नाम का एक वणिक रहता था, जो वैभव से सभी लोगों में उत्तम था ।

\* अनुवादक—डॉ० राजाराम जैन, भविष्यदत्तकाव्यम्, आरा, १९८५, पृ० २२-३० ।

११. भूपाल ने भी वैभव देकर उसका सम्मान किया। उससे वह इतना समर्थ हो गया कि उसने सभी जनों के ऊपर 'श्रेष्ठी' पद प्राप्त कर लिया।
१२. वैभव से श्रेष्ठता, वैभव से ही स्वजन एवं परिजन, वैभव से ही भावों की शुद्धता एवं वैभव ही संकटमोचन है।
१३. धनपति के गृहद्वार पर गुणोजनों, मुनिजनों एवं धीर-वीर तथा प्रतिष्ठित जाति एवं कुलों के व्यक्तियों की प्रतिदिन सेवा की जाती थी।
१४. इस संसार में जैसे भी हो, वैसे वैभव को इकट्ठा करने का उपाय करना ही योग्य है। क्योंकि वैभव-विहीन लोगों से सभी पराङ्गमुख हो जाते हैं।
१५. उस सेठ की लक्ष्मी के समान सुन्दरी कमलश्री नाम की अत्यन्त प्रिय पत्नी थी, जो उसके सभी कार्यों में अनुकूल रहकर प्रतिदिन पति की भक्ति में लीन रहती थी।
१६. सच्ची पत्नी वही हो सकती है जो प्रतिदिन अपने पति की भलाई में लगी रहती है। अन्य प्रचण्ड स्वभाव वाली पत्नियाँ तो गृहिणी के रूप में पति की शत्रु ही होती हैं।
१७. इस संसार में व्यक्ति गृहिणी की कुशलता से सुख पाता है। उसके अभाव में अत्यन्त कुशल व्यक्ति भी भटकता रहता है।
१८. विषय-सुखों का अनुभव करती हुई वह कमलश्री समयानुसार गर्भवती हुई। सुखद-स्वप्नों को देखती हुई वह हृदय से प्रसन्न रहने लगी।
१९. कुल, सौन्दर्य एवं वैभव से युक्त होने पर तथा अपने पति को अत्यन्त प्रिय होने पर भी जिस महिला के सन्तान नहीं होती, वह अपने को अकृतार्थ ही मानती है।
२०. उस कमलश्री का गर्भ जैसे-जैसे बढ़ रहा था, तेसे-तेसे उसके अंग-प्रत्यंग भी बढ़ रहे थे। अथवा माता की उदर-वृद्धि ही गर्भ की वृद्धि कर रही थी।
२१. दोहले के परिपूर्ण होते ही समय आने पर जननी के नेत्र एवं मन को आनन्द देने वाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ।
२२. बालचरित (बाल्य क्रीड़ाएँ) देखने पर दूसरों के हृदयों में भी स्नेह का

संचार हो जाता है। फिर माँ की तो बात ही अलग है। माँ के लिए तो बच्चा ही उसका प्राण है।

२३. पुत्रोत्पन्न होने पर माता-पिता में परस्पर में स्नेह कम हो जाता है, ऐसा स्त्रियों का नियम है। वस्तुओं में भी ऐसा स्वभाव देखा गया है।
२४. विविध लोगों के द्वारा बधाई दिये जाने पर माता-पिता ने बहुत-सी सम्पत्तियाँ दान करके कालक्रम से पुत्र का नाम भविष्यदत्त रखा।
२५. आठ वर्ष की आयु में उसे माता-पिता ने पढ़ने के लिए उपाध्याय के पास भेजा। वहाँ उसने अल्प-काल में ही समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया।
२६. उस विनयी भविष्यदत्त ने अतिशीघ्र ही सर्वज्ञ-भाषित धर्म को जान लिया तथा लोक-व्यवहार का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया क्योंकि उसी से इस संसार में निर्वाह करना संभव है।
२७. जो व्यक्ति लोक-व्यवहार की उपेक्षा करता है, वह लोगों द्वारा उपेक्षित हो जाता है तथा इससे धर्म की भी हानि होती है।
२८. संयम से युक्त होने पर भी साधु यदि सर्वज्ञ-मार्ग की उपेक्षा करता है तो वह इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीवों से भी हीन कोटि को प्राप्त करता है।
२९. मुनिश्रेष्ठ समाधिगुप्त की निन्दा एवं घृणा के दोष से कमलश्री अचानक ही अपने पति धनपति को अप्रिय हो गई।
३०. धनपति ने उससे कहा—“मेरे नेत्रों के सम्मुख मत रह। तत्काल ही अपने पिता के घर चली जा। मुझसे अधिक मत कहलवा।”
३१. कमलश्री ने कहा—“हे नाथ ! ऐसे कठोर वचन मत कहिये क्योंकि अकारण रोष करने वालों की बच्चे भी हँसी उड़ाते हैं।”
३२. तब धनपति ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका गला पकड़ कर उसे अपने गृहद्वार से बाहर कर दिया। बेचारी कमलश्री अपने को एकाकी देखकर रोने लगी।
३३. उस कमलश्री ने स्पष्ट जान लिया कि मेरा पति मुझ से निश्चय ही रूठ गया है क्योंकि इसने पहले ऐसा कभी नहीं किया।
३४. वह अत्यन्त दुःखित मन से अपने पिता के घर (गजपुर) पहुँच गई। वहाँ उसे इस प्रकार आई हुई देखकर माता-पिता आदि बड़े दुःखी हुए।



३५. रोती हुई उस कमलश्री को आश्वस्त कर उन्होंने उससे आने का कारण पूछा । उसने भी अपने पति के समस्त दुर्व्यवहार को कह सुनाया ।
३६. इसी बीच समस्त वृत्तान्त सुनकर भविष्यदत्त भी अपनी माँ के पास जा पहुँचा । उसे देखकर कमलश्री (माँ) ने कहा—“पुत्र ! यहाँ आकर तुमने ठीक नहीं किया ।”
३७. “हे पुत्र ! तुम्हारे पिता ने यद्यपि किसी दोष-विशेष से मुझे निकाल दिया है, तो भी पितृगृह छोड़कर तुमने उपयुक्त कार्य नहीं किया ।”
३८. यह सुनकर भविष्यदत्त ने कहा—“हे माँ ! तुम्हें इस प्रकार नहीं कहना चाहिए । क्योंकि माँ के विरह में पिता भी चाचा के समान स्वभाव वाला हो जाता है ।”
३९. माँ के समीप रहता हुआ वह भविष्यदत्त वहीं व्यापार करने लगा। वह शीघ्र ही समस्त कलाओं में कुशल हो गया एवं अपने मधुर व्यवहार से उसने सभी को सन्तुष्ट कर दिया ।
४०. उसी नगर में वरदत्त नाम का एक सेठ रहता था । उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था । उसकी नागकन्या के समान श्रेष्ठ सौन्दर्य से युक्त नाग-स्वरूपा नाम की एक पुत्री थी ।
४१. धनपति द्वारा माँगे जाने पर वरदत्त ने उस कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया । उससे बन्धुदत्त नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ ।
४२. वह पुत्र अत्यन्त सुन्दर तथा छविवान् था । समयानुसार वह युवावस्था को प्राप्त हुआ । एक दिन उसके साथियों ने एकान्त में बुला कर उसे कहा—
४३. “युवावस्था में जो व्यक्ति अपनी भुजाओं के बल से सम्पत्ति नहीं कमाता, वह वृद्धावस्था में दूसरों के (प्रगतिशील) कार्यों को देख-देखकर झुरता रहता है ।”
४४. “पहली आयु (युवावस्था) से लेकर अन्त (मृत्यु) के आठ मास पूर्व तक इस संसार में कुछ न कुछ पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए, जिससे अन्तकाल में सुख और संतोष प्राप्त हो सके ।”
४५. “जो व्यक्ति पहले कमाये गये धन का घर में बैठी-बैठी महिला के समान भोग करता है, वह व्यक्ति पुरुषार्थी एवं वीर नहीं बल्कि पुरुष नामधारी महिला मात्र ही है । उसे इस संसार में लेशमात्र भी लज्जा का अनुभव क्यों नहीं होता ?”

४६. “द्रव्योपार्जन करते हुए जो व्यक्ति स्वजनों के बीच में नहीं रहता, पुरुषाकृति में उस व्यक्ति को निश्चय ही घर में बन्द महिला के समान समझो।”
४७. “अतः हम लोग प्रभूत द्रव्यार्जन हेतु सुवर्ण भूमि (वर्तमान बर्मा) चलें जिससे कि लोगों के मध्य में हम लोग भी पुरुषार्थी कहला सकें।”
४८. यह सुनकर बन्धुदत्त ने कहा कि—“आप लोगों ने ठीक ही कहा है। यह बात मेरे हृदय में पहले से ही बसी हुई है।”
४९. तब बन्धुदत्त अपने पिता के पास गया और बोला—“हे तात् ! मैं द्रव्यार्जन हेतु सुवर्णद्वीप जा रहा हूँ।”
५०. धनपति ने उससे कहा—“व्यापारियों के लिए यह उचित भी है (जो कि तुमने सोचा है) किन्तु हे पुत्र ! इस संसार में अकेले तुम्हीं तो मेरी आँखों के तारे हो।”
५१. “देशान्तर में जाना कठिन है। समुद्र को पार करना भी कई प्रकार के उपद्रवों से युक्त होता है। फिर तुम्हें भोग करने के लिए घर में भी इतनी अधिक सम्पत्ति है कि वह कभी भी समाप्त नहीं होगी।”
५२. तो भी बन्धुदत्त ने जब विदेश जाने का आग्रह नहीं छोड़ा, तब उसके माता-पिता ने भी बड़े कष्टपूर्वक उसे विदेश जाने की अनुमति दे दी।
५३. बन्धुदत्त ने नगर में घोषणा करा दी कि—‘जो कोई भी सुवर्णद्वीप चल रहा हो, उसके समस्त कार्यों में मैं सहायता करूँगा।’
५४. बन्धुदत्त की यह बात सुनकर भविष्यदत्त ने कहा—‘हे भाई ! यदि आपका ऐसा कहना है, तो मैं भी आपके साथ चलूँगा।’
५५. यह सुनकर बन्धुदत्त ने विनयपूर्वक कहा कि—‘यदि तुम्हारा साथ मेरे साथ हो और हे भाई ! यदि तुम मेरे साथ विदेश चलो, तब तो मुझे सभी कार्यों में सफलता मिल ही जायगी।’
५६. उसने पुनः कहा कि—‘यदि किसी पुण्य के प्रभाव से विदेशयात्रा में पिता अथवा भाई साथ में रहें’, तो निःसन्देह विदेश भी अपना घर बन जाता है।
५७. पिता ने द्वीपान्तर जाने सम्बन्धी सभी तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी। वह बन्धुदत्त भी ५०० व्यक्तियों के साथ स्वामी बनकर चलने की तैयारी करने लगा।

५८. उसी समय बन्धुदत्त की माता ने बन्धुदत्त को बिलकुल एकान्त में बुला कर कहा—‘हे पुत्र ! तुम विदेश जाकर ऐसा उपाय करना जिससे भविष्यदत्त यहाँ वापस न लौट सके ।’
५९. ‘अन्यथा यही तुम्हारा जेठा भाई (भविष्यदत्त) पिता की मृत्यु के बाद सभी सम्पतियों का स्वामी बन जायगा । यदि और नहीं, तो आधी सम्पत्ति तो वह बाँट ही लेगा । हे पुत्र ! इसमें कोई सन्देह नहीं ।’
६०. दूसरे दिन बन्धुदत्त सभी पुरुषों के साथ विदेश चल दिया और चलते-चलते वह शीघ्र ही विशाल समुद्र के किनारे जा पहुँचा ।
६१. बन्धुदत्त एवं उसके साथियों को सम्मुख देखकर समुद्र मानों अपनी उछलती हुई चंचल तरंगों के बहाने उनके स्वागत के लिये आगे बढ़ रहा था । अथवा उन आगन्तुकों को अपने घर में आया हुआ देख कर ही वह समुद्र तरंगों के बहाने अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहा था ।
६२. अपनी समस्त व्यापारिक सामग्रियाँ जहाजों में भर कर वे मांगलिक विधियों पूर्वक सुवर्णद्वीप के मार्ग की ओर बढ़े ।
६३. मार्ग में चलते-चलते उनका समस्त ईंधन समाप्त हो गया । इसी बीच मार्ग में चलते-चलते वे सभी मैनाकद्वीप जा पहुँचे ।
६४. उस मैनाकद्वीप में उतरकर वे सभी लोग फलादि चुनने लगे और सभी लोग दर्शनीय स्थल देखते हुए इधर-उधर घूमने लगे ।
६५. भविष्यदत्त को छोड़कर अन्य सभी लोग जब समुद्र तट पर लौट आए, तभी बन्धुदत्त ने अपने कर्मचारियों को वेगपूर्वक जहाज चला देने का आदेश दिया ।
६६. सभी साथियों ने बन्धुदत्त से कहा—‘यहाँ भविष्यदत्त दिखाई नहीं दे रहा है, उसे छोड़कर कैसे चलें ? साथियों को ऐसा नहीं करना चाहिए ।’
६७. यह सुनकर बन्धुदत्त ने कहा—‘एक के पीछे सभी क । नुकसान नहीं कर सकता । वह तट पर नहीं आया तो उसका गुण आप लोगों को और उसका दोष मेरे माथे पर ।’
६८. बन्धुदत्त के हृदय का भाव जानकर सभी साथी अपने मन में बड़े

दुःखी हुए । उस स्थल पर पहुँच कर भविष्यदत्त भी इस प्रकार सोचने लगा—

६९. 'बन्धुदत्त मुझे छोड़कर क्यों चला गया ? अथवा क्या यह वही समुद्र तट नहीं है, जहाँ मेरा जहाज रुका था ? किन्तु जहाजों के मस्तूल आदि चिह्न तो दिखाई दे रहे हैं । इससे विदित होता है कि बन्धुदत्त के लोभ के कारण ही मैं यहाँ अकेला छोड़ दिया गया हूँ ।'
७०. ऐसा विचार करके वह भविष्यदत्त पीछे लौट गया और उसी द्वीप में इधर-उधर भटकता हुआ एक कदलीगृह में पहुँचा और वहीं विश्राम कर उसने रात्रि व्यतीत की ।



## ४. आरामशोभा-कथा\*

[१] यहीं पर जम्बू नामक वृक्ष से अलंकृत द्वीप (जम्बूद्वीप) के मध्य में स्थित, अखंड छह खंडों से सुशोभित, विभिन्न प्रकार के सुख-समूहों के निवास-स्थान भारतवर्ष में, सभी प्रकार की लक्ष्मियों से समृद्ध कुशांत नाम का एक देश था। वहाँ प्रमुदित, क्रीड़ाओं से युक्त लोगों से मनोहर, तेजस्वी क्षत्रिय-जाति में उत्पन्न के समान, शुभ्र एवं सुंदर एवं समस्त धान्यों से अभिराम बलासक नामक ग्राम था। जहाँ चारों दिशाओं में एक योजन प्रमाण भूमि-भाग में कहीं भी किसी भी प्रकार के वृक्ष आदि नहीं उगते थे।

[२] उस बलासक ग्राम में चारों वेदों में पारंगत तथा छह कर्मों का साधक अग्निशर्मा नामक एक ब्राह्मण निवास करता था। शीलादि गुणों से अलंकृत अग्निशिखा नाम की उसकी पत्नी थी। उनके परम-सौभाग्य से, सुखभोगों के बाद समयानुसार एक पुत्री का जन्म हुआ। माता-पिता ने उसका नाम विद्युत्प्रभा रखा।

गाथा १—जिसके सुंदर चंचल नेत्रों के सम्मुख नीलकमल भी किकर के समान तथा पूर्णमासी का चंद्रमा जिसके मुख की निर्मल लीला को निरंतर धारण करता था, जिसके नासाभाग के सम्मुख शुकपक्षी की चोंच भी अकुशल (अपडू) एवं शोभाहीन प्रतीत होती थी तथा जिसके सौंदर्य को देखकर अप्सराएँ भी निश्चय ही म्लानमुख हो जाती थीं।

[३] तदनंतर क्रमशः विद्युत्प्रभा के आठ वर्ष के होने पर दैव के वश से रोग आदि से ग्रस्त होने के कारण उसकी माता अग्निशिखा का स्वर्गवास हो गया। इस कारण उसके घर का समस्त कार्यभार उसी पर आ पड़ा। प्रातःकाल उठकर वह गोदोहन से निपटकर घर की सफाई करती (और) गायों को चराने के निमित्त चली जाती थी। मध्याह्न में पुनः गोदाहन कर पिता के लिए देवपूजा एवं भोजनादि

❀ अनुवादक—डॉ० राजाराम जैन, आरामसोहाकहा, आरा, १९८९, पृ० २३-५६।

कराकर (बाद में) स्वयं भोजन करती और पुनः गायों को चराकर संध्याकाल घर लौटती, तब प्रादोषिक कृत्यों को करके कुछेक क्षणों के लिए ही सोती थी। इसी प्रकार प्रतिदिन गृहकार्यों को करती हुई तथा उनसे थककर उसने अवसर पाकर अपने पिता से कहा—“हे पिता, गृहकार्यों से मैं बहुत ऊब गई हूँ। अतः कृपा कर आप अपना दूसरा विवाह कर लीजिए।”

[४] अपनी पुत्री विद्युत्प्रभा के सुखद वचन सुनकर उसने प्रसन्नचित्त होकर विष्वक् लता के समान एक ब्राह्मणी के साथ विवाह कर लिया। किन्तु वह स्वभावतया विलासिनी, खाने-पीने की लालची, आलसी एवं कुटिल थी। अतः उसने घर के सभी काम-काज विद्युत्प्रभा पर ही थोप दिये एवं वह स्वयं स्नान, विलेपन, भूषण भोजनादि भोगों में व्यस्त रहने लगी। वह सौतेली माता अन्य कार्यों में अपने शरीर को मोड़ना भी नहीं चाहती थी।

यह सब देख विद्युत्प्रभा बिजली की तरह प्रज्वलित होती हुई विचार करने लगी—“अरे, मेरे सुखों के निमित्त पिता ने जो कुछ किया है, वह तो नरक के समान दुखों का कारण बन गया। अब अदृश्य इन दुष्ट कर्मों से छुटकारा न मिलेगा, दूसरे तो फिर निमित्त मात्र ही होते हैं।” क्योंकि—

गाथा २—“सभी को पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। अपराधों अथवा गुणों में दूसरे लोग तो निमित्त मात्र ही होते हैं।”

गाथा ३—“जिससे, जिसके द्वारा, जिस प्रकार, जब और जो, जब तक, जहाँ शुभ एवं अशुभ आत्मा के कर्मों का बन्ध होता है, उससे, उसके द्वारा, उस प्रकार, उस समय, उसे, अपने वहाँ यमराज के वशीभूत हो जाना पड़ता है।”

[५] इस प्रकार वह विद्युत्प्रभा अन्यमनस्क (व्याकुल चित्त) हो प्रातःकाल ही गायों को चराकर, मध्याह्न में रसविहीन, (चलित रस) ठण्डा, रूखा-सूखा, सैकड़ों मक्खियों से व्याप्त, खाने के लिए रखा गया भोजन करती थी एवं इसी प्रकार दुःख का अनुभव करते हुए उसके बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

[६] अन्य किसी दिन दोपहर के समय सुगंधियुक्त घास पर विचरते-विचरते ग्रीष्मकालीन प्रखर सूर्य-किरणों के संताप से संतप्त, वृक्षों के

अभाव में छाया न मिलने के कारण, घास वाले प्रदेश में जब वह सो रही थी, तभी समीप एक भुजंग आया—

**गाथा ४**—“जिसके नेत्र रक्तवर्ण के थे, जो काला था तथा जिसकी दोनों जीभें चल रही थीं और जो प्रचण्ड फूँकार के शब्द से सभी प्राणियों को भय से आतंकित कर रहा था।”

[७] उस सर्प-शरीरधारी नागकुमार देव ने मनुष्य-भाषा में अत्यन्त संतुलित पदों के द्वारा उसे जगाया एवं उससे इस प्रकार बोला—

**गाथा ५**—“हे वत्से, भयभीत होकर मैं तेरे पास आया हूँ। मेरे पीछे जो ये गारुडिक (सपेरे) लोग लगे हैं, वे मुझे बाँधकर ले जाएँगे।”

**गाथा ६**—इसलिए तुम मुझे अपनी गोद में शरण दो और शीघ्र ही अपने वस्त्रों से ढँक दो। मेरी यहाँ सुरक्षा करो, इसमें क्षणमात्र भी विलम्ब मत करो।”

**गाथा ७**—“नागकुमार के शरीरधारी इन गारुडिकों के मंत्र के प्रभाव से दैवी-शक्तियाँ भी उनकी आज्ञा को भंग करके मैं समर्थ नहीं। अतः हे पुत्री, तू मेरी रक्षा कर।”

**गाथा ८**—“निर्भय होकर, वत्से, मेरे कथनानुसार मेरी रक्षा करो।” (ऐसा सुन कर) विद्युत्प्रभा भी करुणाद्र हो उठी एवं उसने उस नाग को अपनी गोद में छिपा लिया।

[८] इसके बाद उसी समय हाथ में औषधिवलय (मंत्र-तंत्र संबंधी कोई गोलाकार जड़ी बूटी) धारण किये हुए उस भुजंग के पीछे-पीछे ही शीघ्रतापूर्वक वे गारुडिक लोग आये और उन्होंने उस ब्राह्मण-पुत्री विद्युत्प्रभा से पूछा—“बाले, इस मार्ग से जाते हुए तुमने किसी महा-नाग को देखा है?” यह सुनकर उसने उत्तर में कहा—“द्वे राजन् ! मुझसे क्यों पूछते हैं ? क्योंकि मैं तो अपने शरीर को वस्त्र से ढँककर सो रही थी।

[९] यह उत्तर सुनकर उन्होंने परस्पर में विचार-विमर्श किया कि यदि इस बाला ने वैसा नाग देखा होता तो भयाक्रान्त कुरंगी के समान यहाँ से संतस्त होकर भाग खड़ी होती। अतः नाग यहाँ नहीं आया होगा। तदनन्तर वे आगे-पीछे उसे देखते हुए तथा उसे कहीं भी प्राप्त न कर हाथ से हाथ मलते हुए तथा दाँतों से ओंठ काटते हुए म्लान-मुख होकर वापिस हुए और अपने-अपने घर चले गये।

[१०] गारुडिकों के चले जाने के पश्चात् विद्युत्प्रभा ने उस सर्प से कहा—  
 “अब तुम यहाँ से निकलो, तुम्हारे बैरी यहाँ से चले गये हैं।” वह  
 सर्प भी उसकी गोदी से निकलकर अपना नागरूप छोड़कर कुण्डल  
 आदि आभूषणों से सुसज्जित सुर रूप को प्रकट होकर बोला—“वत्से,  
 कोई वरदान माँगो, क्योंकि मैं तुम्हारे उपकार एवं साहस से संतुष्ट  
 हूँ।” विद्युत्प्रभा भी उस नागकुमार के देवरूप एवं भास्कर शरीर  
 को देखकर हर्ष-प्रपूरित हो विनयपूर्वक बोली—“हे तात, यदि सच-  
 मुच ही आप संतुष्ट हैं, तब मेरे ऊपर (ऐसी) छाया कीजिये, जिससे  
 सूर्य-ताप से बचकर सुखपूर्वक शीतल-छाया में बैठकर गायों को  
 चरा सकूँ।”

[११] यह सुनकर देव अपने मन में विस्मित हुआ और विचार करने लगा  
 कि—“अरे ! यह बेचारी कैसी सरल स्वभावी है, जो मुझसे भी ऐसा  
 (तुच्छ) वरदान माँगती है। किन्तु कोई बात नहीं, मैं इसकी यह  
 अभिलाषा भी पूर्ण कर देता हूँ और उसने उसके (शरीर के) ऊपर  
 एक ऐसा बगीचा बना दिया, जो महाशालवृक्षों से सुशोभित भ्रमरों  
 से युक्त विकसित पुष्प वाला, ध्वजापताकाओं एवं मनोहर संगीत से  
 युक्त, सुन्दर शीतल छाया वाला और सरस फलों से निरन्तर प्राणि-  
 समूहों को सन्तुष्ट करता रहे। तत्पश्चात् देव ने उसे निवेदन  
 किया—“पुत्री, जहाँ-जहाँ तुम जाओगी, वहाँ-वहाँ महिमाशाली यह  
 बगीचा भी तुम्हारे साथ-साथ चलेगा और घर में रहते समय  
 तुम्हारी इच्छापूर्वक अपने आप छोटा बनकर छाते के समान ही  
 यह तुम्हारे ऊपर छाया रहेगा। किसी भी प्रकार के विपत्ति-काल में  
 मेरी आवश्यकता होने पर तुम मेरा स्मरण करना। मैं तुरन्त चला  
 आऊँगा।” इस प्रकार कहकर वह नागकुमार अपने स्थान को  
 लौट गया।

[१२] वह विद्युत्प्रभा भी उस बगीचे के अमृत के समान सरस फलों को  
 यथेच्छ खाती हुई, अपनी भूख-प्यास को शांत करती हुई पूरे दिन  
 वहीं रहने लगी। रात्रि में पुनः गायों को मोड़कर (वापिस लेकर)  
 अपने भवन में लौटती। यह बगीचा भी उसके घर में छाया कर  
 चारों ओर स्थित हो जाता। माता उससे कहती—“पुत्री, भोजन  
 कर लो” यह सुनकर वह निर्भयतापूर्वक कहती है—“आज मुझे भूख  
 नहीं है।” यह कहकर वह अपने बिस्तर पर सुख की नींद सो जाती।  
 प्रातःकाल होने पर वह पुनः गायों को लेती और जंगल में चली



जाती। वह बगीचा भी उसके पीछे-पीछे चल देता। इस क्रम से उसने कई दिन व्यतीत कर दिये।

[१३] किसी एक दिन मध्याह्न के समय जब वह सुख की नींद सो रही थी, तभी जितशत्रु नामक पाटलिपुत्र नरेश अपनी चतुरंगिणी सेना सहित विजय-यात्रा से लौटते समय वहाँ आया, उस बगीचे की रमणीयता से आकर्षित होकर उसने अपने स्कन्धावार का पड़ाव वहीं डालने के लिए मन्त्री को आदेश दिया और अपना आसन एक सुन्दर आम्रवृक्ष के नीचे जमाकर उस पर स्वयं बैठ गया। उसकी सेना भी चारों दिशाओं में ठहर गयी। और भी (कहा भी गया है)—

**गाथा ९—**चंचल तरंगो के समान वल्ख जाति के घोड़े पलानों सहित अल्पकाल में ही वृक्षों की मूल वाली शाखाओं से चारों ओर से बाँध दिए गये।

**गाथा १०—**मदान्मत्त हाथियों को पंक्तिबद्ध रूप में वृक्षों के बड़े-बड़े टूठों से बाँध दिया गया। इसी प्रकार बैल, ऊँट आदि वाहनों को भी क्रमशः बाँध दिया गया।

[१४] उसी समय सेना के कोलाहल से विद्युत्प्रभा की नींद टूट गई और वह उठ बैठी। ऊँट आदि के देखने से उठकर दूर भागती हुई गायों को देखकर, उन्हें वापिस करने हेतु वह राजा आदि को देखती हुई भी तेज दौड़ने लगी। उसके साथ, हाथी-घोड़े आदि के साथ वह बगीचा भी चलने लगा। तब सन्त्रस्त हुआ वह राजा भी परिजनों सहित उठा, और—“अरे यह क्या आश्चर्य है !” इस प्रकार मन्त्री से पूछने लगा। उसने भी दोनों हाथ जोड़कर राजा से निवेदन किया कि—“हे देव, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थान से सोकर उठी हुई, दोनों हाथों से आँखें मीड़ती हुई जो यह बाला दौड़ी जा रही है, इसी के साथ यह बगीचा भी दौड़ रहा है। अतः इसी के प्रभाव से इस बगीचे के दौड़ने की सम्भावना की जा सकती है। इस कन्या के देवांगना होने की संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि नेत्रों की पलकों के उठने-गिरने से निश्चय ही यह मानुषी है।

[१५] तब राजा ने कहा—“मंत्रिराज, इसे हमारे समीप ले आओ।” मन्त्री ने भी दौड़कर उसे आवाज दी। विद्युत्प्रभा भी उसकी आवाज सुनकर बगीचे सहित वहाँ ठहर गई। तत्पश्चात् “यहाँ आओ” ऐसा मन्त्री के

द्वारा कहे जाने पर उसने उत्तर दिया—“मेरी गायें दूर भाग गई हैं।” यह सुनकर मन्त्री ने अपने घुड़सवारों को भेजकर गायों को लौटवा दिया। विद्युत्प्रभा को भी बगीचे सहित राजा के समीप लाया गया। राजा भी उसे सर्वांग स्वस्थ एवं सुन्दर देखकर तथा उसे “कुमारी है” ऐसा निश्चय कर अनुराग सहित (साभिप्राय) मन्त्री की तरफ देखने लगा। मन्त्री भी राजा के मन का अभिप्राय जानकर विद्युत्प्रभा से बोला—

गाथा ११—“हे विद्युत्प्रभा ! नरेश्वर एवं देवों के दैदीप्यमान मुकुट जिसके आगे क्रम-क्रम से नग्रीभूत रहा करते हैं तथा समस्त राज्यश्री ने जिसका वरण किया है, उस श्रेष्ठ वर का वरण कर सुख भोग करो।”

[१६] तब विद्युत्प्रभा ने कहा—“इसका उत्तर देना मेरे अधिकार में नहीं है, किन्तु वह मेरे माता-पिता के ही अधीन है।” तब मन्त्री ने कहा—“तुम्हारे पिता कौन हैं एवं वे कहाँ निवास करते हैं?” विद्युत्प्रभा ने उत्तर में कहा—“इसी ग्राम में अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण-परिवार निवास करता है (मैं उसी कुल की कन्या हूँ)।” तब मन्त्री को उसके पास जाने के लिए राजा ने आदेश दिया। मन्त्री भी उस बलासक नामक ग्राम में जाकर उस ब्राह्मण-परिवार के घर पहुँचा। ब्राह्मण ने भी स्वागत-वचन आदि के बाद आसन पर बैठकर उससे कहा—“जो मेरे करने योग्य हो कृपा कर मुझे आदेश दीजिये।”

[१७] मन्त्री ने कहा—“आपकी यदि कोई कन्या हो, तो उसका विवाह हमारे स्वामी (राजा) के साथ कर दीजिये।” ब्राह्मण ने भी “दे दी” कह कर उसका वचन स्वीकार कर लिया और कहा कि “जब हमारा जीवन भी आपके स्वामी के अधिकार में है तब फिर कन्या की तो बात ही क्या?” यह सुनकर मन्त्री ने कहा—“तुम हमारे स्वामी के पास चलो।” वह ब्राह्मण भी मन्त्री की बात मानकर राजा के समीप पहुँचा और उसे आशीर्वचन दिया। मन्त्री ने समस्त समाचार राजा से कह सुनाया। तब राजा ने स्वयं अपने हाथ से आसन देकर ब्राह्मण को उस पर बैठाया। राजा को समय का विलम्ब सहनीय नहीं हुआ और उसने गान्धर्व-विवाह पद्धति से उसकी कन्या के साथ परिणय कर लिया एवं पूर्वागत नाम में परिवर्तन कर उसका (नया) नाम “आरामशोभा” रख दिया। ब्राह्मण के लिए भी बारह गाँव

देकर वह राजा अपनी प्रियतमा “आरामशोभा” को हाथी पर सवार कर अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर अपने नगर की ओर चला ।

**गाथा १२**—इस प्रकार, कल्पलता के समान आरामशोभा को प्राप्त कर राजा ने अपने को कृतार्थ माना, अथवा मनोरथ को पूर्णरूप से प्राप्त कर कौन सन्तोष को प्राप्त न होगा ?

**गाथा १३**—दिव्य हाव-भावों से युक्त एवं शृंगार रूपी तरंगों वाली उस तरंगिणी विद्युत्प्रभा के मनोहारी हृदय का निर्माण ब्रह्मा ने यदि विशिष्ट तत्त्वों से किया हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

[१८] कालागुरु, कुंदरूकक (सुगन्धित पदार्थ विशेष) एवं तुकिस्तानी धूप की विस्तृत सुगन्धि से मिश्रित रंगमंच से युक्त, फहराती हुई ध्वजा-पताकाओं से युक्त, उल्लसित वन्दन-मालाओं से युक्त, त्रिमुहानियों, चौमुहानियों पर चर्चरी एवं चौमुखे होने वाले अपूर्व नाटकों से युक्त, बहुत से स्थानों पर स्थित पूर्णकलशों से युक्त, सैकड़ों सहचरों के साथ, बगीचे के आश्चर्यपूर्ण विकसित पुष्पों के समान विकसित कमल-नेत्र वाली आरामशोभा के साथ नारी-समर्हों के द्वारा प्रशंसित प्रियतमा के साथ महान् विभूतियों से समृद्ध वह महाराज जितशत्रु पाटलिपुत्र में प्रविष्ट हुआ । उस आरामशोभा को एक अलग (विशिष्ट) राजमहल में ठहराया गया । (उसके साथ) वह बगीचा भी संकुचित होकर राजमहल में चारों ओर दिव्य रूप में छा गया । राजा भी अपने समस्त कार्य-व्यापारों को छोड़ उसके साथ (सुखद) भोग भोगता हुआ, श्रेष्ठ जातीय देवों को भी तिरस्कृत करता हुआ, अपना समय क्षण के समान व्यतीत करने लगा ।

[१९] और इधर, आरामशोभा की सौतेली माँ के एक पुत्री उत्पन्न हुई । वह क्रम से युवावस्था को प्राप्त हुई । आरामशोभा को उस सुखद अवस्था में देखकर उस दुष्टा सौतेली माता ने अपने मन में विचार किया—“यदि किसी प्रयोजन से यह आरामशोभा मृत्यु को प्राप्त हो जाए, तब राजा इसके गुणों से आकृष्ट होकर मेरी पुत्री के साथ विवाह कर लेगा । तब मैं भी अपने मनोरथ रूपी वृक्ष को लगाने में पूर्ण सफल हो सकूंगी । ऐसा विचार कर उसने अपने पति से कहा—“हे नाथ, पुत्री (आरामशोभा) के विवाह को हुए बहुत समय व्यतीत हो गया । अतः उसके लिए कुछ मिष्ठान्न आदि भेज देना ।

योग्य होगा, क्योंकि उस कन्या का भी पितृगृह के इस उपहार से चित्त प्रसन्न हो जायगा।”

[२०] यह सुनकर उस भट्ट ब्राह्मण ने कहा—“प्रिये, उसे किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि जिस प्रकार कल्पवृक्ष के लिए बेर तथा करीर आदि के फल भोजना, वैराग्यरस वाले (व्यक्ति) के शरीर को अलंकृत करना, मंरू-पर्वत के लिए शिलाखण्डों द्वारा दृढ़ करना, सूर्य के लिए जुगनुओं जैसी कीटों की उपमा देना उचित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार विद्युत्प्रभा (आरामशोभा) के लिए हमारा मिष्ठान्न आदि का भोजना भी योग्य नहीं होगा, बल्कि उससे राजा के लोग मुँह पर हाथ रख-रखकर हँसेंगे।” यह सुनकर उस पापिनी ने पुनः कहा—“निश्चय ही उसे किसी वस्तु की कमी नहीं है, किन्तु भेंट भेजकर हमें तो तृप्ति होगी ही।” उसका अत्याग्रह देखकर ब्राह्मण ने भी “तथास्तु” कहकर उसे स्वीकार कर लिया।

[२१] ब्राह्मणी ने हर्षित मन से बहुत प्रकार की सामग्री जुटाकर सिंहकेशरी नामक लड्डू बनाये तथा उनमें विष मिला दिया। उन लड्डूओं को एक नवीन घड़े में रख दिया और उसके मुँह को बाँधकर उसने अपने पति से निवेदन किया। “रास्ते में कोई विघ्न उपस्थित न हो इसलिए इसे लेकर तुम स्वयं जाओ।” तब भेड़ के सींगों के समान कुटिल उसके मन को ठीक से न समझ सकने वाला वह वेद—जड़ ब्राह्मण भी उस घड़े को अपने धिर पर रखकर जब प्रस्थान करने लगा, तब उस (ब्राह्मणी) ने कहा—“यह भेंट आरामशोभा के हाथों में ही देकर उससे कहना कि वत्से, इसे तुम ही खाना, किसी दूसरे को मत देना। अन्यथा मेरे इस विरूप क्षुद्र मिष्ठान्न को देखकर राजा के लोग हँसी-मजाक उड़ाएँगे।” वह ब्राह्मण भी “तथास्तु” कहकर वहाँ से चल दिया।

[२२] धीरे-धीरे चलते-चलते सन्ध्या हो जाने पर वह सो जाता और सोते समय उस घड़े को अपने सिरहाने रख लेता। इस प्रकार कुछ ही दिनों में वह पाटलिपुत्र के निकटवर्ती एक महान् वटवृक्ष के नीचे पहुँचा तथा वहाँ भी वह उस घड़े को सिरहाने रखकर सो गया। इसी बीच देवयोग से वही पूर्वोक्त नागकुमार क्रीड़ा हेतु वहाँ आया एवं उस ब्राह्मण को देखकर विचार करने लगा—“यह व्यक्ति कौन

है, इस कलश में क्या लिये हुए है ?” उसने अपने विशिष्ट ज्ञान का प्रयोग कर उस पापिनी ब्राह्मणी के मन का समस्त वृत्तान्त जान लिया और मन में सोचने लगा—“अहो, सौतेली माता के चित की दुष्टता तो देखो, जिसने सरल स्वभाव वाली उस आरामशोभा के साथ ऐसा अनर्थकारी कार्य किया है। किन्तु मेरे रहते हुए उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता।” ऐसा विचार कर उसने त्रिष-मिश्रित लड्डुओं का अपहरण कर उसके स्थान पर कलश को अमृत-लड्डुओं से भर दिया।

[२३] तत्पश्चात् प्रातःकाल होते ही जब उस ब्राह्मण की नींद खुली तब वह उठकर राजदरबार में पहुँचा। उसने प्रतिहारी से निवेदन किया और राजा के समीप पहुँचकर उसे आशीर्वाद दिया तथा उपहार-स्वरूप लड्डुओं से भरा हुआ वह कलश राजा के बाँयी ओर स्थित आराम-शोभा को समर्पित कर दिया। उसने राजा से भी कहा—“महाराज बच्ची (आरामशोभा) की माँ (ब्राह्मणी) ने निवेदन किया है कि “इस भेंट को मैंने जैसे-तैसे मातृ-प्रेम-वश भेजा है। अतः इसे पुत्री ही खावे, अन्य दूसरे के लिए न दिया जावे, जिससे कि राजदरबारियों के सम्मुख मैं उपहास की पात्र न बनूँ। मेरे इस कथन का कोई बुरा भी न माने।”

[२४] यह सुनकर राजा ने देवी आरामशोभा के मुखकमल की ओर देखा। उसने भी दासी के सिर पर उस कलश को रखकर उसे अपने महल में भेज दिया। राजा ने ब्राह्मण को स्वर्ण, रत्न एवं वस्त्र के दान से सन्तुष्ट किया और स्वयं वह ( राजा ) अपने स्थान से उठकर देवी आरामशोभा के भवन में गया। वहाँ सुखासन पर बैठ गया। देवी आरामशोभा ने ( उसी समय राजा से ) कहा—

**गाथा १४**—“प्रियतम, मेरे ऊपर कृपा करके स्वयं अपने नेत्रों से इस मुद्रित कलश को देखिए। क्योंकि यह अवर्णनीय है।” यह सुनकर राजा ने भी उत्तर में कहा—

**गाथा १५**—“हे प्रिये, मेरे हृदय की रानी, अपने हृदय में किसी भी प्रकार का कुविकल्प मत करो। वही ( कलश ) हमारे लिए प्रमाण है। अतः अब उस मुद्रित कलश का मुख खोलो।”

[२५] इसके बाद उस घड़े को जब आरामशोभा ने खोला तब उसमें से मनुष्य-लोक के लिए दुर्लभ दिव्य-सुगन्ध निकली, जिससे समस्त

राजभवन सुवासित हो उठा। बहुत बड़े मोदकों को देखकर वह राजा भी सन्तुष्ट हुआ तथा उन्हें खाकर उसने बड़ी प्रशंसा की और बोला—“मैंने तो राजा होकर भी ऐसे विशिष्ट स्वाद वाले मोदकों का कभी भी आस्वादन नहीं किया। इनमें से एक-एक लड्डू अपनी बहिनों (अन्य रानियों) को भी भेजो।” आरामशोभा ने राजा के आदेशानुसार वैसा ही किया। इससे राजदरबार में आरामशोभा की माँ की इस प्रकार प्रशंसा होने लगी—“अरे वह तो बड़ी ही चतुर है, जिसने देवों के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ लड्डू बनाकर भेजे हैं।” इस प्रकार अपनी माँ की प्रशंसा सुनकर आरामशोभा बहुत भी सन्तुष्ट हुई।

[२६] उसी समय अग्निशर्मा ने राजा से विनय की—“देव, मेरी पुत्री को नैहर भेज दीजिये, जिससे कि वह थोड़े समय के लिए भी माता से मिलकर तुम्हारे पास वापिस आ सके।” राजा ने उसे ले जाने से मना कर दिया। उसने स्पष्ट कहा कि—“रानियाँ तो कभी सूर्य का भी दर्शन नहीं कर सकतीं, फिर नैहर जाने की तो बात की क्या?” राजा का उत्तर सुनकर वह भट्ट अपने घर लौट गया और समस्त वृत्तान्त अपनी पत्नी को कह सुनाया। यह सुन वह पापिनी वज्राहत की तरह होकर विचार करने लगी।—“धिवकार है, इक्षु-पुष्प के समान ही मेरा उद्यम निष्फल हो गया। प्रतीत होता है कि वह विष निश्चय ही प्राणलेवा न था।”

[२७] कुछ दिनों के पश्चात् पुनः हालाहल मिश्रित फैनी (नाम की मिठाई) से भरी हुई एक करण्डिका देकर पूर्ववत् उसने अपने पति को आरामशोभा के यहाँ भेजा। पूर्ववत् ही उस नागकुमार देव ने भी हालाहल मिश्रित उन फैनियों का अपहरण कर लिया। पूर्ववत् ही उसकी प्रशंसा भी हुई। इसी प्रकार पुनः तीसरी बार भी “तालपुट” नामक तत्काल प्राणनाशक विष से मिश्रित मिठाई से भरा हुआ एक कलश देकर उस दुष्ट ने ब्राह्मण से कहा “गर्भवती होने के कारण इस बार कन्या को अवश्य ही लेते आना, जिससे उसका प्रथम प्रसव यहीं पर हो। यदि राजा किसी भी प्रकार भजने को तैयार न हो तब वहीं उसे अपना ब्राह्मण तेज दिखा देना।

[२८] ब्राह्मणी के वचन स्वीकार करके वह भट्ट चला और चलते-चलते उसी वट-वृक्ष के नीचे सो गया। नागकुमार देव ने भी पूर्ववत् ही तालपुट विष से मिश्रित मिठाई का अपहरण कर लिया। तत्पश्चात् पूर्ववत्

ही उसने पुत्री को उपहार देकर राजा से इस प्रकार विनती की—  
‘पुत्री को मेरे घर भेज दीजिए ।’ राजा ने जब उसकी बात बिलकुल  
ही न मानी, तब वह यमराज की जिह्वा के समान छुरी को अपने पेट  
के ऊपर रखकर चिल्लाने लगा—“यदि मेरी पुत्री को न भेजोगे, तब  
यहीं पर आत्मघात कर लूंगा । “राजा ने उसका निश्चय जानकर  
विस्तृत परिवार एवं सेवकों के साथ आरामशोभा को विदा कर दिया ।

[२९] तदनन्तर, आरामशोभा के प्रकृष्ट पुण्य-प्रताप को समझे बिना ही  
उसे आती हुई सुनकर सौतेली माता ने हर्षपूर्वक अपने भवन के पीछे,  
एक भारी कुँआ खुदवाकर, कुछ प्रपंच की बात मन में रखकर, उसके  
बीच में बने हुए भूमिगृह में अपनी पुत्री को ठहरा दिया । इसके बाद,  
सौतेली माता भी सपरिवार आई हुई उस आरामशोभा के सम्मुख अपने  
अभिप्राय को छिपाती हुई किंकर्तव्यविमूढ़ रहने लगी ।

[३०] आरामशोभा ने देवपुत्र के समान एक कुमार को जन्म दिया ।  
अन्य किसी समय दैववश परिजनों के दूर रहने पर समीप में स्थित  
सौतेली माता उसे शारीरिक-क्रियाओं की निवृत्ति हेतु घर के पिछले  
दरवाजे की ओर ले आई ।

आरामशोभा ने भी वहाँ खोदे गये कुँए को देखकर कहा—“माँ,  
इसे कब खुदवाया है, यह तो बड़ा ही सुन्दर एवं गहरा है ?” यह सुन-  
कर वह अत्यन्त दिखावटी प्रेम प्रदर्शित करती हुई बोली—“वत्से, तेरा  
आगमन जानकर ही मैंने इसका निर्माण कराया है, जिससे कि पानी  
लाने के लिए बहुत दूर जाने का कष्ट न उठाना पड़े ।” तब वह  
आरामशोभा कौतूहलपूर्वक कुँए में झाँककर देखने लगी । उसी समय  
उस क्षुद्रहृदया दुष्टचित्ता ने उसे धक्का दे दिया, जिससे कि वह मुँह के  
बल ही ( कुँए में ) गिर पड़ी ।

[३१] उसी समय आपत्ति में पड़ी हुई आरामशोभा ने नागकुमार देव का  
स्मरण किया । उस देव ने भी वहाँ प्रकट होकर उसे पानी के ऊपर ही  
अपने हाथों में लेकर कुँए के मध्य में निर्मित पाताल-भवन में ठहरा  
दिया । उसका बगीचा भी दैवीप्रभाव से वहीं स्थिर हो गया तथा वह  
नागकुमार देव ब्राह्मणी के ऊपर क्रोध करता हुआ “( यहाँ से ) यात्रा  
का प्रयत्न न करना ।” ऐसा कहकर तथा उसे सान्त्वना आदि देकर  
अपने स्थान चला गया ।

- [३२] इसके बाद, उस ब्राह्मणी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर नवजात शिशु के साथ अपनी पुत्री ( विरूपा को ) पलंग पर सुला दिया । क्षणमात्र में ही उसकी परिचारिकाएँ वहाँ आईं एवं अल्प सौन्दर्य वाली तथा कुछ-कुछ सदृश आकृति वाली अन्य किसी नारी को ( शिशु के साथ ) देखकर वे सभी भौंचक्की रह गयीं और बोली—“हे स्वामिनी, आज आप कुछ विरूप जैसी क्यों दिखाई दे रही हैं ?”
- [३३] उसने भी उत्तर कहा—“मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा, किन्तु मेरी देह स्वस्थावस्था में नहीं है ।” तब भयभीत हुई उन परिचारिकाओं ने उसकी माता ब्राह्मणी के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की । कूट-कपट, नाटक, अभिनय आदि करने में निपुण ब्राह्मणी हाथों से छाती पीटती हुई रोने लगी । ( और कहने लगी )—“हाय-हाय, दुष्ट दैव ने मुझे लूट लिया, जिससे मेरी यह बच्ची विरूप दिखने लगी । अब मैं राजा को कैसे मुँह दिखाऊँगी ?” यह सब देखकर परिचारिकाएँ भी राजा के भय से अत्यन्त विषादयुक्त होकर रहने लगीं ।
- [३५] अर्थात्तर, उसी समय राजा द्वारा प्रेषित एक मन्त्री वहाँ आया और बोला—“देव ने आदेश दिया है कि देवी सहित कुमार को शीघ्र ही लाकर मुझसे मिलाओ ।” मन्त्री के द्वारा राजा का सन्देश सुनकर प्रस्थान की समस्त सामग्रियाँ तैयार कर ली गईं । उसी समय [कृत्रिम] आरामशोभा से परिचारकों ने पूछा—“बगीचा कहाँ है ? तब उसने उत्तर में कहा—“आज नहीं चलेगा, मैंने उसे पानी पीने हेतु कुँए में ठहरा दिया है । अतः वह बाद में आवेगा ।”
- [३५] इसके बाद उसको साथ लेकर परिजन लोग पाटलिपुत्र पहुँचे । राजा को बधाई दी । राजा ने भी प्रमुदित मन से बाजारों को सजवा दिया, बधाईयाँ प्रारम्भ हुई । स्वयं सम्मुख जाकर उसने देवी ( कृत्रिम आरामशोभा ) एवं कुमार को देखा । तभी प्रियतमा के विरूप सौंदर्य को देखकर आश्चर्यचकित होकर राजा ने पूछा—“अरे, तुम्हारे शरीर का सौन्दर्य विकृत क्यों दिखाई पड़ने लगा है, इसका क्या कारण है ? तब दासियों ने कहा—“महाराज प्रसूति के समय दृष्टिदोष के कारण अथवा प्रसूति—रोग के कारण अथवा अन्य किसी कारण से रानी की देहकान्ति कैसे विरूप हो गई, यह हम लोग भी ठीक-ठीक नहीं जान सके ।” तब पुत्रोत्पत्ति के कारण अत्यन्त प्रसन्नचित्त होने पर भी



वह राजा अपनी पत्नी का वृत्तान्त सुनकर विषाद से भर गया, फिर भी धैर्य धारण कर उसने उसके साथ नगर में प्रवेश किया।

[३६] एक दिन राजा ने देवी से पूछा—“प्रिये, तुम्हारा निरन्तर का सह-चर वह बगीचा अब यहाँ क्यों नहीं दिखाई देता?” उसने भी उत्तर दिया—“आर्यपुत्र, बगीचा पीछे कुँए पर पानी पी रहा है। स्मरण करने पर वह आ जाएगा।” राजा भी जब-जब उसके सर्वांग शरीर का अवलोकन करता, तभी-तभी सन्देह रूपी पिशाच से वह आक्रान्त हो जाता कि क्या यह “वही” है अथवा अन्य कोई दूसरी? अन्य किसी दिन राजा ने पुनः रानी से कहा—“तुम उस मनोरम बाग को ले आओ।” उसने भी उत्तर दिया—“प्रियतम, उसे बाद में ले आऊँगी।” इससे राजा के मन में विशेष रूप से आशंका जागती गई।

[३७] इधर असली आरामशोभा ने (समय पाकर एक दिन) उस नागदेव से प्रार्थना की—“तात, पुत्र-विरह मुझे बहुत पीड़ित कर रहा है। अतः कृपा कीजिए और ऐसा उपाय करिये जिससे मैं अपने वत्स को देख सकूँ। तब उस देव ने कहा—यदि ऐसा ही है, तब मेरे प्रभाव से (उसके पास) चली जाया करो, किन्तु पुत्र को देखकर शीघ्र ही वापस भी आ जाया करो।” आरामशोभा ने “तथास्तु” कहकर उसका कथन स्वीकार कर लिया। इसके बाद देव ने पुनः कहा—“यदि वहाँ जाने पर तुम सूर्योदय-पर्यन्त ठहरोगी, तब उसके बाद से मेरा दर्शन तुम्हें कभी भी न हो सकेगा।” इस कथन का संकेत यह है कि “उस समय अपने केशपाश से मरकर गिरा हुआ एक सर्प देखोगी। उसके बाद तुम्हें मेरा कभी भी दर्शन न हो सकेगा।” यह सुनकर आरामशोभा ने कहा—“ऐसा ही होगा।” जैसे भी हो, एक बार अपने तनय को देख तो सकूँगी।”

इसके बाद देव ने उसे वहाँ भेज दिया। उसके प्रभाव से वहाँ निमेषमात्र में ही पाटिलपुत्र पहुँच गई। राजा का निवास-स्थान खोलकर वह भीतर प्रविष्ट हुई। वह राजभवन कैसा था—

गाथा १६—स्वर्ण-वर्ण की कान्ति से संदीप्त, जहाँ मणिमय दीपक प्रज्वलित थे, जो सुपक्व-फलों से प्रपूरित था तथा जो कर्पूर की सुगन्धि से महक रहा था।

गाथा १७.—जहाँ विकसित पुष्प-समूह बिखर रहे थे, अगर एवं धूप की सुगन्धि विस्तृत थी, जो सुन्दर रूप से अलंकृत था और पाँच प्रकार की सुगन्धियाँ जहाँ व्याप्त थीं।

- [३८] उस भवन को देखकर पूर्वकाल में अनुभूति रतिकेलि के स्मरण से कामदेव के बाण को प्रसारित करने वाले विचार के उत्पन्न होने पर भी, प्रियतम के पास सोती हुई अपनी (सौतेली) बहिन को देख कर, अत्यन्त ईर्ष्याविश सौतेली माता के द्वारा निर्मित कुँए में गिरा दिए जाने की दुर्घटना के स्मरण से अत्यन्त क्रोधित तथा अपने तनय के मुख-दर्शन से उत्पन्न प्रमोद के रस से प्रपूरित वह (आरामशोभा) क्षण भर तक स्थिर रहकर सैकड़ों धारों के मध्य में सोते हुए उस पुत्र के पास जा पहुँची। अपने सुकोमल हाथों से उसे उठाकर क्षणभर तक उसे खिलाकर चारों दिशाओं में अपने बगीचे के फूलों एवं फलों की वर्षा कर वह अपने निवास स्थान (कुँए) में वापस आ गई।
- [३९] प्रातःकाल होते ही धारों ने राजा से विनती की—“स्वामिन्, आज ऐसा दिखता है कि फूलों एवं फलों से किसी ने कुमार की पूजा की है।” यह सुनकर राजा भी उसके पास आया और उसे देखकर उस कृत्रिम आरामशोभा से (उसका कारण) पूछा। उसने उत्तर में कहा—“मैंने अपने बगीचे का स्मरण कर उससे इन फूलों एवं फलों को यहाँ मँगवाया है।” तब राजा ने कहा—“इस समय भी उसे (बगीचे को) यहाँ क्या नहीं बुला लेती?” उसने उत्तर में निवेदन किया—“उसे दिन में बुलाना सम्भव नहीं।” तब उसके विरूप मुख को देखकर राजा मन में सोचने लगा—“इसमें अवश्य ही कोई प्रपंच है।” इसी प्रकार तीन दिन व्यतीत हो गये। तब राजा ने रानी से कहा—“आज अवश्य ही उस बगीचे को ले आओ।” यह सुनकर उसका मुख सर्वथा कान्ति-हीन हो गया। दम्भ कितने दिन छिपा रहेगा ?
- [४०] चौथी रात्रि में (वास्तविक) आरामशोभा पूर्ववत् ही सभी कृत्य करके जब वापस जाने लगी तभी राजा ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—“हाय, प्राणप्रिये, प्रियजन के परम प्रणय को इस प्रकार क्यों ठग रही हो?” यह सुनकर उसने कहा—“प्राणेश्वर, ठग नहीं रही हूँ। किन्तु इसमें कुछ विशेष कारण है।” राजा ने कहा—“कहो, क्या कारण है? अन्यथा मैं छोड़ूँगा नहीं।” उसने भी विनयपूर्वक निवेदन किया—“नाथ, अभी तो मुझे छोड़ दीजिए, किन्तु कल इसका कारण अवश्य ही बता दूँगी। तब राजा ने कहा—“क्या (इतना) मूर्ख हूँ कि हाथ में आये हुए चिन्तामणि रत्न को छोड़ दूँ?” (यह सुन) उसने कहा—“ऐसा करने से आपको पश्चात्ताप ही होगा। इतने पर भी राजा ने ११

उसे छोड़ा नहीं। तब उसने प्रारम्भ से अपनी सौतेली माता के सभी कुकृत्यों को कह सुनाया। इसी में सूर्योदय हो गया।

[४१] उसी समय उसके केशपाश में रहकर (निरन्तर) आश्वस्त रखने वाला वह सर्प उपमर्दित होकर भूमि पर गिर पड़ा। उसे देखकर वह बाला विषादरूपी पिशाच से ग्रस्त होकर तत्काल ही मूर्च्छित हो नेत्र निमीलित कर टूटी हुई शाखा के समान जमीन पर गिर पड़ी। शीत-लोपचार से जब उसकी मूर्च्छा टूटी तभी राजा ने उससे कहा—प्राणेश्वरी, किस कारण से तुमने अपने को विषादरूपी समुद्र में डाल दिया है ?” तब उसने कहा—“स्वामिन्, पिता के समान हितकारी यह नागकुमार देव, जो कि निरन्तर मेरे पास रहता रहा, उसने मुझसे कहा था—“मेरे आदेश के बिना सूर्योदय पर्यन्त यदि तुम अन्यत्र रहोगी, तो उसी क्षण से तुम्हें मेरा दर्शन न हो सकेगा। वेणी से मृत-सर्प गिरेगा। अतः हे नाथ, आपने मुझे जो नहीं जाने दिया, उसी कारण ऐसा हो गया है।” उसके बाद से (वरदान-विहीन होकर) वह वहीं रहने लगी।

[४२] प्रातःकाल होते ही उसकी बहिन को बिना किसी दया के रस्से से बाँधकर जब राजा ने कोड़े से पीटना प्रारम्भ किया, तभी स्वभाव से सरल आरामशोभा के चरणों में गिरकर वह उससे अपने को बचा लेने की प्रार्थना करने लगी। आरामशोभा ने भी राजा से निवेदन करते हुए कहा—

**गाथा १८—**“हे स्वामिन्, यदि आप मेरे ऊपर कृपा कर सकें, तो मेरी इस बहिन को छोड़ दें। हे हृदयेश्वर ! दया करके उसे पूर्ववत् ही समझें और प्रेम करें।

**गाथा १९—**राजा ने भी उत्तर में कहा—“हे देवि, बात ऐसी ही है। यद्यपि इस दुष्ट-चित्त वाली को जीवित छोड़ना उचित नहीं, तथापि तुम्हारा वचन भी दुर्लभ्य है।”

**गाथा २०—**राजा ने उसे (कृत्रिम आरामशोभा को) छोड़ दिया एवं आरामशोभा को अपने समीप में ही रख लिया। (इस उदाहरण के माध्यम से) सज्जनों एवं दुर्जनों की विशेषता को प्रत्यक्ष ही देख लो।

[४३] तब प्रचण्ड अग्नि की तरह प्रज्वलित उस राजा ने अपने आदमियों को बुलाकर आदेश दिया—“उस अग्निशर्मा ब्राह्मण से बारहों ग्रामों

को छीनकर, अग्निशर्मा एवं उसकी पत्नी के कान एवं नाक छेदकर, उन्हें मेरे देश से निर्वासित कर दो।” ब्रजाग्नि के स्फुल्लिग के समान उग्र राजा के इन वचनों को सुनकर आरामशोभा ने पति के चरणों में गिरकर प्रार्थना की—

**गाथा २१—**जिस प्रकार कुत्ता किसी सज्जन पुरुष को काट लेता है, तो क्या वह (सज्जन) भी उसे काट लेता है ? यह समझ कर ही हे नाथ, मेरे पिता को भी सजा से मुक्त कर मेरे ऊपर कृपा कीजिए।”

[४४] इस प्रकार देवी के आग्रह से राजा ने उसके चित्त के विषाद को दूर करने के लिए ही उसके पिता को बारह ग्राम पूर्ववत् ही वापिस दे दिये और उसके बाद वे दोनों राजा-रानी विषय-सुखों का अनुभव करते हुए सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

[४५] किसी एक समय परस्पर में धर्म-विचार करते हुए आरामशोभा ने इस प्रकार का वार्तालाप किया—“प्रियतम, पूर्वकाल में मैं दुखी होकर बाद में सुख-भागिनी बनी थी। इससे मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि यह किसी पूर्व कर्म का ही फल है। इसीलिए यदि कोई ज्ञानी मिले, तो मैं उससे इसका कारण पूछना चाहती हूँ।”



## ५. मुनिचन्द्र कथानक\*

[ भरत क्षेत्र में घूमते हुए दोनों बलदेव-वासुदेव के द्वारा मुनिचन्द्र नामक अनगर को देखा गया। उसको देखकर बलदेव ने कहा—हे भगवन् ! प्रथम यौवन अवस्था में भोगों के परित्याग का कारण क्या है ? तब साधु के द्वारा कहा गया, हे स्वामी ! संसार की विलासता को सुनो। ऐसा कह कर वह अपने चरित्र को कहने लगा। ]

[१] जम्बू द्वीप के भारतवर्ष में सोरियपुर नाम का नगर है। वहाँ दृढ़वर्मन् का गुणधर्म नाम का पुत्र रहता था। मैंने (गुणधर्म ने) विभिन्न प्रकार की कलाओं को ग्रहण किया था। और मैं राजा तथा पुरजनों के मन के लिए अत्यन्त प्रिय था।

एक बार बसन्तपुर के स्वामी के ईसानचन्द्र की लड़की कनकमती के स्वयंवर को सुनकर इच्छापूर्वक साथियों के साथ मैं वहाँ गया। वहाँ पहुँचने पर नगर के बाहर सराय में मुझे ठहराया गया और मैं स्वयंवर के मंडप में प्रविष्ट हुआ। वहाँ और बहुत से राजपुत्र भो आये। तब मैं राजकुमारो को दृष्टि के द्वारा देखा गया। तब राजकन्या की थोड़ी झुकी हुई, अधखुली दृष्टि फेंकने वाली, हृदयगत भावों की शोभा को सूचित करने वाली एवं प्रेम युक्त दृष्टि के द्वारा मैं देखा गया। मेरे द्वारा उसको जान लिया गया कि वह मुझे चाहती है। तब प्रातःकाल में स्वयंवर होगा, ऐसा जानकर मैं अपने निवास-स्थान को चला गया। दूसरे भी राजपुत्र अपने-अपने निवास स्थान को चले गये। इसी बीच रात्रि के प्रथम प्रहर में अधिक उम्र वाली दास-दासियों से घिरी हुई एक स्त्री आई। उस स्त्री के द्वारा समर्पित किए गये चित्र-फलक पर चित्रित विद्याधर की लड़की का चित्र अंकित था और उस चित्र के नीचे अभिप्राय को सूचित करने वाली एक गाथा लिखी हुई थी—

गाथा १. 'आपके प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम रस में डूबी हुई सभी कुछ गँवाने वाली मुग्धा नायिका के द्वारा किसी न किसी प्रकार से हृदय को धारण किया जा रहा है।'

❀ अनुवादक—डॉ० प्रेम सुमन जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

[२] तब उसके बाद ही समर्पित किया पान, प्रसाधन और भेंट की सामग्री और पुष्प अर्पित किया। कुमार के द्वारा आदरपूर्वक सब ग्रहण कर लिया गया। उसके लिए हार पारितोषिक के रूप में दिया और उसके द्वारा कहा गया—‘कुमार! राजकुमारी के आदेश से कुछ कहने के लिए है, इसलिए हे कुमार! एकान्त के लिए आदेश दीजिए।’ तब कुमार के द्वारा आसपास देखा गया, नौकर-चाकर चले गये। तब उस स्त्री के द्वारा कहा गया—‘हे राजकुमार! राजकुमारी निवेदन करती है कि मेरे द्वारा तुम चाह लिए गए हो, किन्तु जब तक मेरी कोई प्रतिज्ञा पूरी न हो, तुम्हारे द्वारा मुझसे कुछ न कहा जायेगा। किन्तु मेरे द्वारा ग्रहण ही कर लिए गये हो, ऐसा मानिये।’ मैंने कहा—‘ऐसा हो, इसमें क्या दोष है।’

[३] प्रातःकाल में सब राजाओं के सामने लक्ष्मी के द्वारा त्रिष्णु की तरह मुझे उसके द्वारा वरमाला अर्पित की गई। दुखी हुए सभी राजा अपने-अपने स्थान को चले गये। तब सखियों ने उससे पूछा—‘हे प्रिय सखी! इस राजकुमार में कौन से गुण तुम्हारे द्वारा देखे गये हैं जिससे इसे वरमाला समर्पित कर दी गई? राजकुमारी ने कहा—‘हे अत्यन्त भोली सखियो! सुनो—

गाथा २. देवताओं के समूह को पराजित करने वाले रूप को देखो, गुणों के समूह से क्या लेना है। समस्त अंगों से सुगन्धित मल्लवे के पौधे के लिए फूलों के समूह से क्या लेना?’

तब उत्साह के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। वह अपने नगर को लायी गई। कनकमती के लिए ठहरने की व्यवस्था की गई। अपने आवास में वह ठहर गई। प्रातःकाल मैं उसके भवन को गया। मुझे आसन दिया गया और मैं बैठा। वह भी मेरे पास बैठी। उसके द्वारा प्रश्नोत्तर पढ़े गये, जो कि इस प्रकार थे—

गाथा ३. १. ‘भय से युक्त भवन कैसा होता है? कहो

२. स्त्रियों का नृत्य कैसा होता है और

३. कामवासना से युक्त व्यक्तियों का कैसा चित्र स्त्रियों को चाहता है?’

मेरे द्वारा समझकर कहा गया—‘साहिलांस’। १. स + अहि = साँप से युक्त भवन भय से युक्त होता है।

२. साहि + लासं = लास्य से युक्त नृत्य स्त्रियों का होता है।
३. स + अहिलासं, इच्छा सहित कामी व्यक्तियों का चित्र स्त्रियों को चाहता है।

फिर बाद में मैंने प्रश्नोत्तर पढ़ा—

**गाथा ४.** १. घास किससे उत्पन्न होती है ?

२. आभूषण के अर्थ में दूसरा शब्द कौनसा होता है ?
३. कलंक से युक्त चन्द्रमा को छोड़कर तुम्हारे मुँह के समान दूसरी चीज क्या है ?

उन तीनों प्रश्नों को समझकरके उसने कहा—‘कमल’।

कं + अलं = (कं) पानी, अलं = भूषण

कमलं = कमल की तरह मुख है।

फिर दूसरे दिन बिन्दुमती के द्वारा हमने खेला।

तब बिन्दुमती लिखी गई, वह इस प्रकार थी—

कनकमती ने लिखने के तुरन्त बाद ही जान लिया और कहा—

**गाथा ५.** ‘कायर पुरुष सब कुछ भाग्य के मस्तक पर डालकर सहते रहते हैं। जिनका तेज चमकता है उस लोगों से भाग्य भी डरता है।’

फिर पासों से, फिर चार रंग वाले चपेटों द्वारा मनोरंजन किया गया। इस प्रकार दिन व्यतीत होते हैं। संसार चलता है, परन्तु उस कनकमती के अभिप्राय को नहीं जाना गया।

[४] तब मेरे द्वारा सोचा गया कि किस उपाय के द्वारा इसके अभिप्राय को जाना जाय ? इस प्रकार चिन्ता से युक्त मैं रात को सो गया और रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखा कि कुसुममाला लिए हुए एक स्त्री मेरे पास आयी। उसने आकर कहा कि—‘इस माला को ग्रहण करो। बहुत दिनों से तुम इसके लिए इच्छुक थे।’ तब मैं कुसुममाला ग्रहण करते ही जाग गया। मेरे द्वारा आवश्यक कार्य किये गये। राजसभा के मंडप में बैठा और मेरे द्वारा सोचा गया—‘चाहा गया कार्य सम्पन्न हो गया।’

[५] उसके बाद द्वारपाल के द्वारा सूचना दी गई कि हे महाराज ! एक सन्यासी दरवाजे पर है और कहता है—‘मैं भैरवाचार्य के द्वारा राजपुत्र

के दर्शन के लिए भेजा गया हूँ।' यह सुनकर मैंने कहा—'शीघ्र प्रवेश कराओ। तब द्वारपाल के द्वारा वह भेजा गया। लम्बी, चपटी नाक वाला, थोड़ी-थोड़ी लाल चंचल आँख वाला, मोटा और त्रिकोण सिर वाला, उठे हुए लम्बे दाँत वाला, लम्बे पेट वाला, लम्बी और पतली जाँघ वाला, सभी अंगों में शिराओं से युक्त होने वाला—वह साधु मेरे द्वारा देखा गया। वह साधु मेरे द्वारा प्रणाम किया गया। आशीष देकर अपने काष्ठ के आसन पर वह बैठ गया और उसने कहा—'हे राजपुत्र ! भैरवाचार्य के द्वारा मैं तुम्हारे पास भेजा गया हूँ।' (मैंने पूछा)—

'भगवन् कहां पर ठहरे हैं?' उसने कहा—'इस नगर के बाहर सराय में ठहरे हैं।' मैंने कहा—'हमारे लिए भैरवाचार्य दूर स्थित होते हुए भी हमारे लिए गुरु हैं। इसलिए उन भगवान् के द्वारा अच्छा किया जो यहाँ आये। आप पधारिये। प्रातःकाल में दर्शन करूँगा।' ऐसा कहकर सन्यासी विसर्जित हुआ और चला गया।

- [६.] दूसरे दिन प्रातःकाल मैं समस्त कार्य को करके भैरवाचार्य के दर्शन के लिए उद्यान को गया। शेर के चमड़े पर बैठे हुए भैरवाचार्य मेरे द्वारा देखे गये। उनके द्वारा मेरा सत्कार हुआ और मैं उनके चरणों पर गिरा। आशीष देकर मृगछाल दिखाकर उन्होंने कहा कि बैठो। मैंने कहा—'हे भगवन् ! यह उचित नहीं है कि दूसरे राजाओं के समान मेरे साथ व्यवहार किया जाय। क्योंकि यह आपका दोष नहीं है। इस प्रकार से सैकड़ों राजाओं ने जिसका सत्कार किया है उस राज-लक्ष्मी का दोष है। जिस कारण से आप जैसे भगवन् भी मुझ जैसे शिष्य को भी अपने आसन प्रदान करने के द्वारा इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। हे भगवन् ! आप मेरे लिए दूर में स्थित होने पर भी गुरु हैं।' इसके बाद अपने आदमी के दुपट्टे पर मैं बैठ गया। थोड़ी देर में मैंने कहना प्रारम्भ किया—'हे भगवन् ! वह देश, नगर, गाँव अथवा प्रदेश जहाँ पर आपका प्रसंग इत्यादि भी आ जाते हैं कृतार्थ हो गया है और उस स्थान का तो कहना ही क्या जो आपके अंगों से छू जाते हैं। इसलिए मैं आपके आगमन से अनुगृहीत हूँ।' तब जटाधारी ने कहा—'मेरे यहाँ भी गुणों को चाहने वाले सामान्य व्यक्ति भी प्रेमी व्यक्तियों के लिए पक्षपात करते हैं तो फिर तुम्हारे गुणों से कौन नहीं आकर्षित होता है और फिर तुम्हारे जैसे आये हुए लोगों के लिए हमारे जैसे फक्कड़ लोग क्या करें ? मेरे द्वारा जन्म से लेकर परिग्रह नहीं किया



गया और द्रव्य रूपये, पैसे के बिना लोक-व्यवहार पूरा नहीं होता है।' इस बात को सुनकर मैंने कहा—'हे भगवन् ! आपके लिए लोक व्यवहार से क्या प्रयोजन है ? लोक का अस्तित्व आपके आशीर्वाद से ही है।' पुनः जटाधारी ने कहा—हे महापुरुष !

**गाथा ६.** 'गुरुजनों की पूजा, प्रेम, भक्ति, सम्मान को उत्पन्न करने वाला विनय सज्जन व्यक्तियों के भी दान के बिना सम्पन्न नहीं होते हैं।

**गाथा ७.** 'दान द्रव्य के बिना नहीं होता है और द्रव्य धर्म-रहित व्यक्तियों के पास नहीं होता है। घमण्ड से युक्त व्यक्तियों में विनय नहीं होता है।'

[७] यह सुनकर मैंने कहा—'हे भगवन् ! ऐसा ही है। किन्तु आप जैसे व्यक्तियों का अवलोकन ही हमारे लिए दान है। आपका आदेश ही सम्मान है। इसलिए हे, भगवन् ! मुझे क्या करना चाहिए, बताइये।' भैरवाचार्य के द्वारा कहा गया है—'हे महानुभाव ! परोपकार करने में तल्लीन आप जैसे व्यक्तियों का दर्शन, मनोरथ को पूरा करने वाला है। बहुत दिनों से एक मंत्र की साधना की जा रही है। उसकी सिद्धि तुम्हारे द्वारा प्राप्त होगी। यदि श्रीमान् समस्त विघ्न को नष्ट करने के लिए एक दिन उपस्थित हों तो आठ वर्ष का मंत्र जाप का परिश्रम सफल होगा।' तब मैंने कहा—'हे भगवन् ! इस आदेश से मैं अनुगृहीत हुआ। तो कहाँ पर और किस दिन कार्य है ? ऐसा श्रीमान् आदेश दें।' उसके बाद ही जटाधारी ने कहा कि हे महानुभाव ! इस कृष्ण चतुर्दशी को तुम्हारे द्वारा हाथ में तलवार लिए नगर के उत्तरी बगीचे में श्मशान-भूमि में अकेले रात्रि का एक प्रहर बीत जाने पर आना चाहिए। वहाँ पर मैं तीनों जनों के साथ उपस्थित रहूँगा। तब मैंने कहा—'मैं ऐसा ही करूँगा।'

[८] तब कई दिन व्यतीत होने पर चतुर्दशी ही रात्रि आई। संसार के एक मात्र लोचन सूर्य के डूब जाने पर अंधकार का फैलाव उतर आने पर मेरे द्वारा सभी सेवकों को विसर्जित कर दिया गया और 'मेरा सिर दुखता है' ऐसा कहकर मित्रों को भेज दिया गया। तब मैं अकेला शयनगृह में प्रविष्ट हुआ। मैंने सिल्क के जोड़े को पहना। तलवार ग्रहण की और परिजनों से बचकर अकेला नगर से निकल गया। श्मशान भूमि में मुझे भैरवाचार्य ने देखा और मैंने उनको। तब जटाधारी ने मुझे कहा कि हे महानुभाव ! यहाँ तूफान होंगे। इसलिए

तुम्हारे द्वारा ये तीनों और मैं भी रक्षा किया जाऊँ। और भी जन्म से लेकर भय के स्वरूप को न जानने वाले आपके लिए क्या कहा जाय। तो तुम्हारी अनुकुम्पा से मैं साधना करता हूँ। तब मैंने कहा— 'हे भगवन्! आप विश्वासपूर्वक साधना करिए। तुम्हारे सिर के बाल को भी झुकाने में कौन समर्थ है।' इस बात को सुनकर उनके द्वारा मंडप ग्रहण किया गया और उसके मुख पर अग्नि जला दी गई तथा मंत्र जाप पूर्वक होम प्रारम्भ हो गया।

[१९] तब सियाल बोलने लगे, बेतालगण खिलखिलाने लगे, महाडाकनी घूमने लगी, महातूफान उठने लगे, मंत्र जाप चलता रहा किन्तु तीनों लोग विचलित नहीं हुए। जब तक मैं उत्तर दिशा में तलवार लिए हुए बैठा था, तभी तीनों भुवनों को बहरा करता हुआ, प्रलय के बादल की गर्जना का अनुसरण करने वाला पर्वतों की गुफाओं को भरता हुआ शोरगुल उछला। अचानक पास में ही पृथ्वीमण्डल फट गया। सिंहनाद छोड़ता हुआ प्रलयकाल के मेघ की तरह काला कुटिल और काले बाल वाला एक व्यक्ति उपस्थित हुआ। उसकी सिंहनाद से दिशाओं में स्थित वे तीनों व्यक्ति गिर पड़े। तब उसने कहा कि अरे! अप्सराओं के कामी अधार्मिक शैवाचार्य तुम्हारे द्वारा यहाँ पर निवास करते हुए मेघनाद नामक मुझ क्षेत्रपाल को नहीं जाना गया। मेरी पूजा को न करके मंत्र-सिद्धि चाहते हो? अब यह कुछ नहीं होगा और तुम्हारे द्वारा बुलाया गया यह राजपुत्र अपने अविनय के फल को अनुभव करे। तब मैंने उसको देखकर कहा कि 'अरे अधर्म पुरुष! यह क्या प्रलाप करते हो? यदि तुम्हारा पौरुष है तो इस प्रलाप से क्या? सामने आओ, जिससे तुम्हारी गर्जना का फल देखता हूँ। क्योंकि पुरुष की भुजाओं में ही बल होता है, शब्दोच्चारण में नहीं।' तब क्रोधित वह पुरुष मेरे सामने आया। उसे बिना शस्त्र के देखकर मैंने अपनी तलवार को छोड़ दिया। केसबन्धन के साथ पहने हुए वस्त्रों को भी सँभाल लिया गया। विभिन्न प्रकार के दाँव और हाथ के प्रहार से युद्ध होने लगा। इस प्रकार से लड़ते हुए मेरे द्वारा वह दुष्ट क्षेत्रपाल गिरा दिया गया। शक्ति की प्रधानता से उसको वश में कर लिया गया। उसने कहा— 'हे महापुरुष! तुम मुझे छोड़ दो। तुम्हारी इस महाशक्ति के द्वारा मैं सिद्ध कर लिया गया हूँ। तो कहो, तुम्हारे लिए क्या किया जाय?' ऐसा कहने पर मैंने कहा कि जो यह जटा-

धारी चाहते हैं तुम उसको कर दो, यदि सिद्ध हो। उसने कहा कि तुम्हारी उपस्थित से यह मंत्र स्वयं ही सिद्ध हो जायेगा। किन्तु तुम्हारे लिए क्या किया जाय। ऐसा कहने पर मैंने कहा कि मुझे इतना ही प्रयोजन है कि इनकी सिद्धि हो जाय। फिर भी यदि वह मेरी भार्या किसी प्रकार से मेरे वश को प्राप्त हो (तो ऐसा करो)। उसने एक (अदृश्य करने वाला) पदार्थ देकर मुझे कहा कि वह इसकी कृपा से तुम्हें चाहने वाली होगी और तुम मेरी कृपा से काम की तरह सुन्दर होगे। ऐसा वर देकर वह बेताल चला गया।

[१०] मंत्र को सिद्ध करने वाले भैरवाचार्य के द्वारा कहा गया कि हे महापुरुष! आपकी कृपा से मंत्र सिद्ध हो गया है। चाहा गया कार्य सम्पन्न हो गया है। दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। मनुष्य से अतिरिक्त श्रेष्ठ पराक्रम उपलब्ध हुआ, अन्य ही प्रकार की देहप्रभा उत्पन्न हो गई, अतः आपको क्या कहूँ? आपको छोड़कर स्वप्न में भी कौन दूसरा इस प्रकार के परोपकार से युक्त मार्ग को स्वीकार करता है। तुम्हारे गुणों से उपकृत किया हुआ मैं यह कहने में समर्थ नहीं हूँ कि जा रहा हूँ—स्वार्थ की निष्ठुरता के कारण। तुम परोपकार में लगे हो, ऐसा कहना पुनरुक्ति है। फिर भी प्रत्यक्ष ही उसे देख लिया गया है। तुमसे ही मेरा जीवन है, स्नेहभाव से ऐसा कहना भी उचित नहीं, तुम मेरे बांधव हो—ऐसा कहना दूरी पैदा करता है, निष्कारण परोपकार में लगे हो—यह कहना कृतज्ञ वचनों का अनुवाद है। आपसे मैं संरक्षित हुआ हूँ—ऐसा कहना आपके उपकार को कम करता है।' इस प्रकार कहकर उन तीनों के साथ भैरवाचार्य चले गये।

[११] मैं भी शरीर को धोकर अपने आवास में प्रविष्ट हुआ। सिल्क की वेश-भूषा छोड़ दो और स्थान-मंडप में ठहरा। उसके बाद कनकमती के भवन को गया। गोष्ठी प्रारम्भ हुई। उसके द्वारा पहली पढ़ी गयी। मेरे द्वारा हृदालिका पढ़ी गई। (हृदय को बताने वाली)।

गाथा ८. "यदि शिक्षित शिष्य को गुरु के द्वारा यह कहा जाता है कि रात्रि में जाना उचित नहीं है तो शिष्य किस प्रकार कहता है कि—आर्य! क्रोधित न हों, दोनों समान हैं।

कनकमती ने कहा—'वह दिव्य ज्ञानी है इसलिए ऐसा कहा।' फिर कनकमती ने हृदालिका पढ़ी—

गाथा ९. 'यदि स्त्री सखियों द्वारा कही गयी कि तेरा प्रियतम दोषों

व ऋटियों का लालची है तो किस प्रकार भोली नायिका और अधिक गर्व को धारण करती है ?

मेरे द्वारा कहा गया—‘क्योंकि वह उसको चाहने वाला था ।’

[१२] तब मैं उठकर अपने भवन को चला गया । उचित कार्यों को किया ।

इस संसार का एकमात्र प्रदीप सूर्य के अस्त होने पर मित्रों को भेज दिया गया । रात्रि एक प्रहर व्यतीत हुई मैंने तलवार ली । मनुष्य की आंखों को न दिखाई पड़ने वाले अदृश्य रूप को प्राप्त कर कनकमती के भवन को गया । भवन के ऊपरी भाग पर वह स्थित थी और पास में दो दासियाँ थीं, बाहर पहरेदार थे । दूसरे कमरे में एक स्थान पर मैं ठहर गया । तभी कनकमती ने एक स्त्री को कहा—‘हे सखी, रात कितनी हो गई ?’ दो प्रहर से कुछ कम ।’

[१३] तब उसने नहाने का कपड़ा माँगा । अंग प्रक्षालन किया और सिल्क के कपड़े से पोंछा । शृंगार किया, विशेष आभूषण धारण किए, सिल्क का जोड़ा पहना, विमान तैयार किया और तीनों जने उस पर चढ़े । मैं भी अदृश्य रूप में (विमान के) एक कोने पर चढ़ गया । मन की तरह शीघ्र उत्तर दिशा की ओर वह विमान गया । तालाब के किनारे और नंदनवन के बीच के स्थान पर वह उतरा । वहाँ पर अशोक वीथिका के नीचे मैंने एक विद्याधर को देखा और कनकमती विमान से निकलकर उसके समीप में गई तथा उसे प्रणाम किया । उसने कहा—‘बैठो ।’ थोड़ी देर में अन्य तीन स्त्रियाँ भी वहाँ आ गईं । वे भी प्रणाम करके उसकी अनुमति से बैठ गईं । थोड़ी देर में अन्य विद्याधर भी वहाँ आ गये तथा आकर और पूर्वोत्तर दिशा में भगवान् ऋषभ स्वामी के चैत्य घर में जाकर पहले उपलेपन से उनका मंजन किया । वह विद्याधर भी वहाँ गया । वे चारों जनों भी वहाँ जाकर किसी ने वीणा और किसी दूसरी ने बाँसुरी ग्रहण की, कायली प्रधान गीत प्रारम्भ किया । इस प्रकार से संसार के गुरु का अभिषेक किया गया । गोशीर्ष चन्दन का लेप किया गया । फूल चढ़ाये गये, धूप जलाई गई, नृत्य प्रारम्भ हुआ । विद्याधर ने कहा—‘आज किसकी बारी है ?’ तब कनकमती उठी, नाचना प्रारम्भ । किया, नाचती हुई उसकी घुँघरू धागे सहित टूट कर गिर गई । वह घुँघरू मेरे द्वारा ग्रहण कर ली गई और छिपा ली गई । घमण्डी विद्याधरों द्वारा प्रयत्नपूर्वक खोजने पर भी वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई । नृत्य समाप्त हो गया । उस नृत्य के विसर्जित होने से सभी विद्याधर अपने-अपने स्थानों को चले

गये। कनकमती भी दासियों के साथ विमान पर चढ़ी। मैं भी उसी प्रकार से चढ़ गया। कनकमती विमान से भवन को आ गयी।

[१४] (विमान से) निकलकर मैं, अपने भवन को गया। बिना किसी के देखे ही अपने भवन में प्रविष्ट हो गया। एक प्रहर शेष रात्रि में सो गया। सूर्य के उगने पर उठा। उचित कार्य किए और मतिसागर नाम का मन्त्री-पुत्र, मेरा मित्र आ गया। मैंने उसे घूँघरू दे दिया और उसे कहा कि कनकमती के पास जाकर मेरी तरफ से यह कहो कि 'यह मेरे द्वारा पड़ी हुई प्राप्त की गई है।' उसने कहा—'ऐसा करूँगा।'

[१५] मैं कनकमती के घर गया। मैंने उसे देखा। दिये गये आसन पर बैठा, वह मेरे पास में पट्ट के मंच पर बैठी। गोटियों द्वारा जुआ प्रारम्भ हुआ। उसके द्वारा मैं जीत लिया गया। कनकमती ने गहना माँगा। मतिसागर ने वह घूँघरू उसे समर्पित कर दिया और उसके द्वारा वह घूँघरू पहचान ली गई। उसने कहा—'यह कहाँ पर प्राप्त हुई।' मैंने कहा—'इससे क्या करना है?' उसने कहा—'ऐसे ही पूछा।' मैंने कहा—'यदि कार्य हो तो तुम ले लो। हमने उसे पड़ी हुई पाया था।' उसने पूछा—'किस स्थान पर प्राप्त की थी?' मैंने पूछा—'तुमसे कहाँ गिरी थी?' उसने कहा—'मैं नहीं जानती।' मैंने कहा—'यह मतिसागर ज्योतिषी है, सब भूत भविष्य को जानता है, यह कहेंगा।' कनकमती ने मतिसागर से पूछा। उसने भी मेरे अभिप्राय को जानकर कहा कि कल निवेदन करूँगा। उसने कहा—'ठीक है।' और मैं उसके साथ पासे खेलकर अपने घर को गया।

[१६] उसके बाद सूर्यास्त के एक प्रहर रात्रि के बीत जाने पर मैं अकेले कनकमती के भवन पर गया और उसको उसी तरह से मैंने देखा। उसी प्रकार रात्रि में उसे (दासी) पूछकर विमान की रचना की गयी। और उस पर तीनों जनों चढ़ बैठें। मैं भी उसी तरीके से उस स्थान तक पहुँचा। पहले के अनुसार ही अभिषेक आदि करके नृत्य विधि आरम्भ की। वीणा बजाते समय कनकमती के पैर में से झाँझर निकल पड़ा। मैंने उसको ले लिया। जाते समय उसने उसको दूँहा पर उसे मिला नहीं। फिर विमान में चढ़कर वह अपने भवन को आई।

[१७] मैं भी रात्रि के अन्तिम प्रहर में अपने भवन को पहुँच गया। सो गया। किसी ने मुझे देखा नहीं। प्रातःकाल में जाग गया। मतिसागर

आ गया। उसको वह पायल दे दी। उसे सिखा करके शीघ्र ही मैं उस मित्र के साथ कनकमती के भवन को गया। कनकमती ने हमारा सत्कार किया, आसन दिया और मैं उस पर बैठा और वह भी मेरे पास बैठ गई। हमारे बीच गोष्ठी आरम्भ हुई, चौथा पद जिसमें छिपा रहता था, ऐसा उसने एक पद पढ़ा—

**गाथा १०.** तेज पवन से आहत (पीड़ित) कमल के पत्ते की तरह चंचल जीवन, प्रेम और प्राणियों का यौवन है और लक्ष्मी भी चंचल है। मैंने कहा—‘अतः धर्म और दया करो।’

[१८] उसके बाद कनकमती ने घुँघरू प्राप्त की आशा से मतिसागर को प्रेरित करके पूछा कि श्रीमान्, आपने ज्योतिष देख लिया। उसने कहा—‘देख लिया। क्या तुम्हारी कुछ अन्य चीज भी गुम हुई है?’ उसने पूछा—‘वह क्या है?’ मतिसागर ने कहा—‘क्या तुम नहीं जानती हो?’ उसने कहा—‘मैं जानती हूँ कि वह कैसे नष्ट हुई है। किन्तु उस स्थान को नहीं जानती हूँ। अतः तुम पता करो कि वह क्या है और कहाँ गुम हुई है?’ तब मैंने कहा कि मुझसे किसी दूसरे ने कहा कि दूर स्थान पर कनकमती के पैर से नूपुर गिरा, जिसने उसको प्राप्त किया था उसने मुझे बताया। न केवल बताया किन्तु उसके हाथ से मैंने प्राप्त भी कर लिया। तब कनकमती घुँघरू के वृत्तान्त से ही क्षुब्ध थी, किन्तु इस समय इस वृत्तान्त से वह अच्छी तरह व्याकुल हो गई और सोचने लगी कि—‘अन्यत्र जाती हुई मैं जान ली गई हूँ इसलिए नहीं जानती हूँ कि क्या हुआ? यह कौनसी घटना है? क्या यह सचमुच ही ज्योतिषी है अथवा यदि ज्योतिषी है तो जो नष्ट हुआ है उसी को जानता, मुझे और उस स्थान को कैसे जान गया तथा यहाँ रहते हुए ही उसको प्राप्त भी कर लिया। अतः इसमें कुछ कारण होना चाहिए और यह राजकुमार भी इन दिनों में शीघ्र ही मेरे घर पर आ जाता है तथा शेष निद्रा होने से यह लाल आँखों वाला भी है। अतः किसी प्रयोजन से यही मेरा पति वहाँ जाता है, यह मेरी आशंका है।’ ऐसा सोचकर कनकमती ने कहा कि वह नूपुर कहाँ हैं, जो तुम लोगों ने ज्योतिष के बल से प्राप्त किया है? तब मेरे मुँह को देखकर मतिसागर ने निकाल कर (वह नूपुर) समर्पित कर दिया। कनकमती ने ग्रहण कर लिया। कनकमती ने कहा—‘आप लोगों ने इसे कहाँ प्राप्त किया है?’ मैंने पूछा कि यह कहाँ नष्ट हुआ था? उसने उत्तर

दिया कि मेरे द्वारा यह जहाँ नष्ट हुआ था वह स्थान स्वयं आपने देख लिया है। मैंने कहा कि मुझे किसी दूसरे ने बताया है। मैं वास्तविक अर्थ को नहीं जानता हूँ। कनकमती ने कहा कि 'इन व्यर्थ के वचनों से क्या और अधिक क्या कहना। यह ठीक ही हुआ कि जो आपने स्वयं यह सब जान लिया। किसी दूसरे के द्वारा मैं कही जाती तो वह ठीक नहीं था। क्योंकि अब अग्नि में प्रवेश से भी मेरी श्रद्धि नहीं है।' मैंने पूछा—'अग्नि प्रवेश की बात कहाँ से आ गई।' उसने कहा—'आर्यपुत्र स्वयं जान जायेंगे। जैसे इतना जाना है वैसे शेष भी जानेंगे।' ऐसा कहकर खेदयुक्त चिन्ता से दुखी वह कनकमती बाँयें हथेली पर सिर को झुकाकर रह गई। तब मैं थोड़ी देर वहाँ ठहरकर मत्तिसागर के साथ सामान्य बातचीत कर और अन्य कथाओं के द्वारा कनकमती को प्रसन्न कर अपने भवन को चला गया।

[१९] फिर पूर्व क्रम के अनुसार एक प्रहर रात्रि के व्यतीत होने पर कनकमती के घर गया। मैंने दास-दासियों के साथ कुछ-कुछ अस्पष्ट अक्षरों को बोलती हुई दुखी मन वाली कनकमती को देखा और उनके पास अदृश्य रूप में बैठ गया। तब थोड़ी देर में एक दासी ने कहा कि हे स्वामिनी! जाने की तैयारी की जाय, समय बीत रहा है। वह विद्याधरों का स्वामी क्रोधित हो जायेगा। तब लम्बी स्वास लेकर कनकमती ने कहा—'हे सखी! मैं क्या करूँ? मैं मंदभागिनी हूँ। मैं उस विद्याधर राजा के द्वारा कुंवारी अवस्था से ही यह प्रतिज्ञा ग्रहण करा दी कि जबतक मैं तुम्हें आज्ञा न दूँ तब तक तुम किसी आदमी को नहीं चाहोगी, और मैंने उस प्रतिज्ञा को स्वीकार कर लिया था। पिता के अनुरोध से विवाह भी सम्पन्न हो गया। प्रियतम ने भी मुझे स्वीकार कर लिया और मैं भी गुण रूप वाली होकर, आकर्षित हृदय वाली उस पति को चाहने लगी। किन्तु मेरे पति के द्वारा विद्याधर के वृत्तान्त को जान लिया गया। इसलिए मैं नहीं जानती हूँ कि इसका क्या अन्त होगा? इस कारण से मेरा हृदय आशंकित है। या तो यह मेरा प्रियतम उस विद्याधर के क्रोध की अग्नि में पतंगों की तरह भस्म हो जायेगा अथवा वह मुझे ही मार डालेगा अथवा कुछ अन्य होगा? इस प्रकार सभी तरह से दुखी मैं नहीं जानती कि इस शरीर से क्या करना है। अपने बल से युक्त वह विद्याधर दुष्ट है और पति भी दृढ़ रूप से आशक्त विवाह को नहीं तोड़ेगा। यौवन का प्रारम्भ भारी है। पिता और स्वसुर के घर में अत्यन्त निन्दित होने वाली

हूँ। यह संसार की रीति है। कार्य की गति अत्यन्त कुटिल है। इसलिए इस चिन्ता से बुरी तरह दुःखी हूँ।' इस बात को सुनकर उस दासी ने कहा—'यदि ऐसा है तो मैं ही वहाँ जाती हूँ और कह दूँगी कि (आपका) सिर दुःखता है तथा तब पता करूँगी कि वह विद्याधर क्या करता है?' कनकमती ने कुछ देर तक यह सोचकर कहा कि ठीक है, ऐसा ही करो।

[२०] उसके बाद ही कनकमती के द्वारा विमान तैयार किया गया। मैंने सोचा—'इसने ठीक ही किया। मैं ही वहाँ जाकर उस विद्याधर राजा को झुकाता हूँ और उसके उस नाटक का अन्त करता हूँ तथा जीते हुए लोक को नष्ट कर देता हूँ।' ऐसा सोचते हुए उस दासी के साथ विमान के एक स्थान पर चढ़ गया। उसी प्रकार से वह विमान उसी स्थान को गया।

[२१] जब तक ऋषभ स्वामी का स्नान करके नृत्य प्रारम्भ हुआ वह दास चैटी उस स्थान को पहुँची। विमान से निकलकर एक स्थान को बैठ गई और अन्य विद्याधर के द्वारा पूछी गई कि तुम देर से क्यों आई? (तुम, अकेली क्यों आई?) और कनकमती कहाँ है? उसने कहा, कनकमती की तबीयत ठीक नहीं है, अतः मैं भेजी गई हूँ? उसे सुनकर विद्याधर राजा ने कहा कि तुम्हीं नृत्य करो। मैं उसके शरीर को ठीक कर दूँगा। ऐसा कहने पर दासी दुखी हुई। मैंने अपना दुपट्टा बाँध लिया तथा हाथ में खड्गरत्न ले लिया। तभी नृत्य विधि समाप्त हुई। देव घर से विद्याधर निकला और बालों को पकड़कर चैटी से बोला कि 'अरी दुष्ट दासी, पहले तुम्हारे ही रुधिर प्रवाह से मेरी क्रोध अग्नि शान्त हो। बाद में तुम्हारी स्वामिनी के लिए यथोचित करूँगा।' उस बात को सुनकर दासी ने कहा—'तुम्हारे जैसे लोगों के स्वार्थ को इसी प्रकार से अन्त होना है। अतः जो तुम्हें अनुकूल हो सो करो। ऐसा हम लोगों ने पहले ही सोच लिया था, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।' उसके बाद ही दृढ़ रूप से क्रोधित उस विद्याधर ने कहा कि 'पागल की तरह क्या बोलती है? इष्ट देवता को स्मरण कर लो अथवा जिसकी शरण में जाना हो चली जाओ।' तब दासी ने कहा—

गाथा ११—'देवता, विद्याधर, मनुष्य और तिर्यचों के वत्सल तीनों लोक के गुरु इन भगवान् ऋषभदेव को ही स्मरण करती हूँ।'





## श्री कूर्मापुत्र चरित\*

१. असुरेन्द्र एवं सुरेन्द्रों के द्वारा चरणकमलों में नमन किये गये श्री वर्धमान (महावीर स्वामी) को प्रणाम कर मैं संक्षेप में कूर्मापुत्रचरित को कहता हूँ ।
२. समस्त नीति और नियमों से युक्त समस्त श्रेष्ठ पुरुषों वाले श्रेष्ठ नगर राजगृह के गुणों के निवास-स्थान गुणशील नामक उद्यान में (एक बार) वर्धमान जिनेश्वर आये ।
३. देवताओं के द्वारा अनेक पापकर्मों को दूर करने वाला मणि, स्वर्ण, चाँदी आदि की प्रभा से चमकने वाला समवशरण बनाया गया ।
४. उस समवशरण में बैठे हुए स्वर्ण जैसे शरीर वाले एवं समुद्र की तरह गंभीर भगवान् महावीर दान आदि चार प्रकार वाले अत्यन्त मनोहर धर्म को कहते हैं ।
५. दान, तप, शील एवं भावना के भेदों से धर्म चार प्रकार का होता है । उन सबमें भाव धर्म को महाप्रभावक जानना चाहिए ।
६. भाव, संसार रूपी समुद्र को पार कराने वाली नौका, भाव, स्वर्ग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाला एवं भाव, सज्जन व्यक्तियों के लिए मनो-वाञ्छित अनिर्वचनीय चिन्तामणि रत्न है ।
७. तावों को न जानने वाला एवं चरित्रधर्म को ग्रहण न करने वाला कूर्मापुत्र गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ भी भाव धर्म से केवलज्ञान को प्राप्त हुआ ।
८. हे गौतम ! जो तुम मुझसे कूर्मापुत्र के आश्चर्यजनक चरित को पूछ रहे हो तो एकाग्रमन होकर उस सम्पूर्ण चरित को सुनो ।
९. जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरत क्षेत्र के मध्य भाग में जगत् प्रसिद्ध दुर्गमपुर नामक एक नगर है ।
१०. वहाँ पर अपने प्रतापरूपी लक्ष्मी से सूर्य को भी जीतने वाला शत्रुओं के लिए वज्र सदृश द्रोण नामक राजा सदैव निष्कलंक राज्य का पालन करता है ।
११. उस राजा के दुमा नामक पटरानी है, जो शंकर देवता की पार्वती एवं विष्णु देवता की लक्ष्मी की तरह है ।

\* अनुवादक—डॉ० प्रेमसुमन जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।

१२. उन दोनों के सुन्दर रूप से कामदेव को जीतने वाला, गुणरूपी मणियों का भंडार, अनेक लोगों के जीवन का आधार सुकुमार दुर्लभ नामक राजकुमार पुत्र है ।
१३. वह राजकुमार अपने यौवन और राज्यमद से अन्य बहुत से कुमारों को आकाशतल में गेंद की तरह उछालता (अपमानित करता) हुआ सदैव क्रीड़ा करता है ।
१४. किसी एक दिन उस नगर के दुर्गिल नामक बगीचे में सुलोचन नामक एक केवलज्ञानी सद्गुरु पधारे ।
१५. उस बगीचे में बहुसाल नामक वटवृक्ष के नीचे स्थित भवन में आवास बनाये हुए एक भद्रमुखी नामक यक्षिणी सदैव निवास करती थी ।
१६. वह यक्षिणी संशय हरण करने वाले केवलज्ञानरूपी कमलसे युक्त सुलोचन नामक उन सद्गुरु को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर इस प्रकार पूछती है—
१७. 'हे भगवन् ! पूर्वभव में मैं सुवेल वेलंधर नामक देव की प्राणप्रिय पत्नी मानवती नामक मानवी थी ।
१८. आयु के क्षय होने पर मैं इस वन में भद्रमुखी नामक यक्षिणी हो गयी । किन्तु हे नाथ ! मेरा पति किस गति में उत्पन्न हुआ है, (कृपया) आदेश प्रदान करें ।' तब सुलोचन नामक केवली मधुर वाणी में कहते हैं—
१९. 'हे भद्रे ! सुनो, इसी नगर में तुम्हारा सुदुर्लभ पति द्रोण राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, जिसका नाम दुर्लभ है ।'
२०. यह सुनकर वह भद्रमुखी नामक यक्षिणी प्रसन्न हो गयी एवं मानवी का रूप धारण कर वह कुमार (दुर्लभ) के समीप में पहुँच गयी ।
२१. बहुत से कुमारों को उछालने में तल्लीन उस दुर्लभ कुमार को देखकर वह यक्षिणी हँसकर कहती है—“इस व्यर्थ के खेल खेलने से क्या लाभ ?”
२२. “यदि तुम्हारा मन विचित्र प्रकार के आश्चर्यों में दौड़ता हो तो तुम मेरा अनुगमन करो ।” इन वचनों को सुनकर वह कुमार—
२३. उसके वचनों के कौतूहल से आकर्षित मन वाला होता हुआ उस कन्या

के पीछे दौड़ता है। उसके आगे-आगे जाती हुई वह यक्षिणी भी उसे अपने वन में ले जाती है।

२४. बहुसाल नामक वटवृक्ष के नीचे के रास्ते से वह कुमार पाताल के बीच में ले जाया गया। वहाँ वह देव भवनों की तरह अत्यन्त रमणीय स्वर्णमय भवन को देखता है। वह कैसा है?—
- २५.-२६. रत्नमय खम्भों की पंक्तियों की चमक से भरे हुए अभ्यन्तर प्रदेश-वाला, मणिमय द्वारों की चौखटों की ताजी प्रभा के किरणों से चमकदार, मणिमय खम्भों पर बनी हुई पुतलियों की क्रीड़ाओं से लोगों के समूह को क्षोभित करने वाला, अनेक दीवारों पर चित्रों से चित्रित गवाक्षों के समूह की शोभा वाला—
२७. ऐसे संसार के मन को आश्चर्य में डालने वाले उस देव भवन को देखकर अत्यन्त विस्मय को प्राप्त वह राजकुमार इस प्रकार सोचने लगा—
२८. क्या यह इन्द्रजाल है अथवा स्वप्न में यह देखा जा रहा है एवं मेरे अपने नगर से इस भवन में मैं किसके द्वारा लाया गया हूँ।
२९. इस प्रकार सन्देह से भरे हुए कुमार को पलंग पर बैठाकर वह व्यन्तरवधू (यक्षिणी) निवेदन करती है—‘हे स्वामी ! मेरी बात सुनिए—
३०. मुझ मंदबुद्धिवाली के द्वारा बहुत समय बाद हे नाथ ! आज आप दिखायी दिये हैं। इस सुरभि वन के देव भवन में अपने काम के लिए आप मेरे द्वारा लाये गये हैं।
३१. आज ही मेरा मनमनोरथ रूपी कल्पवृक्ष फला है जो कि किये गए पुण्यों के वश से आज आप मुझसे मिले हैं।’
३२. इस वचन को सुनकर और उसके अच्छे नयनों वाले मुख को देखकर उस राजकुमार के मन में पूर्व जन्म का स्नेह उत्पन्न हो गया।
३३. पूर्व जन्म में इसको कहीं देखा है और मेरी यह परिचिता है, इस ऊहापोह के कारण उसे जाति-स्मरण (पूर्व जन्म का ज्ञान) उत्पन्न हो गया।
३४. जाति-स्मरण से उस कुमार ने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को जानकर अपनी प्रिया के सामने सब कुछ कह दिया।

३५. तब उस देवी (यक्षिणी) ने अपनी शक्ति से अशुभ पुद्गलों (द्रव्य) को निकाल कर शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपण उस राजकुमार के शरीर में करके—
३६. पूर्व जन्म की पत्नी के रूप में, लज्जा को त्याग कर उसके साथ भोगों को भोगा। इस प्रकार वे दोनों विषय सुखों का अनुभव करते हुए वहाँ रहने लगे।
३७. और इधर पुत्र के वियोग से दुखी उस राजकुमार के माता-पिता हमेशा सब जगह उसको खोजते रहते हैं, किन्तु उसका समाचार भी प्राप्त नहीं होता है।
३८. देवताओं के द्वारा अपहृत वस्तु मनुष्यों के द्वारा कैसे खोजी जा सकती है? क्योंकि मनुष्य और देवताओं की शक्ति में बहुत अन्तर होता है।
३९. इसके बाद दुखी उन माता-पिता द्वारा उन केवली मुनि से पूछा गया—“हे भगवन् ! कहिए, हमारा वह पुत्र कहाँ चला गया है?”
४०. तब वे केवली कहते हैं—“सावधान मन से एवं कानों के द्वारा सुनो—तुम्हारा वह पुत्र एक व्यन्तरी के द्वारा अपहृत कर लिया गया है।”
४१. तब केवली के वचनों से अत्यन्त आश्चर्य से विस्मित हो गये वे कहते हैं—“देवता अपवित्र मनुष्य का क्यों अपहरण करते हैं?” क्योंकि आगम में कहा है—
४२. मनुष्य लोक की गंध चार-पाँच सौ योजन ऊपर तक जाती है, उस कारण देवता वहाँ नहीं आते हैं।
४३. जिनेन्द्र देव के पंचकल्याणकों में महाऋषियों के तप के प्रभाव से और पूर्वजन्मों के स्नेह से ही देवता इधर आते हैं।
४४. तब केवली बतलाते हैं कि उस व्यन्तरी के पूर्वजन्म के स्नेह से ही ( तुम्हारा पुत्र वहाँ गया है )। तब वे माता-पिता निवेदन करते हैं कि हे स्वामी ! कर्मों का फल अत्यन्त बलशाली है।
४५. हे भगवन् ! राजकुमार के साथ हमारा मिलन अब कब और कैसे होगा ? तब मुनि ने कहा—‘जब हम यहाँ फिर से आयेंगे तब होगा।’

४६. इस सम्बन्ध को सुनकर वैराग्य को प्राप्त कुमार के माता-पिता छोटे पुत्र को राज्य पर बैठाकर उन मुनिराज के समीप ही दीक्षित हो गये ।
४७. वे दुष्कर तप का आचरण करते हुए, दोषों से रहित आहार का पारायण करते हुए, अपरिग्रह से युक्त मन वाले, तीन गुप्तियों से संयमित होकर विहार करने लगे ।
४८. किसी एक दिन अनेक गाँवों में विचरण करते हुए वे केवलज्ञानी उन माता-पिता साध्वी-साधुओं के साथ उसी दुर्गिल वन में पहुँचे ।
४९. इधर वह यक्षिणी अवधिज्ञान से राजकुमार की आयु को थोड़ा जानकर भक्ति से युक्त अंजली जोड़कर उन केवलज्ञानी को पूछती है—
५०. “हे भगवन् ! क्या अल्प जीवन ( आयु ) किसी प्रकार से बढ़ाया जाना सम्भव है ?” तो केवलज्ञान के अर्थविस्तार से युक्त वे केवली कहते हैं—
५१. तीर्थंकर, गणधर, अत्यन्त बलशाली चक्रवर्ती राजा, अतिबल युक्त वासुदेव भी आयु को बढ़ाने में समर्थ नहीं हैं ।
५२. जो देव जम्बूद्वीप को छत्र एवं मेरु को दण्ड की तरह उपयोग करने में समर्थ हैं वे देव भी आयु का सन्धान ( वृद्धि ) करने में समर्थ नहीं हैं ।
५३. न विद्या, न औषधि, न पिता, न बान्धव, न पुत्र, न अभीष्ट, न कुलदेवता और न ही स्नेह से अनुरक्त जननी, न अर्थ, न स्वजन, न परिजन, न शारीरिक बल और न ही बलशाली सुर-असुर जन आयु का विस्तार करने में समर्थ हैं ।
५४. इस तरह केवली के वचन को सुनकर वह उदास-मना अमरी/यक्षिणी देवी सभी तरह से नष्ट हुए शस्त्र वाले की तरह अपने भवन को प्राप्त हुई ।
५५. वह कुमार के द्वारा देखी गई, और वचनों से पूछी गयी कि—हे स्वामिनी ! आज किस कारण से तुम मन में उदास हो ?
५६. क्या किसी ने तुम्हें दुःख दिया या किसी ने तुम्हारी आज्ञा नहीं मानी अथवा क्या मेरे किसी अपराध से तुम अप्रसन्न हुई हो ?

५७. वह कुछ भी नहीं बोलती हुई मन में अत्यन्त विषाद के भार को उठाती हुई आग्रहपूर्वक बार-बार पृछे जाने पर समस्त वृत्तान्त को कहती है ।
५८. 'हे स्वामी ! मैंने अवधि ज्ञान के द्वारा आपके जीवन को थोड़ा ही जानकर आयुष्य के स्वरूप को केवली के पास पूछा और उन्होंने स्वरूप समझाया है ।
५९. हे नाथ ! इस कारण से मैं दुःख की पीड़ा से युक्त शरीरवाली विधि के विलास के टेढ़े हो जाने पर तुम्हारा विरह कैसे सहन करूँगी ?'
६०. कुमार ने कहा—'हे यक्षिणी ! हृदय के भीतर खेद मत करो । जल के बिन्दु के समान चंचल जीवन में कौन स्थिरता मानता है ?
६१. हे प्राणप्रिये ! यदि मेरे ऊपर स्नेह करती हो तो केवली के पास में मुझे छोड़ दो, जिससे मैं अपना कल्याण कर सकूँ ।
६२. तब उसकी अपनी शक्ति के द्वारा केवली के पास में कुमार ले जाया गया । केवली को अभिवंदित कर वह यथोचित स्थान पर बैठा ।
६३. तब माता एवं पिता रूप में स्थित मुनि उस कुमार को बहुत समय वाद देखकर पुत्र के स्नेह से रोने लग गये ।
६४. उन्हें न जानते हुए कुमार को केवली के द्वारा आदेश दिया गया कि हे कुमार, अपने माता-पिता रूप मुनि को प्रणाम करो ।
६५. वह केवली से पूछता है—'हे प्रभु ! इनको वैराग्य कैसे हुआ ? कहिए ।' तब मुनि के द्वारा पुत्र वियोग के कारण उसे बतलाया गया ।
६६. इस प्रकार सुनकर वह कुमार जैसे मोर बादल को देखकर, जैसे चकोर चन्द्र को और जैसे चक्रवाक प्रचण्ड सूर्य को देखकर—
६७. जैसे बछड़ा अपनी गाय को, जैसे कोयल बसंत ऋतु की सुगन्धि को देखकर सन्तोष को प्राप्त होता, उसी प्रकार हर्ष से युक्त वह कुमार रोमांचित और सन्तुष्ट हुआ ।
६८. अपने माता-पिता रूप मुनि के कंठ से लगकर रोते हुए उस कुमार को उस यक्षिणी द्वारा मधुर वचनों से चुप कराया गया ।
६९. अपने अंचल के वस्त्र से आँसू से भरे हुए कुमार के नेत्रों को वह यक्षिणी पोंछती है । अरे ! महामोह का उल्लंघन करना कठिन है ।

७०. अपने माता-पिता के दर्शन से उत्पन्न हुए प्रेम के भार से भरे हुए कुमार को वह अमरी/यक्षिणी केवलज्ञानी के पास बैठाती है ।
७१. इसके अनन्तर केवली भी सभी तरह उसके उपकार के कारण को करते हैं । अमृत रस के सदृश आश्रयभूत अपने मत में धर्म की देशना करते हैं ।
७२. जैसे सज्जन पुरुष मनुज भव को प्राप्त कर धर्म में प्रमाद का आचरण करता है वह प्राप्त हुए चिन्तामणि रत्न को, समुद्र में डुबो देता है ।
७३. एक श्रेष्ठ नगर में कलाओं में कुशल कोई वणिक रहता था । वह रत्न परीक्षा के ग्रन्थ को गुरु के पास में अभ्यास करता है ।
७४. सोर्गाधिक, कर्कतन, मरकत, गोमेद, इन्द्रनील, जलकान्त, सूर्यकान्त, मसारगल्य, अंक, स्फटिक इत्यादि ।
७५. इन सभी रत्नों के लक्षण, गुण, रंग, नाम, योत्र आदि सभी वह जान जाता है । मणि-परीक्षा में विचक्षण हो जाता है ।
७६. इसके बाद एक दिन वह वणिक सोचता है कि इस तरह अन्य रत्नों से क्या लाभ ? मणियों में शिरोमणि चिन्तामणि रत्न सोचने मात्र से-धन को उत्पन्न करने वाला हो ।
७७. तब उस वणिक ने चिन्तामणि रत्न के लिए अनेक स्थानों पर कई खदानें खोदीं । विविध उपायों के करने से भी वह मणि उसे नहीं मिली ।
७८. किसी ने उससे कहा कि जहाज पर चढ़कर तुम रत्नद्वीप जाओ, तो वहाँ आसुपुरी देवी तुम्हें वांछित फल देगी ।
७९. तब वह इक्कीस दिनों में रत्नद्वीप पहुँचा । वहाँ वह देवी की आराधना करता है । सन्तुष्ट हुई वह देवी उसे कहती है—
८०. 'हे सज्जन पुरुष ! तूने मुझे आज तक किस कारण से आराधित किया ?' तब वह कहता है—'हे देवि ! यह उद्यम चिन्तामणि के लिए किया गया है ।'
८१. देवी कहती है—'अरे अरे ! ऐसा नहीं है ? तुम्हारा कर्म ही सम्यक् करने वाला है । क्योंकि देवता भी कर्मानुसार धन देते हैं ।'
८२. तब वह कहता है कि यदि मेरा कर्म ऐसा होता तो मैं किसलिए तुम्हारी सेवा करता । तुम तो मुझे रत्न दो, जो होना है वह बाद में देखा जाएगा ।

८३. तब देवी के द्वारा वह चिन्तामणि रत्न वणिक् को दे दिया गया । वह सन्तुष्ट हुआ अपने घर को गमन करने के लिए वाहन पर चढ़ा ।
८४. जहाज की छत पर बैठा हुआ वह वणिक् जैसे ही सागर के मध्य में आया वैसे ही पूर्व दिशा में पूर्णिमासी का चाँद उदित हुआ ।
८५. तब उस चाँद को देखकर वह वणिक् अपने मन में विचार करता है कि चिन्तामणि का तेज अधिक है या इस चाँद का ?
८६. ऐसा सोचकर वह अपनी हथेली पर चिन्तामणि रत्न को लेकर अपनी दृष्टि से चन्द्र और रत्न को बार-बार देखता है ।
८७. इस तरह देखते हुए उस दुर्भाग्यशाली के हाथ से वह अत्यन्त अमूल्य रत्न समुद्र में गिर गया ।
८८. समुद्र के बीच में पड़ा हुआ वह सम्पूर्ण रत्नों में सर्वश्रेष्ठ मणि अनेक-अनेक बार उसके खोजे जाने पर उसे किसी तरह भी प्राप्त होगा क्या ?
८९. उसी तरह सैकड़ों भव में भ्रमण करने से किसी तरह प्राप्त हुआ मनुष्य जन्म भी प्रमाद के वशीभूत जीव क्षण मात्र में खो देता है ।
९०. वे धन्य हैं जिन्होंने पुण्य किया और जो अपने हृदय में जिनधर्म को धारण करते हैं । लोक में उनका ही मनुष्यत्व सफल एवं प्रशंसनीय है ।
९१. इस उपदेश को सुनकर उस यक्षिणी ने सम्यक्त्व को स्वीकार किया । और कुमार ने गुरु के पास में गुरुतर मुनिधर्म ( चरित्र ) को ग्रहण किया ।
९२. कुमार ने स्थविरों के चरणों में चौदह पूर्वों का अध्ययन किया । दुष्कर तपश्चरण से युक्त वह माता-पिता के साथ विचरण करने लगता है ।
९३. कुमार, माता व पिता वे तीनों ही चरित्र का पालन कर महाशुक्र देवलोक के मन्दिर विमान में उत्पन्न हुए ।
९४. वह यक्षिणी भी वहाँ से चुत होकर वैशाली के भ्रमर राजा की सत्यशील को धारण करने वाली कमला नाम की भार्या हुई ।
९५. भ्रमर राजा और कमलादेवी दोनों ही जिन धर्म ग्रहण कर अन्त में शुभ अध्यवसाय से वहाँ ही (महाशुक्र स्वर्ग में) उत्तम देव हुए ।
९६. श्रेष्ठ नय/न्याय को प्राप्त मन्दिर वाला समस्त लोक में धन-धान्य से समृद्ध एवं सुप्रसिद्ध राजगृह नामक श्रेष्ठ नगर है ।
९७. वहाँ शत्रु रूपी हाथी के विनाश में सिंह की तरह महेन्द्रसिंह राजा था । जिसके नाम मात्र से युद्ध भूमि में करोड़ों योद्धा भग्न हो जाते हैं ।



९८. उसकी रूप सम्पन्न देवी के सदृश, विनय, विवेक, विचार आदि प्रमुख गुणों के आभूषणों से अलंकृत कूर्मादेवी पटरानी थी।
९९. विषयसुख को भोगते हुए उनके दिन सुख से बीत रहे थे। जैसे सुरेन्द्र एवं शक्ति के या कामदेव एवं रति के दिन बीतते हैं।
१००. किसी एक दिन वह देवी अपने शयन गृह में सोकर जागृत हुई। वह स्वप्न में आश्चर्ययुक्त देवभवन की रमणीयता को देखती है।
१०१. प्रातःकाल हो जाने पर वह देवी शय्या से उठकर राजा के पास आई और मधुर शब्दों के साथ कहती है—
१०२. 'आज मैं स्वप्न में देवभवन को देखकर जागृत हुई हूँ। इस स्वप्न का क्या विशेष फल होगा ?'
१०३. यह सुनकर रोमांचित शरीर वाला एवं हर्ष से संतुष्ट राजा अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रकार के वचनों को कहता है।
१०४. 'हे देवि ! तुम नौ माह साढ़े सात दिन पूर्ण होने पर अनेक लक्षणों एवं गुणों से युक्त संसार के नेत्र के समान पुत्र को प्राप्त करोगी।'
१०५. इस प्रकार के राजा के वचन को सुनकर संतुष्ट-हृदया एवं राजा के अनुग्रह को प्राप्त वह रानी अपने गृह को गयी।
१०६. उस विमान में कुमार का जीव देवता की आयु को पूराकर सुकृत पुण्यों से कूर्मा के गर्भ में तालाब में हंस की तरह अवतीर्ण हुआ।
१०७. जैसे रत्न से रत्न की खान और मुक्ता फल से सीपी सुशोभित होती है वैसे ही उस गर्भ से वह सौभाग्य को प्राप्त हुई।
१०८. गर्भ के अनुभाव से उसके शुभ पुण्योदय से सौभाग्य को सम्पन्न करने वाला आगम के श्रवण का दोहल उत्पन्न हुआ।
१०९. तब उस राजा ने छह दर्शन के ज्ञानियों को लोगों के द्वारा नगर के मध्म कूर्मा को धर्म श्रवण करवाने के लिए बुलवाया।
११०. स्नान, नित्य कर्म, कौतुक मंगल आदि विधि कर्म को पूरा कर और अपने शास्त्रों को लेकर वे धर्माचार्य राजभवन में पहुँचे।
१११. राजा के द्वारा सम्मान प्रदान किए गए वे धर्माचार्य आशीष प्रदान करके भद्र आसन पर बैठ कर अपने अपने धर्म को प्रकट करते हैं।
११२. किन्तु दूसरे मत/सम्प्रदाय वालों के हिंसा इत्यादि से युक्त धर्म को सुनकर जिनधर्म में अनुरक्त वह कूर्मा देवी अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुई।



## ७. अगडदत्तकथा<sup>❀</sup>

१. संसार में सुप्रसिद्ध, गुणसमृद्ध एवं श्रेष्ठ शंखपुर नाम का नगर था, जहाँ जनता में संतोष उत्पन्न करने वाला सुन्दर नाम का राजा राज्य करता था ।
२. उस राजा की कुल एवं रूप में समान, समस्त लोगों के नेत्रों में आनन्द उत्पन्न करने वाली तथा अन्तःपुर की प्रधान सुलसा नाम की श्रेष्ठ पत्नी थी ।
३. उस रानी की कुक्षि से उत्पन्न अगडदत्त नाम का एक पुत्र था । वह प्रतिदिन बढ़ता हुआ युवावस्था को प्राप्त हुआ ।
४. वह अगडदत्त धर्म, अर्थ और दया से रहित था, गुरु के वचन की अवहेलना करता था, झूठ बोलता था, दूसरों की स्त्रियों के साथ रमण करने की कामना करता था, निडर और अत्यन्त घमण्डी था ।
५. वह अगडदत्त शराब पीता था, जुआ खेलता या मांस और मधु (शहद) खाता था । इतना ही नहीं, वह नट, चेटक और वेश्याओं के साथ नगर के बीचों-बीच घूमा करता था ।
६. अन्य किसी एक दिन नगर के लोगों ने राजा से वह घटना इस प्रकार कही कि हे राजन् ! कुमार अगडदत्त के अशोभनीय कार्यों ने नगर में असमंजस उत्पन्न कर दिया है ।
७. नागरिकों के वचन को सुनकर अत्यन्त क्रोध के कारण जिसके नेत्र लाल हो गए हैं, ऐसे राजा ने भौंहों को टेढ़ा कर और सिर को डरावना बना कर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—
८. “अरे, उपस्थित सेवकों, अगडदत्त से जाकर कहो कि वह शीघ्र ही मेरे देश को छोड़कर अन्यत्र चला जाय । मैंने जो नहीं कहा है, उसे मत कहना ।”
९. अहंकार की अधिकता से जिसका क्रोध बढ़ गया है, ऐसा वह कुमार अगडदत्त उस वृत्तान्त को जानकर एक मात्र तलवार के सहारे अपने सुन्दर नगर को छोड़कर चल दिया ।

❀ अनुवादक—डॉ० राजाराम जैन, अगडदत्तचरियं, आरा ।

१०. वह अगडदत्त पर्वत, नदी, वन, नगर, गोष्ठ, ग्राम आदि को लाँघता हुआ अपने नगर से दूर वाराणसी नगरी में पहुँचा ।
११. झुण्ड से परिभ्रष्ट हाथी के समान चित्त में क्षुब्ध होकर वह अगडदत्त वाराणसी नगरी के बीचों-बीच तिराहों एवं चौराहों पर असहाय होकर घूमने लगा ।
१२. उसी समय उस राजपुत्र अगडदत्त ने नगर के रास्ते में घूमते हुए बहुत से युवकों के साथ एक जानकार (ज्ञानवान व्यक्ति) को देखा ।
- १३.-१४. वह जानकार शास्त्र, अर्थ आदि कलाओं में निपुण, विद्वान्, मनो-वैज्ञानिक, गम्भीर, परोपकार में लीन, दयालु तथा रूप एवं सुन्दर गुणों से युक्त पवनचण्ड नाम से प्रसिद्ध था । वह अपना नाम प्रति-पक्षियों-निवरोधियों के साथ सार्थक करता था न कि शिष्यों के साथ । वह राजकुमारों को रथ-संचालन, घोड़ों की चाल, हस्ति-संचालन और हाथियों को वश में करने की शिक्षा देता हुआ वहाँ रहता था ।
१५. वह अगडदत्त उस जानकार पवनचण्ड के समीप जाकर तथा उनके दोनों चरणों में प्रणाम कर वहाँ बैठ गया । उस जानकार ने इस प्रकार पूछा—“हे सुन्दर राजकुमार, तुम कहाँ से आये हो ?”
१६. उस कुमार अगडदत्त ने पवनचण्ड नामक उस जानकार से एकान्त में जाकर शंखपुर नगर से जिस प्रकार वह निकला था, वह सभी वृत्तान्त उसे कह दिया ।
१७. उस पवनचण्ड नामक जानकार ने अगडदत्त से कहा “हे सज्जन, तुम कलाओं को सीखते हुए यहीं रहो । लेकिन अपना यह गोपनीय वृत्तान्त किसी को भी प्रकट न करना ।”
१८. वह गुरु पवनचण्ड उठा और राजपुत्र अगडदत्त के साथ अपने घर पहुँचा । वहाँ उसने अपनी धर्मपत्नी से कहा—“यह मेरा भतीजा है ।”
१९. उस श्रेष्ठ कुमार को स्नान कराकर तथा उत्कृष्ट कोटि के वस्त्र आभूषण आदि देकर भोजनोपरान्त पवनचण्ड ने उस अगडदत्त से इस प्रकार कहा—
२०. “हे कुमार ! भवन, धन, रथ, घोड़े आदि जो भी मेरे समीप हैं, उन्हें तुम अपने अधीन समझो और उनका अपने हृदय की इच्छा के अनुसार ही उपभोग करो ।”

२१. इस प्रकार उस राजकुमार अगडदत्त ने संतुष्ट होकर सभी प्रकार के क्रूर कर्मों को छोड़ दिया और सभी कलाओं को सीखता हुआ उसी घर में रहने लगा ।
२२. गुरुजनों के प्रति अत्यधिक विनय गुण से युक्त चित्त वाले तथा सभी व्रक्तियों के मन को आनन्दित करने वाले उस राजकुमार ने अल्प-काल में ही बहत्तर प्रकार की कलाएँ सीख लीं ।
२३. इस प्रकार कलाओं का ज्ञाता वह कुमार अगडदत्त परिश्रम करते हुए तथा प्रतिदिन अत्यधिक तत्पर रहते हुए उस भवन के उद्यान में ही रहने लगा ।
२४. उस उद्यान के समीप ही उस नगर के प्रधान सेठ का घर था । उस अत्यधिक सुन्दर, उन्नत और विस्तृत भवन की खिड़की उसी उद्यान की ओर खुलती थी ।
२५. उस नगर सेठ की मदनमंजरी नाम की एक सुन्दर कन्या थी, जो प्रतिदिन अपने घर की छत पर बैठ कर उस कुमार अगडदत्त को देखा करती थी ।
२६. उस राजकुमार के प्रति प्रेम में आसक्त होकर वह मदनमंजरी एक-चित्त होकर उसकी ओर देखती हुई तथा उसी का ध्यान करती हुई वह उस पर फूल, फल, पत्ते और कंकड़ फेंका करती थी ।
२७. गुरु की आशंका से और विद्या ग्रहण करने के लोभ से, हृदय में स्थित होने पर भी उस कन्या मदनमंजरी की ओर वह राजकुमार अगडदत्त दृष्टि उठाकर देखता तक न था ।
२८. अन्य किसी दिन उस मदनमंजरी ने कामदेव के बाण के प्रसार से संतप्त होकर कलाओं को ग्रहण करने में संलग्न उस राजकुमार पर अशोक का एक गुच्छा फेंका ।
२९. राजकुमार अगडदत्त ने उसी दिन कंकलिल लता के पत्ते के समान काँपती हुई सुन्दर शरीर वाली तथा अत्यन्त लज्जा से युक्त उस मदनमंजरी को विशेष दृष्टि से देखा और सोचने लगा—
३०. “क्या यह कोई देवी है अथवा नाग कन्या ? क्या यह लक्ष्मी है अथवा प्रत्यक्ष ही सरस्वती आ गई है ?”
३१. “अतः मैं इससे पूछूँ कि यह यहाँ किस काम से बैठी है ?” यह सोचकर वह राजकुमार उससे स्पष्ट रूप से इस प्रकार पूछता है—

३२. “हे सुन्दर शरीर वाली श्रेष्ठ कन्ये, तुम कौन हो ? विद्या-ग्रहण करने में संलग्न हुए मुझ पर क्यों तुम अपने को प्रगट कर रही हो और मुझे विघ्न उपस्थित करती हो।”
३३. उस कुमार अगडदत्त के वचन सुनकर विकसित नेत्र वाली उस मदनमंजरी ने हँसते हुए मुख से अपने दाँतों की किरणों को प्रकट करते हुए इस प्रकार कहा—
३४. “मैं नगर के प्रधान सेठ बन्धुदत्त की कन्या हूँ, मेरा नाम मदनमंजरी है और मेरा विवाह भी इसी नगर में हुआ है।”
३५. “हे सुन्दर राजकुमार, कामदेव के समान सुन्दर तुम को जब से मैंने देखा है उसी दिन से मेरे हृदय में असन्तोष रूपी वृक्ष बढ़ रहा है।”
३६. “तथा मेरे नेत्रों की नींद समाप्त हो गयी है, देह में जलन हो रही है, भोजन भी रुचिकर नहीं लग रहा है तथा सिर में अत्यन्त वेदना हो रही है।”
३७. “तब तक ही सुख होता है, जब तक किसी को अपना प्रियतम न बनाया जाय। जिम्हने प्रियजन के साथ प्रेम कर लिया, वह स्वयं को अनेक दुःखों में डाल देता है।”
३८. “पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों से प्रेरित होकर कोई बेचारा व्यक्ति सुख-प्राप्ति की इच्छा रखता हुआ दुर्लभ व्यक्ति के अनुराग में पड़ जाता है।”
३९. “युवतियों के मन का हरण करने वाले हे राजकुमार! यदि तुम मेरे साथ समागम नहीं करते हो, तो मैं तुम्हारे सामने ही आत्म-हत्या कर लूँगी और तुम निश्चय ही जानोगे कि संसार में मैं जीवित नहीं हूँ।”
४०. उस बाला मदनमंजरी के वचनों को सुनकर वह अगडदत्त हृदय में इस प्रकार विचारने लगा—“काम रूपी भयंकर अग्नि में जले हुए अंगों वाली यह मदनमंजरी अब स्पष्ट और निश्चय ही मर जायगी।”
४१. “महाभारत और रामायण आदि शास्त्रों में यह स्पष्ट ही सुना जाता है कि कामुक व्यक्तियों के काम-वासना की दस अवस्थाएँ होती हैं।”

४२. “काम-वासना की पहली अवस्था चिन्ता उत्पन्न करती है, दूसरी अवस्था संगमसुख की अभिलाषा करती है और उसकी तीसरी अवस्था में दीर्घ और उष्ण निश्वास चलने लगती है।”
४३. “कामावस्था की चौथी अवस्था में ज्वर उत्पन्न होता है, पाँचवीं अवस्था में शरीर जलने लगता है और छठी अवस्था में कामीजनों के लिए भोजन रुचिकर नहीं लगता।”
४४. “कामावस्था की सातवीं अवस्था में यह जीव मूर्च्छित होने लगता है, आठवीं अवस्था में उसे उन्माद होने लगता है। जब यह जीव नवमी अवस्था में पहुँचता है, तो उसके प्राणों के बचने में भी सन्देह होने लगता है।”
४५. “जब कामी दसवीं अवस्था में पहुँचता है तो निश्चय ही वह जीवन त्याग कर देता है। अतः मेरे विरह में यह मदनमंजरी अपने प्राणों का त्याग कर देगी, इसमें संशय ही क्या है?”
४६. विचार करने में कुशल उस राजकुमार ने अपने हृदय में विचार कर, स्नेह से युक्त मधुर वाणी में उस बाला से इस प्रकार कहा—
४७. “हे सुन्दरी, सुन्दर आचरण वाले, एवं विपुल कीर्ति वाले सुन्दर नाम के राजा के प्रथम पुत्र (बड़े लड़के) “अगडदत्त” इस नाम से मुझे जानो।”
४८. “कलाओं के आचार्य के समीप कलाओं को ग्रहण करने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। जिस दिन मैं इन कलाओं को विशेष रूप से सीख लूँगा उसी दिन तुम्हें भी साथ लेकर जाऊँगा।”
४९. कामदेव के बाण के प्रसार से जर्जरित शरीर वाली उस मृगाक्षी मदनमंजरी को राजकुमार अगडदत्त ने जिस किसी प्रकार समझाकर आश्वासन दिया।
५०. वह राजकुमार अगडदत्त उस मदनमंजरी के गुण और रूप में आसक्त-चित्त होकर तथा उसके साथ रहने का विचार करता हुआ अपने निवास स्थान पर आया।
५१. अन्य किसी एक दिन वह राजकुमार अगडदत्त घोड़े पर सवार होकर मार्ग में जा रहा था कि उसी समय नगर में कोलाहल मच गया। वह सोचने लगा कि—

५२. “क्या समुद्र में आंधी और तूफान उठ गया है अथवा क्या भयंकर अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी है, अथवा क्या शत्रु की सेना ने आक्रमण कर दिया है अथवा क्या वज्रपात हो गया है ?”
५३. इसी बीच आश्चर्य चकित उस राजकुमार ने सहसा ही देखा कि एक मदीन्मत्त हाथी ने खम्भे के समान खूँटा तोड़ दिया है और पलान (आसन) गिरा दिया है।
५४. उस राजकुमार अगडदत्त ने महावत से रहित एवं सूँड़ की पहुँच तक की वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए, तथा अकारण ही यमराज के समान क्रोधित हाथी को सीधे मुख की ओर भागते हुए देखा।
५५. जिसने पैर में बाँधे गये रस्से को तोड़ दिया था तथा जिसने घर, बाजार, एवं मंदिरों को चूर-चूर कर दिया था, ऐसा वह प्रचण्ड हाथी, क्षणमात्र में ही उस कुमार अगडदत्त के समीप पहुँचा।
५६. उस असाधारण सौन्दर्य वाले कुमार अगडदत्त को देखकर नागरिकों ने गम्भीर स्वर से कहा—“हाथी के प्रहार से हटो, हटो।”
५७. कुमार ने भी निपुणतापूर्वक गति करने वाले अपने अश्व को छोड़कर इन्द्र के हाथी ऐरावत के समान उस हाथी को ललकारा।
५८. जिसके गण्डस्थल (माथे) से मजदल प्रवाहित हो रहा था, ऐसे यमराज के समान क्रुद्ध उस हाथी ने, कुमार अगडदत्त की ललकार को सुनकर तत्काल ही उसके ऊपर भयंकर प्रहार किया।
५९. निर्भीक एवं प्रसन्नचित्त उस राजकुमार अगडदत्त ने अपने दुपट्टे (चादर) को लपेट कर दौड़ते हुए उस हाथी की सूँड़ की ओर फेंका।
६०. वह हाथी गुस्से से धमधम करता हुआ जब लपेटी हुई उस गोल चादर पर दाँतों की टक्कर मारने लगा तभी उस राजकुमार ने भी हाथी की पीठ पर कठोर धूँसे का प्रहार किया।
६१. तत्काल ही वह हाथी उस राजकुमार अगडदत्त की मुष्टि के प्रहार से पीछे मुड़ा, दौड़ने लगा, चलने लगा, लड़खड़ाने लगा, पैतरे बदलने लगा, चक्के के समान घूमने लगा और क्रुद्ध होकर धमधम करने लगा।
६२. अत्यधिक समय तक उस श्रष्ट हाथी को थकाकर तथा उसे अपने वश में कर वह राजकुमार अगडदत्त उसके कन्धे पर सवार हो गया।

६३. इसके अनन्तर उस हाथी की मनोहर क्रीड़ाओं को समस्त नगर के लोगों तथा अन्तःपुर की रानियों के साथ राजा ने देखा ।
- ६४-६५. हाथी के कन्धे पर बैठे हुए देवों के समान सुन्दर उस राजकुमार को देखकर राजा ने अपने भृत्यों से पूछा—“सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान सौम्य, समस्त कलाओं और आगमों में कुशल, शास्त्रार्थ में निपुण, शूरवीर और सुन्दर यह गुणनिधि बालक कौन है ?”
६६. इसके अनन्तर नौकरों में से एक ने उत्तर दिया—“हे नरनाथ, कलाओं के आचार्य के मन्दिरों में मैंने इसे कलाओं के सीखने में परिश्रम करते हुए देखा है ।”
६७. इसके अनन्तर राजा ने हर्षित होकर कलाओं के आचार्य से पूछा—“श्रेष्ठ हाथियों की शिक्षा में अतिकुशल यह श्रेष्ठ पुरुष कौन है ?”
६८. तब कलाओं के आचार्य ने अभय-दान माँगकर अनेक लोगों से युक्त राजा को कुमार अगडदत्त का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया ।
६९. उसे सुनकर अपने हृदय में अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त उस राजा ने कुमार अगडदत्त को अपने पास लाने के लिए एक प्रतिहारी को भेजा ।
७०. उस प्रतिहारी ने हाथी के कन्धे पर बैठे हुए उस कुमार अगडदत्त से इस प्रकार कहा—“हे कुमार, नरनाथ आपको बुला रहे हैं । आप दरबार में चलें ।”
७१. इसके अनन्तर हाथी को खम्भे में बाँधकर, राजा की आज्ञा से आशंकित होता हुआ वह कुमार अगडदत्त नरनाथ के पास पहुँचा ।
७२. अत्यन्त विनय के साथ कुमार अगडदत्त राजा को पृथ्वी पर झुक कर तथा घुटने टेक कर प्रणाम भी नहीं कर पाया था कि राजा ने उसे अपने हृदय से लगा लिया ।
७३. पान, आसन, सम्मान, दान एवं पूजादि से अत्यधिक सम्मानित होकर कुमार अगडदत्त प्रसन्न हृदय से राजा के पास बैठ गया । इसके अनन्तर राजा ने सोचा, “यह तो निश्चय ही कोई उत्तम पुरुष है ।” क्योंकि—
७४. “उत्तम पुरुषों का मूल विनय है, व्यवसाय का मूल लक्ष्मी है, सुखों का मूल धर्म है और विनाश का मूल घमण्ड है ।”



७५. मयूरों के पंख को कौन चित्रित करता है ? राजहंसों की गति को कौन सुन्दर बनाता है ? कमल पुष्पों को कौन सुगन्धित करता है ? और उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्तियों को विनयशील कौन बनाता है ? और भी—
७६. धान अपने ही भार से झुक जाता है । मेघ जल के भार से झुक जाते हैं । वृक्ष के शिखर अपने फलों के भार से झुक जाते हैं, तथा सज्जन व्यक्ति अपने विनय गुण के कारण झुकते हैं । वे किसी के भय से नहीं झुकते हैं ।
७७. उसके बाद कुमार अगडदत्त की विनय से प्रसन्न होकर राजा ने उससे कुशल-समाचार पूछा । तत्पश्चात् उसने उससे कला सम्बन्धी बातें विस्तारपूर्वक पूछीं ।
७८. जब लज्जा के कारण कुमार अगडदत्त अपने गुण सम्बन्धी बातों को राजा से न कह सका तब उसके गुरु पवनचण्ड ने कहा—“हे प्रभु, यह समस्त कलाओं में निपुण है ।”



## ८. ज्ञाताधर्म कथा\*

### (क) दो कछुए (चतुर्थ अध्ययन)

- [१] श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बूस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—  
हे जम्बू ! उस काल और समय में वाराणसी (बनारस) नामक नगरी थी। यहाँ उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के नगर के समान कहना चाहिए।
- [२] उस वाराणसी नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में, गंगा नामक महानदी में मृतगंगातीर हृद नामक एक हृद था। उसके अनुक्रम से सुन्दर सुशोभित तट थे। उसका जल गहरा और शीतल था। वह हृद स्वच्छ एवं निर्मल जल से परिपूर्ण था। कमलिनियों के पत्तों और फूलों की पांखुडियों से आच्छादित था। बहुत से उत्पलों (नीले कमलों) पद्मों (लाल कमलों), कुमुदों (चन्द्रविकासी कमलों), नलिनों तथा सुभग, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र आदि कमलों से तथा केसर प्रधान अन्य पुष्पों से समृद्ध था। इस कारण वह आनन्दजनक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप था।
- [३] उस हृद में सैकड़ों, सहस्रों और लाखों मच्छों, कच्छों, ग्राहों, मगरों और सुंसुमार जाति के जलचर जीवों के समूह भय से रहित, उद्वेग से रहित सुख पूर्वक रमते-रमते विचरण करते थे।
- [४] उस मृतगंगातीर हृद के समीप एक बड़ा मालुका कच्छ था। पूर्व का वर्णन यहाँ कहना चाहिए। उस मालुका कच्छ में दो पापी शृगाल निवास करते थे। वे पापी, चंड (क्रोधी) रौद्र (भयंकर) इष्ट वस्तु को प्राप्त करने में दत्तचित्त और साहसी थे। उनके हाथ अर्थात् अगले पैर रक्तरजित रहते थे। वे मांस के अर्थी, मांसाहारी, मांसप्रिय एवं मांसलोलुप थे। मांस की गवेषणा करते हुए रात्रि और सन्ध्या के समय घूमते थे और दिन में छिपे रहते थे।
- [५] तत्पश्चात् मृतगंगातीर नामक हृद में से किसी समय, सूर्य के बहुत समय पहले अस्त हो जाने पर, संध्याकाल व्यतीत हो जाने पर, जब

\* अनुवादक—डॉ० हुकमचन्द जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

कोई विरले मनुष्य ही चलते-फिरते थे और सब मनुष्य अपने-अपने घरों में विश्राम कर रहे थे अथवा सब लोग चलने-फिरने से विरत हो चुके थे, तब आहार के अभिलाषी, दो कछुए निकले। वे मृतगंगातीर हृद के आसपास चारों ओर फिरते हुए अपनी आजीविका करते हुए विचरण करने लगे।

[६] तत्पश्चात् आहार के अर्थी यावत् आहार की गवेषणा करते हुए वे दोनों पापी शृगाल मालुकाकच्छ से बाहर निकले। निकल कर जहाँ मृतगंगातीर नामक हृद था, वहाँ आये। आकर उसी मृतगंगातीर हृद के पास इधर-उधर चारों ओर फिरने लगे और आजीविका करते हुए विचरण करने लगे।

[७] तत्पश्चात् उन पापी सियारों ने उन दो कछुओं को देखा। देखकर जहाँ दोनों कछुए थे, वहाँ आने के लिए प्रवृत्त हुए।

[८] तत्पश्चात् उन कछुओं ने उन पापी सियारों को आता देखा। देखकर वे डरे, त्रास को प्राप्त हुए, भागने लगे, उद्वेग को प्राप्त हुए और बहुत भयभीत हुए। उन्होंने अपने हाथ, पैर और ग्रीवा को अपने शरीर में गोपित कर लिया, छिपा लिया। गोपन करके निश्चल, निस्पंद (हलन-चलन से रहित) और मौन रह गये।

[९] तत्पश्चात् वे पापी सियार जहाँ वे कछुए थे, वहाँ आये। आकर उन कछुओं को सब तरफ से फिराने लगे, स्थानान्तरित करने लगे, सरकाने लगे, हटाने लगे, चलाने लगे, स्पर्श करने लगे, हिलाने लगे, धुब्ध करने लगे, नाखूनों से फाड़ने लगे और दाँतों से चीथने लगे, किन्तु उन कछुओं के शरीर को थोड़ी बाधा, अधिक बाधा या विशेष बाधा उत्पन्न करने में अथवा उनकी चमड़ी छेदने में समर्थ न हो सके।

[१०] तत्पश्चात् उन पापी सियारों ने इन कछुओं को दूसरी बार और तीसरी बार सब ओर से धूमाया-फिराया, किन्तु यावत् उनकी चमड़ी छेदने में समर्थ न हुए। तब वे श्रान्त हो गये—शरीर से थक गये, तान्त हो गये—मानसिक ग्लानि को प्राप्त हुए और शरीर तथा मन-दोनों से थक गये तथा खेद को प्राप्त हुए। धीमे-धीमे पीछे लौट गये। एकान्त में चले गये और निश्चल, निस्पंद तथा मूक होकर ठहर गये।

[११] उन दोनों में से एक कछुए ने उन पापी सियारों को बहुत समय पहले और दूर गया जान कर धीरे-धीरे अपना एक पैर बाहर निकाला । तत्पश्चात् उन पापी शृगालों ने देखा कि उस कछुए ने धीरे-धीरे एक पैर निकाला है । यह देख कर वे दोनों उत्कृष्ट गति से शीघ्र चपल, त्वरित, चंड, जय और वेगयुक्त रूप से जहाँ वह कछुआ था, वहाँ आये । आकर उन्होंने कछुए का वह पैर नाखूनों से विदारण किया और दाँतों से तोड़ा । तत्पश्चात् उसके मांस और रक्त का आहार किया । आहार करके वे कछुए को उलटपलट कर देखने लगे, किन्तु यावत् उसकी चमड़ी छेदने में समर्थ न हुए । तब वे दूसरी बार हट गये । इसी प्रकार क्रमशः चारों पैरों के विषय में कहना चाहिए । फिर उस कछुए ने ग्रीवा बाहर निकाली । उन पापी सियारों ने देखा कि कछुए ने ग्रीवा बाहर निकाली है । यह देख कर वे शीघ्र ही उसके समीप आये । उन्होंने नाखूनों से विदारण करके और दाँतों से तोड़ कर उसके कपाल को अलग कर दिया । अलग करके कछुए को जीवन-रहित कर दिया । जीवन रहित करके उसके मांस और रुधिर का आहार किया ।

[१२] इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणों ! हमारा जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी आचार्य या उपाध्याय के निकट दीक्षित होकर पांचों इन्द्रियों का गोपन नहीं करते हैं, वे इसी भव में बहुत साधुओं, साध्वियों, श्रावकों और श्राविकाओं द्वारा हीलना करने योग्य होते हैं और परलोक में भी बहुत दंड पाते हैं, यावत् अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं, जैसे अपनी इन्द्रियों का गोपन न करने वाला वह कछुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

[१३] तत्पश्चात् वे दोनों पापी सियार जहाँ दूसरा कछुआ था, वहाँ आये । आकर उस कछुए को चारों तरफ से, सब दिशाओं से उलट-पलट कर देखने लगे, यावत् दाँतों से तोड़ने लगे, परन्तु यावत् उसकी चमड़ी का छेदन करने में समर्थ न हो सके ।

[१४] तत्पश्चात् वे पापी सियार दूसरी बार और तीसरी बार दूर चले गये किन्तु कछुए ने अपने अंग बाहर न निकाले, अतः वे उस कछुए को कुछ भी आवाधा या विवाधा अर्थात् थोड़ी या बहुत पीड़ा न कर सके यावत् उसकी चमड़ी छेदने में भी समर्थ न हो सके । तब वे श्रान्त, तान्त और परितान्त होकर तथा खिन्न होकर जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में लौट गये ।

- [१५] तत्पश्चात् उस कछुए ने उन पापी सियारों को चिरकाल से गया और दूर गया जान कर धीरे-धीरे अपनी ग्रीवा बाहर निकाली। ग्रीवा निकाल कर सब दिशाओं का अवलोकन किया। अवलोकन करके एक साथ चारों पैर बाहर निकाले और उत्कृष्ट कूर्मगति से अर्थात् कछुए के योग्य अधिक से अधिक तेज चाल से दौड़ता-दौड़ता जहाँ मृत-गंगातीर नामक हृद था, वहाँ आ पहुँचा। वहाँ आकर मित्र ज्ञाति निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजन के साथ मिल गया।

### (ख) तुम्बक दृष्टान्त (छठा अध्ययन)

- [१] श्रीजम्बू स्वामी ने सुधर्मा से प्रश्न किया—“भगवन्! यदि श्रमण भगवान् महावीर यावत् सिद्धि को प्राप्त ने पाँचवे ज्ञाताध्ययन का यह अर्थ कहा है, तो हे भगवन्! छठे ज्ञाताध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर यावत् सिद्धि को प्राप्त ने क्या अर्थ कहा है?”

- [२] श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा—“हे जम्बू! उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। उस राजगृह नगर में श्रेणिक नामक राजा था। उस राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में ईशान कोण में गुणशील नामक चैत्य (उद्यान) था।

- [३] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से विचरते हुए, जहाँ राजगृह नगर था और जहाँ गुणशील चैत्य था, वहाँ पधारे। यथा योग्य अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। भगवान् को वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। श्रेणिक राजा भी निकला। भगवान् ने धर्म कहा। उसे सुनकर परिषद् वापिस चली गई।

- [४] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नाम अनगार न अधिक दूर और न अधिक समीप स्थान पर यावत् शुक्ल ध्यान में लीन होकर विचर रहे थे। उस समय, जिन्हें, श्रद्धा उत्पन्न हुई है ऐसे इन्द्रभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से इस प्रकार कहा—“भगवन्! किस प्रकार जीव शीघ्र ही गुरुता अथवा लघुता को प्राप्त होते हैं?”

- [५] ‘हे गौतम! यथानामक—कुछ भी नाम वाला, कोई पुरुष एक बड़े सूखे, छिद्ररहित और अखंडित तूँबे को दर्भ (ढाभा) से और कुश (दूब) से लपेटे और फिर मिट्टी के लेप से लीपे फिर धूप में रख दे।

सुख जाने पर दूसरी बार दर्भ और कुश से लपेटे और फिर मिट्टी के लेप से लीप दे। लीप कर धूप में सुख जाने पर तीसरी बार दर्भ और कुश से लपेटे और लपेट कर मिट्टी का लेप चढ़ा दे। इसी प्रकार, इसी उपाय से बीच-बीच में दर्भ और कुश से लपेटता जाय, बीच-बीच में लेप चढ़ाया जाय और बीच-बीच में सुखाता जाय, यावत् आठ मिट्टी के लेप उस तूँबे पर चढ़ावे। फिर उसे अथाह, जिसे तिरा न जा सके अपौरुषिक (जिसे पुरुष की ऊँचाई से नापा न जा सके) जल में डाल दिया जाय। तो निश्चय ही हे गौतम! वह तूँबा मिट्टी के आठ लेपों के कारण गुरुता को प्राप्त होकर भारी होकर तथा गुरु एवं भारी होकर ऊपर रहे हुए जल को लाँघ कर, नीचे धरती के तल भाग में स्थित हो जाता है।

[६] इसी प्रकार हे गौतम! जीव भी प्राणातिपात से यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य से अर्थात् अठारह पापस्थानकों के सेवन से क्रमशः आठ कर्म-प्रकृतियों का उपार्जन करते हैं। उन कर्मप्रकृतियों की गुरुता के कारण, भारीपन के कारण और गुरुता के भार के कारण, मृत्यु के समय मृत्यु को प्राप्त होकर, इस पृथ्वीतल को लाँघकर नीचे नरक तल में स्थित होते हैं। इस प्रकार हे गौतम! जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं।

[७] अब हे गौतम! उस तूँबे का पहला (ऊपर का) मिट्टी का लेप गीला हो जाय, गल जाय और परिशुद्धि (नष्ट) हो जाय तो वह तूँबा पृथ्वी तल से, कुछ ऊपर आकर ठहरता है, तदनन्तर दूसरा मृत्तिका-लेप हट जाय तो तूँबा कुछ और ऊपर आ जाता है। इस प्रकार इस उपाय से उन आठों मृत्तिका लेपों के गीले हो जाने पर यावत् हट जाने पर तूँबा बन्धन मुक्त होकर धरणीतल को लाँघ कर ऊपर जल की सतह पर स्थित हो जाता है।

[८] इसी प्रकार हे गौतम! प्राणातिपातविरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरमण से क्रमशः आठ कर्मप्रकृतियों को खपा कर आकाशतल की ओर उड़कर लोकाग्र भाग में स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार हे गौतम! जीव शीघ्र लघुत्व को पाते हैं।

[९] श्री मुधर्मास्वामी अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—“इस प्रकार हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने छोटे ज्ञाताध्ययन का यह अर्थ कहा है। वही मैं तुमसे कहता हूँ।”



## ६. उत्तराध्ययन सूत्र\*

### ( क ) विनय सूत्र ( प्रथम अध्ययन )

१. ( माता पितादि बाह्य एवं राग-द्वेष कषायादिक आभ्यन्तर ) संयोग से रहित, घरबारों के बन्धनों से मुक्त ( भिक्षा से निर्वाह करने वाले ) साधु का, विनय प्रकट करूँगा ( अतः सावधान होकर ) अनुक्रम से, मुझसे, सुनो ।
२. ( गुरु ) आज्ञा को स्वीकार करने वाला, गुरुजनों के समीप रहने वाला, इंगित और आकार से ( गुरु के भाव को ) समझने वाला, वह ( साधु ) विनीत कहलाता है ।
३. ( गुरु की ) आज्ञा को न मानने वाला, गुरु के समीप नहीं रहने वाला, ( उनके ) प्रतिकूल कार्य करने वाला, तत्त्वज्ञान से रहित ( अविवेकी ) वह ( साधु ) अविनीत कहलाता है ।
४. जैसे सड़े कानों वाली कुत्ती, सभी स्थानों से निकाली जाती है, उसी प्रकार दुष्ट स्वभाव वाला, गुरुजनों के विरुद्ध आचरण करने वाला वाचाल साधु सभी स्थानों से निकाला जाता है ।
५. ( जैसे ) सूअर चावल के कण्डे को छोड़कर विषा खाता है, इसी प्रकार मृग ( के समान अज्ञानी साधु भी ) सदाचार को त्याग कर दुःशील ( दुष्ट आचार ) में रत रहता है ।
६. ( सड़े कानों वाली ) कुत्ती और सूअर के दृष्टान्तों को सुनकर अपना ( ऐहिक और पारलौकिक ) हित चाहने वाला व्यक्ति ( अपनी ) आत्मा को विनय में स्थापित करे ।
७. इसलिए अविनय के दोषों को जानकर मोक्ष के अभिलाषी गुरु के लिए पुत्र के समान प्रिय साधु को विनय की आराधना करनी चाहिए, जिससे सदाचार की प्राप्ति हो ( ऐसा विनीत साधु ) कहीं से भी नहीं निकाला जाता है ।
८. ( साधु को चाहिए कि वह ) सदा अतिशय शान्त और वाचालता रहित कम बोलने वाला हो ( तथा ) आचार्यादि के समीप मोक्ष अर्थ

ॐ अनुवादक—डॉ० हुकमचन्द जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।

वाले आगमों को सीखे और निरर्थक ( मोक्ष से रहित ज्योतिष, वैद्यक तथा स्त्री कथा आदि ) का त्याग करे ।

९. ( यदि कभी गुरु कठोर वचनों से ) शिक्षा दे तो भी बुद्धिमान विनीत शिष्य को क्रोध नहीं करना चाहिए ( किन्तु ) क्षमा धारण करनी चाहिए । क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग एवं हास्य क्रीड़ा का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।
१०. ( साधु को क्रोधादि वश ) असत्य भाषण नहीं करना चाहिए और यथा समय शास्त्रादि का अध्ययन करके उसके बाद ( राग-द्वेष रहित होकर ) चिन्तन-मनन करें ।
११. यदि कभी (क्रोधादि वश) असत्य वचन मुख से निकल जाय तो उसे कभी भी छिपावे नहीं (किन्तु) किये हुए को किया है और नहीं किये हुए को, नहीं किया, इस प्रकार कहे अर्थात् किये हुए दोष को सरल भाव से स्वीकार कर ले ।
१२. (जैसे) अडियल घोड़ा बार-बार चाबुक की मार खाये बिना सवार की इच्छानुसार प्रवृत्ति नहीं करता । इसी प्रकार विनीत शिष्य को हर समय (गुरु को) कहने का अवसर नहीं देना चाहिए किन्तु जिस प्रकार अच्छी जाति का विनीत घोड़ा चाबुक देखते ही (सवार की इच्छानुसार) प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार विनीत शिष्य को गुरु के इंगित-कार समझ कर उनके मनोभाव के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए और पाप का सर्वथा परित्याग करना चाहिए ।
१३. (गुरु की) आज्ञा को न मानने वाले, कठोर वचन कहने वाले (तथा) दुष्ट आचार वाले (अविनीत) शिष्य शान्त स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं किन्तु गुरु के चित्त के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले और शीघ्र ही बिना विलम्ब गुरु के कार्य को करने वाले वे (विनीत शिष्य) निश्चय ही उग्र स्वभाव वाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं ।
१४. (विनीत शिष्य) बिना पूछे कुछ भी न बोले और पूछने पर असत्य न बोले (यदि कभी) क्रोध (उत्पन्न हो जाय तो उसका अशुभ फल सोचकर) उसे (असत्य) निष्फल कर दें तथा अप्रिय (लगने वाले गुरु के कठोर वचन) को भी (हितकारी जान कर) प्रिय समझें एवं धारण करें ।



१५. आत्मा (अर्थात् मन और इन्द्रियाँ) ही दमन करने योग्य है क्योंकि आत्मा (मन और इन्द्रियों का दमन) बड़ा कठिन है। आत्मा को दमन करने वाला इस लोक में और परलोक में सुखी होता है।
१६. (परवश होकर) दूसरों से वध और बन्धनों से दमन किये जाने की अपेक्षा मुझे (अपनी इच्छा से ही तप और संयम से) आत्मा का दमन करना श्रेष्ठ है।
१७. (विनीत शिष्य को चाहिए कि वह) प्रकट में अथवा एकान्त में वचन से और कार्य से कभी भी गुरु के विपरीत आचरण नहीं करे।
१८. (विनीत शिष्य) गुरु के पास में बराबर न बैठे और उनके आगे भी न बैठे और पीछे भी (अविनयपने से) न बैठे, न उनके घुटने से अपने घुटने का स्पर्श हो (तथा) शय्या पर (सोते हुए या बैठे हुए ही) वचन न सुने। किन्तु आसन के नीचे उतर कर उत्तर देवे।
१९. विनीत साधु पलाठी मार कर अथवा पक्षिपिंड करके न बैठे और गुरु के सामने पाँव पसार कर न बैठे।
२०. गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर (विनीत शिष्य को चाहिए कि वह) कभी भी चुपचाप बैठा न रहे, (किन्तु गुरु की) कृपा को चाहने वाला मोक्षार्थी साधु सदैव गुरु के समीप (विनय के साथ) उपस्थित होवे।

### (ख) रथनेमिप्रव्रज्या (बाइसवाँ अध्ययन)

१. शौर्यपुर (नामक) नगर में (चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि तथा सत्य शूरवीरता आदि) राज-लक्षणों से युक्त तथा महाऋद्धि वाले वसुदेव नाम के राजा थे।
२. उस (वसुदेव) के रोहिणी और देवकी (नाम की) दो पत्नियाँ थीं। उन दोनों के इष्ट (सभी को प्रिय लगने वाले) राम और केशव दो पुत्र थे।
३. (उसी) शौर्यपुर नगर में महाऋद्धि वाले राजा के लक्षणों से युक्त समुद्र विजय नामक राजा थे।
४. उस (समुद्रविजय) के शिवा नाम की पत्नी थी। उसके पुत्र महायशस्वी, परम जितेन्द्रिय, तीनों लोकों के नाथ भगवान् अरिष्टनेमि थे।

५. वे अरिष्टनेमि नामक कुमार लक्षण और स्वरों से संयुक्त एक हजार आठ शुभ लक्षणों को धारण करने वाले गौतम-गोत्रीय और कृष्ण कान्ति वाले थे ।
६. वे (अरिष्टनेमि कुमार) वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन वाले, समचतुरस्र-संस्थान वाले और मछली के उदर के समान सुन्दर उदर वाले थे । श्री कृष्ण वासुदेव ने अरिष्टनेमि कुमार की भार्या बनाने के लिए उग्रसेन राजा से उनकी कन्या राजमती की याचना की ।
७. वह उग्रसेन की श्रेष्ठ कन्या राजमती उत्तम आचार वाली, सुन्दर दृष्टि वाली, सभी शुभ लक्षणों से युक्त, विद्युत और सौदामिनी के समान प्रभा वाली थी ।
८. इसके बाद उस (राजमती) के पिता (राजा उग्रसेन) ने महाऋद्धि वाले श्री कृष्ण वासुदेव से कहा कि यदि अरिष्टनेमि कुमार यहाँ पधारें तो मैं उन्हें अपनी कन्या दूँ (अर्थात् यदि अरिष्टनेमि कुमार बरात सजा कर यहाँ पधारें तो मैं अपनी कन्या राजमती का उनके साथ विधि-पूर्वक विवाह कर सकता हूँ । )
९. (अरिष्टनेमि) को सभी औषधियों से (मिश्रित जल द्वारा) स्नान कराया गया, कौतुक मंगल किये गये, दिव्य वस्त्र युगल पहनाया गया और आभूषणों से विभूषित किया गया ।
१०. जिस प्रकार सिर पर चूड़ामणी (शोभित होती है) उसी प्रकार कृष्ण वासुदेव के मदनमत सबसे प्रधान गन्ध हस्ति पर चढ़े हुए अरिष्टनेमि कुमार अत्यधिक शोभित होने लगे ।
११. इसके पश्चात् सिर पर किये जाने वाले छत्र और (दोनों ओर ढुलाये जाने वाले) चँवर और दशाद्धिचक्र से (समुद्र विजय आदि दश यादवों के परिवार से) चारों ओर से घिरे हुए वह नेमिकुमार (अत्यधिक) शोभित होने लगे ।
१२. यथाक्रम से सज्जित (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल रूप) चतुरंगिणी सेना से तथा मृदंग, ढोल आदि वाद्यों के शब्द आकाश को गुंजित करने लगे ।
१३. इस प्रकार की उत्तम ऋद्धि और कान्ति से सम्पन्न, यादवों में प्रधान वे अरिष्टनेमि कुमार अपने भवन से निकले ।

१४. इस प्रकार भवन से निकलते हुए (और क्रमशः आगे बढ़ते हुए विवाह मंडप के निकट पहुँचने पर) वह (अरिष्टनेमि कुमार) मृत्यु के भय से भयभीत बने हुए बाड़ों में रोके हुए दुःखित और पिंजरों में (पक्षियों को) देखकर (विचार करने लगे) ।
१५. जीवन के अन्त को प्राप्त हुए मांस के लिए खाये जाने वाले (अर्थात् मांस भोजी बरातियों के लिए मारे जाने वाले प्राणियों को) देखकर अतिशय प्रज्ञावान वह (अरिष्टनेमि कुमार) सारथि से इस प्रकार पूछने लगे—
१६. 'ये (बिचारे) गरीब, सुख को चाहने वाले, सभी प्राणी किस लिए बाड़ों में और पिंजरों में रोके हुए हैं ?'
१७. इसके बाद (भगवान् अरिष्टनेमि के प्रश्न को सुनकर) सारथि कहने लगा (कि हे भगवान्) इन सभी भद्र एवं निर्दोष प्राणियों को आपके विवाह में आये हुए बहुत से (मांस-भोजी मनुष्यों को) भोजन कराने के लिए (यहाँ बन्द कर रखा है ।)
१८. बहुत से प्राणियों के विनाश वाले उस (सारथि) के वचन को सुनकर जीवों के विषय में कष्टना से युक्त होकर वे (महा प्रज्ञावान् भगवान् नेमिनाथ) विचार करने लगे ।
१९. 'यदि मेरे कारण ये बहुत से जीव मारे जायेंगे तो यह कार्य मेरे लिए कल्याणकारी नहीं होगा ।'
२०. महायशस्वी (भगवान् नेमि) ने कुण्डलों की जोड़ी, कन्दोरा तथा सभी आभूषण सारथि को प्रदान किये ।
२१. (मरते हुए) प्राणियों पर अनुकम्पा करके उन्हें बन्धन से मुक्त करवाकर तथा सारथि को पुरस्कृत कर भगवान् नेमिनाथ द्वारका में लौट आये । तत्पश्चात् उन्होंने दीक्षा अंगीकार करने के लिये (मन में) विचार किया तब उनका निष्क्रमण (दीक्षा महोत्सव) करने के लिए यथोचित समय पर सभी प्रकार की ऋद्धि से युक्त और परिषद् सहित लोकान्तिक आदि देव मनुष्य लोक में आये ।
२२. इसके बाद देव और मनुष्यों से घिरे हुए भगवान् देव निर्मित उत्तम पालकी पर आरूढ़ होकर द्वारकापुरी से निकल कर रेवतक (पर्वत) पर पधारे ।
२३. इसके पश्चात् (सहस्रभुवन नामक) उद्यान में पधारे और उत्तम शिविका से नीचे उतरे तत्पश्चात् चित्रा नक्षत्र (के चन्द्रमा के साथ

- योग मिलने पर) एक हजार पुरुषों से परिवृत्त होकर दीक्षा अंगीकार की ।
२४. इसके पश्चात् समाधिवान भगवान् अरिष्टनेमि ने सुगन्ध से सुवासित कोमल और आकंचित केशों का स्वयमेव शीघ्र ही पंचमुष्टि लोच कर डाला ।
२५. वासुदेव और बलराम (समुद्रविजय आदि) केशों का लोच किये हुए जितेन्द्रिय अरिष्टनेमि को कहने लगे कि हे दमीश्वर, शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति रूप इच्छित मनोरथ को प्राप्त करो ।
२६. (वासुदेव आदि फिर कहने लगे कि) ज्ञान से, दान से, चरित्र से और तप से तथा क्षमा से और निर्लोभता से वृद्धिवन्त हो (अर्थात् आप ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, क्षमा निर्लोभता आदि गुणों की वृद्धि करें । )
२७. इस प्रकार वे (बलराम और श्रीकृष्ण) दशार्ह प्रमुख यादव और बहुत से मनुष्य अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारका नगरी में लौट आये । और भगवान् भी अन्यत्र विहार कर गये ।
२८. वह राजकन्या ( राजमती ) जिनेन्द्र भगवान् की दीक्षा को सुनकर हास्य रहित और आनन्द से रहित होकर शोक से व्याप्त हो गई ।
२९. राजमती विचार करने लगी कि मेरे जीवन को धिक्कार है जो मैं उन ( नेमिनाथ ) के द्वारा त्याग दी गई हूँ । ( अब तो ) मेरे लिए दीक्षा लेना ही श्रेष्ठ है ।
३०. इसके बाद धैर्यवाली संयम के लिए उद्यत हुई उस राजमती ने भ्रमर सरीखे काले, कुर्च और कंधी से संवारे हुए केशों का स्वयमेव लोच कर डाला ।
३१. श्री कृष्ण वासुदेव और ( बलदेव तथा समुद्र विजय आदि ) लोच किये केशों वाली, जितेन्द्रिय उस राजमती को कहने लगे कि 'हे कन्ये ! तू बहुत शीघ्र ही इस घोर संसार सागर को पार कर ( मोक्ष प्राप्त कर । )'
३२. शीलवती, बहुश्रुत, उस राजमती ने दीक्षित होकर द्वारकापुरी में बहुत से स्वजन और परिजन की स्त्रियों को दीक्षा दी ।
३३. ( जिन्हें राजमती ने दीक्षा दी थी उन सभी साध्वियों को साथ लेकर रैवतकगिरि पर विराजमान भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने चली )

रैवतक पर्वत पर जाती हुई वह बीच रास्ते में ही वर्षा से भीग गई और उस घनघोर वर्षा के कारण साथ वाली दूसरी साध्वियाँ इधर-उधर बिखर गईं तब वह राजमती वर्षा के होते हुए अंधकार युक्त एक गुफा में जाकर ठहर गई ।

३४. ( भीगे हुए ) कपड़ों को सुखाती हुई ( वह राजमती ) यथा-जात ( जन्म के समय बच्चा जैसा निर्वस्त्र होता है वैसी ) निर्वस्त्र हो गई । उसे निर्वस्त्र देखकर ( उस गुफा में पहले से ध्यानस्थ बैठे हुए ) रथनेमि मुनि का चित्त विचलित हो गया । गुफा में प्रवेश करते समय अन्धकार के कारण राजमती को रथनेमि दिखाई नहीं दिया, किन्तु पीछे राजमती ने भी उसे देखा ।
३५. वहाँ एकान्त स्थान में उस संयम से युक्त रथनेमि को देखकर वह राजमती अत्यन्त भयभीत हुई ( इसलिए ) दोनों भुजाओं से अपने अंगों को ढँककर काँपती हुई बैठ गई ।
३६. इसके बाद समुद्र विजय का वह राजपुत्र रथनेमि राजमती को डरी हुई और काँपती हुई देखकर इस प्रकार के वचन कहने लगा—
३७. 'हे भद्रे ! हे कल्याणकारिणी ! हे सुन्दर रूपवाली ! हे मनोहर बोलने वाली । हे श्रेष्ठ शरीर वाली ! मैं रथनेमि हूँ । तू मुझे सेवन कर । तूझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होगी । ( अर्थात् हे सुन्दरी ! तू निर्भय होकर मेरे समागम में आ । तूझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा । )
३८. निश्चय ही मनुष्य जन्म का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । इसलिए हे भद्रे ! इधर आओ हम दोनों भोगों का उपयोग करें । फिर भुक्त-भोगी होकर बाद में ( अपन दोनों ) जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग का अनुसरण करेंगे ।
३९. संयम में हतोत्साह बने हुए और स्त्री परीषह से पराजित उस रथनेमि को देखकर भय रहित बनी हुई राजमती ने उस समय गुफा में अपने ( शरीर ) को वस्त्र से ढक लिया ।
४०. इसके बाद नियम और व्रतों में भली-भाँति स्थित वह राजकन्या राजमती जाति कुल तथा शील की रक्षा करती हुई उस ( रथनेमि ) को इस प्रकार कहने लगी—
४१. 'यदि तू रूप में वैश्रमण देव के समान हो और लीला-विलास में नल कुबेर के समान हो । अधिक तो क्या यदि साक्षात् इन्द्र भी हो तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती ।'

४२. 'हे अपयश के इच्छुक ! तुझे धिक्कार हो, जो तू असंयम जीवन के लिए वमन किये हुए को पुनः पीना चाहता है। इसकी अपेक्षा तो ( तेरे लिए मर जाना श्रेष्ठ है ) क्योंकि संयम धारण करके असंयम में आना निन्दनीय है ऐसे असंयमपूर्ण और पतित जीवन की अपेक्षा तो संयमावस्था में ही मृत्यु हो जाना अच्छा है ।
४३. मैं राजमती भोजराज ( उग्रसेन की पुत्री हूँ ) और तू अन्धकवृष्णि है। गन्धक कूल में ( उत्पन्न हुए सर्प के समान ) मत हो और मन को स्थिर रखकर संयम का भली प्रकार पालन कर ।
४४. हे रथनेमि ! तुम जिन जिन स्त्रियों को देखोगे और यदि उन उन पर बुरे भाव करोगे तो वायु से प्रेरित हृड नामक वनस्पति की भाँति अस्थिर आत्मा वाले हो जाओगे ।
४५. जिस प्रकार ग्वाल या भंडारी उस द्रव्य का स्वामी नहीं है। इसी प्रकार तू भी श्रमणपन का अनीश्वर हो जायेगा ।
४६. वह रथनेमी उस संयमवती साध्वी के सुभाषित वचनों को सुनकर धर्म में स्थिर हो गया । जैसे अंकुश से हाथी वश में हो जाता है ।
४७. मन गुप्त, वचन गुप्त, काय गुप्त, जितेन्द्रिय और व्रतों में दृढ़ एवं निश्चल होकर ( उस रथनेमि ने ) जीवन पर्यन्त साधु धर्म का पालन किया ।
४८. उग्र तप का सेवन करके राजमती और रथनेमि दोनों ही केवली हो गये । ( तत्पश्चात् ) सभी कर्मों का क्षय करके सबसे प्रधान सिद्ध गति को प्राप्त हुए ।
४९. तत्त्वज्ञ पंडित विचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं । ( अर्थात् ) भोगों से निवृत्त हो जाते हैं जैसे वह पुरुषों में उत्तम रथनेमि ( भोगों से निवृत्त हो गया अर्थात् जो विवेकी होते हैं वे विषय भोगों के दोषों को जानकर रथनेमी के समान भोगों का परित्याग कर देते हैं ) ऐसा मैं कहता हूँ ।



## १०. वसुनन्दि श्रावकाचारः

### घृतक्रीड़ा-दोष वर्णन

६०. जूआ खेलने वाले पुरुष के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होते हैं, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है।
६१. उस पाप के कारण यह जीवन जन्म, जरा, मरणरूपी तरंगों वाले, दुःखरूप सलिल से भरे हुए और चतुर्गति-गमनरूपी आवर्तों (भंवरो) से संयुक्त ऐसे संसार-समुद्र में परिभ्रमण करता है।
६२. उस संसार में जूआ खेलने के फल से यह जीवन शरण-रहित होकर छेदन, भेदन कर्तन आदि के अनन्त दुःख को पाता है।
६३. जूआ खेलने से अन्धा हुआ मनुष्य इष्ट मित्र को कुछ नहीं गिनता है, न गुरु को, न माता को और न पिता को ही, कुछ समझता है, किन्तु स्वच्छन्द होकर पापमय बहुत से अकार्यों को करता है।
६४. जूआ खेलने वाला पुरुष स्वजन में, परजन में, स्वदेश में, परदेश में, सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है। जूआ खेलने वाले का विश्वास उसकी माता तक भी नहीं रहती है।
६५. इस लोक में अग्नि, विष, चोर और सर्प तो अल्प दुःख देते हैं, किन्तु जूआ का खेलना मनुष्य के हजारों लाखों भवों में दुःख को उत्पन्न करता है।
६६. आँखों से रहित मनुष्य यद्यपि देख नहीं सकता है, तथापि शेष इन्द्रियों से तो जानता है। परन्तु जूआ खेलने में अन्धा हुआ मनुष्य सम्पूर्ण इन्द्रियों वाला हो करके भी किसी के द्वारा कुछ नहीं जानता है।
६७. वह झूठी शपथ करता है, झूठ बोलता है, अति दुष्ट वचन कहता है, और क्रोधान्ध होकर पास में खड़ी हुई बहिन, माता और बालक को भी मारने लगता है।

ॐ अनुवादक—पं० हीरालाल शास्त्री, ब्यावर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

६८. जुआरी मनुष्य चिन्ता से न आहार करता है, न रात-दिन नींद लेता है, न कहीं पर किसी भी वस्तु से प्रेम करता है, किन्तु निरन्तर चिन्तातुर रहता है।
६९. जूआ खेलने में उक्त अनेक भयानक दोष जान करके दर्शन गुण को धारण करने वाले अर्थात् दर्शन प्रतिमायुक्त उत्तम पुरुष को जूआ का नित्य ही त्याग करना चाहिये।

### मद्यदोष वर्णन

७०. मद्य-पान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निन्दनीय कार्यों को करता है, और इसीलिए इस लोक तथा परलोक में अनन्त दुःखों को भोगता है।
७१. मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर बेसुध होकर रथ्यांगण (चौराहे) में गिर पड़ता है और इस प्रकार पड़े हुए उसके (लार बहते हुए) मुख को कुत्ते जीभ से चाटने लगते हैं।
७२. उसी दशा में कुत्ते उस पर उच्चार (टट्टी) और स्रवण (पेशाब) करते हैं। किन्तु वह मूढमति उसका स्वाद लेकर पड़े-पड़े ही पुनः कहता है कि सुरा (शराब) बहुत मीठी है, मुझे पीने को और दो।
७३. उस बेसुध पड़े हुए मद्यपायी के पास जो कुछ द्रव्य होता है, उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं। पुनः कुछ संज्ञा को प्राप्त कर अर्थात् कुछ होश में आकर गिरता-पड़ता इधर-उधर दौड़ने लगता है।
७४. और इस प्रकार बकता जाता है कि जिस बदमाश ने आज मेरा द्रव्य चुराया है और मुझे क्रुद्ध किया है, उसने यमराज को ही क्रुद्ध किया है, अब वह जीता बच कर कहाँ जायगा, मैं तलवार से उसका सिर काटूँगा।
७५. इस प्रकार कुपित वह गरजता हुआ अपने घर जाकर लकड़ी को लेकर लुब्ध हो सहसा भांडों (बर्तनों) को फोड़ने लगता है।
७६. वह अपने ही पुत्र को, बहिन को, और अन्य भी सबको-जिनको अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं समझता है, बलात् मारने लगता है और नहीं दोलने योग्य वचनों को बकता है।
७७. मद्य-पान के वश को प्राप्त हुआ वह इन उपर्युक्त कार्यों को, तथा और भी अनेक लज्जा-योग्य निर्लज्ज कार्यों को करके बहुत पाप का बंध करता है।



७८. उस पाप से वह जन्म, जरा और मरण रूप श्वापदों (सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवरों से) आकीर्ण अर्थात् भरे हुए संसार रूपी कान्तार (भयानक वन) में पड़कर अनन्त दुःख को पाता है ।
७९. इस तरह मद्यपान में अनेक प्रकार के दोषों को जान करके मन, वचन और कार्य, तथा कृत, कारित और अनुमोदना से उसका त्याग करना चाहिए ।

### मधुसेवन दोष-वर्णन

८०. मद्यपान के समान मधु-सेवन भी मनुष्य के अत्यधिक पाप को उत्पन्न करता है । अशुचि (मल-मूत्र वमनादिक) के समान निन्दनीय इस मधु का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ।
८१. भोजन के मध्य में पड़ी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुँह में रखे हुए ग्रास को थूक देता है तो आश्चर्य है कि वह मधुमक्खियों के अंडों के निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रस को अर्थात् मधु को निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है ।
८२. भो-भो लोगों, जिह्वेन्द्रिय-लुब्धक (लोलुपी) मनुष्य के आश्चर्य को देखों, कि लोग मक्खियों के रस स्वरूप इस मधु को कैसे पवित्र कहते हैं ।
८३. लोक में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो निर्दगी बारह गाँवों को जलाता है उससे भी अधिक पापी वह है जो मधु-मक्खियों के छत्ते को तोड़ता है ।
८४. इस प्रकार के पाप-बहुल मधु को जो नित्य चाटता है—वह नरक में जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । ऐसा जानकर मधु का त्याग करना चाहिए ।

### मांसदोष-वर्णन

८५. मांस अमेध्य अर्थात् विषटा के समान है, कृमि अर्थात् छोटे-छोटे कीड़ों के, समूह से भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, वीभत्स है और पैर से भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खाने के लिए योग्य कैसे हो सकता है ।

८६. मांस खाने से दर्प बढ़ता है, दर्प से वह शराब पीने की इच्छा करता है और इसी से वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार वह प्रायः ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषों को प्राप्त होता है।
८७. लौकिक शास्त्र में भी ऐसा वर्णन किया गया है कि गगनगामी अर्थात् आकाश में चलने वाले ब्राह्मण भी मांस के खाने से पृथ्वी पर गिर पड़े। इसलिए मांस का उपयोग नहीं करना चाहिए।

### चौर्य दोष-वर्णन

१०१. पराये द्रव्य को हरने वाला, अर्थात् चोरी करने वाला मनुष्य इस लोक और परलोक में असाता-बहुत, अर्थात् प्रचुर दुःखों से भरी हुई अनेकों यातनाओं को पाता है और कभी भी सुख को नहीं देखता है।
१०२. पराये धन को हर कर भय-भीत हुआ चोर थर-थर कांपता है और अपने घर को छोड़कर संतप्त होता हुआ वह उत्पथ अर्थात् कुमार्ग से इधर-उधर भागता फिरता है।
१०३. क्या किसी ने मुझे देखा है, अथवा नहीं देखा है, इस प्रकार धक्-धक् करते हुए हृदय से कभी वह चोर लुकता-छिपता है, कभी कहीं भागता है।
१०४. चोर अपने माता-पिता, गुरु, मित्र, स्वामी और तपस्वी को भी कुछ नहीं गिनता है, प्रत्युत् जो कुछ भी उनके पास होता है, उसे भी बलात् या छल से हर लेता है।
१०५. चोर लज्जा, अभिमान, यश और शील के विनाश को, आत्मा के विनाश को और परलोक के भय को नहीं गिनता हुआ चोरी करने का साहस करता है।
१०६. चोर को पराया द्रव्य हरते हुए देखकर आरक्षक (पहरेदार) आदिक रस्सियों से बाँधकर, मोरबन्ध से अर्थात् कमर की ओर हाथ बाँधकर पकड़ लेते हैं।
१०७. और फिर उसे टिटा अर्थात् जुआखाने या गलियों में घुमाते हैं। और गधे की पीठ पर चढ़ाकर 'यह चोर है' ऐसा लोगों के बीच में घोषित कर उसकी बदनामी करते हैं।
१०८. और भी जो कोई मनुष्य दूसरे का धन हरता है, वह इस प्रकार के फल को पाता है, ऐसा कहकर पुनः उसे तुरन्त नगर के बाहर ले जाते हैं।

१०९. वहाँ ले जाकर खलजन उसकी आँखें निकाल लेते हैं, अथवा हाथ-पैर काट डालते हैं, अथवा जीता हुआ ही उसे शूली पर चढ़ा देते हैं।
११०. इस प्रकार के इहलौकिक दुष्फलों को देखते हुए भी लोग चोरी से पराए धन को ग्रहण करते हैं और अपने हित को कुछ भी नहीं समझते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। हे भव्यो ! मोह के माहात्म्य को देखो।
१११. परलोक में भी चोर चतुर्गतिरूप संसार-सागर में निमग्न होता हुआ अनन्त दुःख को पाता है, इसलिए चोरी का त्याग करना चाहिए।



## ११. अशोक के अभिलेख\*

### प्रथम अभिलेख

१. यह धर्मलिपि देवताओं के प्रिय
२. प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखायी गयी। यहाँ
३. कोई जीव मारकर हवन न किया जाय।
४. और न समाज किया जाय। क्योंकि बहुत दोष।
५. समाज में देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा देखते हैं।
६. ऐसे भी एक प्रकार के समाज हैं, जो देवानां-
७. प्रिय-प्रियदर्शी राजा के मन में साधु हैं। पहले
८. देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई
९. लाख प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे।
१०. परन्तु आज जब यह धर्मलिपि लिखायी गयी, तीन ही प्राणी
११. सूप के लिए मारे जाते हैं—दो मोर और एक मृग। वह
१२. मृग भी निश्चित (रूप से) नहीं। ये भी तीन प्राणी पीछे (बाद में) नहीं मारे जायेंगे।

### द्वितीय अभिलेख

१. देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सर्वत्र
२. इसी प्रकार प्रत्यन्तों में, चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी,
३. तक दवनराज अन्तियोक, उस अन्तियोक के समीप जो—
४. राजा हैं, सर्वत्र देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की दो चिकित्साएँ व्यवस्थित हैं—
५. मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। मनुष्योपयोगी और पशुपयोगी जो औषधियाँ
६. जहाँ-जहाँ नहीं है (वे) सर्वत्र लायी गयीं और रोपी गयीं,
७. और मूल और फल जहाँ-जहाँ नहीं हैं (वे) सर्वत्र लाये गये हैं और रोपे गये हैं।
८. पशु और मनुष्यों के उपयोग के लिए पंथों में कुए खोदे गये हैं और वृक्ष रोपे गये हैं।

❀ अनुवादक—डॉ० प्रेम सुमन जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

### तृतीय अभिलेख

१. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—अभिषेक के बारह वर्ष (पश्चात्) मेरे द्वारा यह आज्ञा दी गयी ।
२. मेरे राज्य में सर्वत्र युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक पाँच-पाँच वर्ष पर दौरे पर जाय ।
३. इस कार्य के लिए, इस धर्मानुशिष्टि के लिए, चाहे (यथा) अन्य कार्य के लिए ।
४. माता-पिता की सेवा (करना) अच्छा (साधु) है । मित्र, परिचित, जाति, ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है ।
५. प्राणियों की अहिंसा अच्छी है । अल्प-व्ययता और अल्प-संग्रह अच्छा है ।
६. परिषदें युक्तों को हेतु (कारण) और अक्षरशः अर्थ (व्यंजन) के साथ (इन नियमों की) गणना करने के लिए आज्ञा देंगी ।

### चतुर्थ अभिलेख

१. बहुत सैकड़ों वर्षों का अन्तर बीत चुका । प्राणियों का वध, जीव-धारियों ।
२. के प्रति विशेष हिंसा, जाति के लोगों के साथ अनुचित व्यवहार (और) ब्राह्मण तथा श्रमणों के साथ अनुचित व्यवहार बढ़ता ही गया है । किन्तु आज देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मान्तरण से भेरी-घोष ।
३. (युद्ध-वाद्य) धर्मघोष (धर्म-प्रचार) हो गया है—विमान-दर्शन,
४. हस्तिदर्शन, अग्नि-स्कन्ध तथा अन्य दिव्य प्रदर्शनों को जनता को दिखाकर (इसी प्रकार) बहुत सैकड़ों वर्षों में जैसा ।
५. पहले कभी नहीं हुआ, वैसा आज देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्म-अनुशासन में—
६. प्राणियों का अवध, जीवधारियों के प्रति अहिंसा, जातियों के प्रति उचित व्यवहार, ब्राह्मण-श्रमणों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा और स्थविरो श्रेष्ठजनों की सेवा बढ़ी है ।
७. इस प्रकार आज बहुविध धर्माचरण की वृद्धि हुई है । देवानांप्रिय ।
८. प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और बढ़ायेंगे (ही) देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र,

९. इस धर्माचरण को बढ़ायेंगे और कल्पान्त तक धर्म और शील में स्थित रहते हुए धर्म का अनुशासन करेंगे ।
१०. क्योंकि जो धर्मानुशासन है वही श्रेष्ठ कार्य है । शील रहित (व्यक्ति) के धर्माचरण भी नहीं होता है । इसलिए इस अर्थ की
११. वृद्धि और लाभ साधु है । इसी अर्थ के लिए यह लिखवाया गया । इस अर्थ की वृद्धि में लोग लगें और हानि
१२. न चाहें । अभिषेक के १२वें वर्ष में देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के द्वारा यह लिखवाया गया ।

### पंचम अभिलेख

१. देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा । कल्याण (भलाई का काम करना) दुष्कर है । जो कल्याण का प्रारम्भ करता है, वह दुष्कर कार्य करता है ।
२. किन्तु मैंने बहुत से कल्याण के कार्य किये हैं । यदि मेरे पुत्र, पौत्र, और उनके बाद जो मेरी सन्तति (अपत्य) कल्पान्त तक (इसका) अनुसरण करेंगे (तो वह) मुकृत
३. (पुण्य) करेंगे । किन्तु जो इसका एक अंश भी नष्ट करेगा वह दुष्कृत (पाप) करेगा, क्योंकि पाप करना सरल है । बहुत समय बीता ।
४. भूतकाल में धर्ममहामात्र नाम (के अधिकारी) न थे । परन्तु राज्याभिषेक के तेरह वर्ष पश्चात् मेरे द्वारा धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये हैं । वे धर्म की स्थापना के लिए सब प्राखण्डों (धार्मिक सम्प्रदायों) में व्याप्त हैं ।
५. उन धर्मयुक्तों का जो यवन, कंबोज, गंधार, राष्ट्रिक, प्रतिष्ठानिक तथा अन्य अपरान्तों (पश्चिमी सीमा प्रान्तों) में भृतक तथा आर्य में
६. सुख के लिए धर्मयुक्तों की लोभ से मुक्ति के लिए नियुक्त हैं । बन्धन-बद्ध (कैदी) की सहायता के लिए
७. बच्चों वाले, टोना-जादू से आविष्ट तथा वृद्धों में वे व्याप्त हैं । पाटलिपुत्र में, बाहर के सब नगरों में, जो भी अन्य
८. मेरी जाति के सब लोग हैं (उन सबसे) सर्वत्र नियुक्त हैं । ये जो धर्ममहामात्र है (उनके लिए भी)—
९. ये धर्ममहामात्र है । इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखी गयी ।



## १२. कर्पूरमञ्जरी\*

### प्रथम जवनिकान्तर

सरस्वती का उत्कर्ष हो, व्यासादि कवियों को आनन्द की अनुभूति हो, भावकों को प्रिय लगने वाली अन्य कवियों की उत्कृष्ट वाणी का भी प्रसार हो। (कवियों की कृतियों में) वैदर्भी तथा मागधी (रीतियों) का तथा पाञ्चाली (रीति) का भी (स्वाभाविक) स्फुरण हो और जैसे चकोर ज्योत्स्ना का रसास्वाद करते हैं वैसे ही सहृदय भावक उक्त रीतियों का रसास्वाद करें। (१)

आप अनंग और रति को प्रेम-क्रीड़ा के प्रति नित्य नमन करें जिसमें आलिंगन जैसी भ्रान्त चेष्टायें नहीं हैं, जिसमें चूमने का दिखावा नहीं है और जिसमें (रति के प्रसंग में) स्थूल ताड़न इत्यादि भी नहीं हैं। (२)

**सूत्रधार**—अर्द्धचन्द्र से मण्डित, सम्मोह का नाश करने वाले तथा देवताओं के लिए प्रिय शिव और पार्वती का परस्पर मिलन आपको सुख दे। (३)

ईष्याविश कुपित पार्वती को प्रसन्न करने क्रम में आकाश-गंगा के जल से पूर्ण (मस्तकस्थित) चन्द्रकला-रूपी सीप से—जिसमें ज्योत्स्ना रूपी मोती जगमगा रहे हैं, शीघ्रतापूर्वक अनेक बार झुके हुए सिर पर हाथों की अंजलि बनाकर पार्वती के चरणकमलों पर अर्घ्य देते हुए रुद्र की जय हो। (४)

(घूमकर नेपथ्य की ओर देखकर) क्या पुनः हमारा नर्तक—समुदाय नृत्य में दत्तचित्त है? एक (नर्तकी) पात्रोचित परिधान का चुनाव कर रही है। दूसरी फूलों की माला गूँथ रही है। कोई मुखौटों को पसार रही है। कोई शिल पर (पीसकर) वर्णिका तैयार कर रही है। यह बाँसुरी का स्वर मिला दिया गया। यह वीणा का तार ठीक किया जा रहा है। ये तीन मृदंग ठीक किये जा रहे हैं। ये झाल और पखावज गूँज उठे। यह ध्रुवागीत प्रारम्भ हो गया। तो किसी परिजन को बुलाकर पूछें। (नेपथ्य की ओर घूमकर पुकारता है)

\* अनुवादक—डॉ० रामप्रकाश पोद्दार, कर्पूरमञ्जरी, वैशाली, पृ० १७१-१८३ ४

( प्रवेश करके )

**पारिपाश्विक**—आज्ञा हो, महाशय ।

**सूत्रधार**—क्या पुनः तुम लोग किसी नृत्य की तैयारी में हो ?

**पारिपाश्विक**—सट्टक का नृत्य प्रस्तुत करता है ।

**सूत्रधार**—कौन इसके कवि हैं ?

**पारिपाश्विक**—महाशय, बतलाइए तो “रजनीवल्लभशिखण्ड” किसे कहा जाता है और “रघुकुलचूडामणि” महेन्द्रपाल के कौन गुरु हैं ? ( ५ )

**सूत्रधार**—( विचारकर ) अच्छा तो प्रश्न के उत्तर में प्रश्न । ( प्रकाश ) राजशेखर ।

**पारिपाश्विक**—वे ही इसके कवि हैं ।

**सूत्रधार**—( कुछ याद करके ) काव्य के मर्मज्ञों ने कहा है—सट्टक उसे कहते हैं जो हूबहू नाटिका के अनुरूप हो । हाँ, इसमें केवल प्रवेशक और विष्कम्भक आदि नहीं होते हैं । ( ६ )

( सोचकर ) अच्छा तो संस्कृत को छोड़कर प्राकृत में रचना करने में कवि क्यों प्रवृत्त हुआ ?

**पारिपाश्विक**—उस सर्वभाषाचतुर कवि ने कहा ही है कि अर्थविशेष तो वे ही रहते हैं । परिवर्तित होते हुए भी शब्द तो वे ही हैं । काव्य तो उक्तिविशेष को कहते हैं—भाषा चाहे जो भी हो ( ७ )

**सूत्रधार**—तो क्या अपने विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा है ?

**पारिपाश्विक**—मुनिए, तत्कालीन कवियों में मृगांकलेखा के कथाकार अपराजित ने उनका वर्णन किया है । जैसे—बालकवि, कविराज और फिर निर्भरराज महेन्द्रपाल का उपाध्याय इस क्रम से जिसने महत्व को प्राप्त किया, वे ही श्री राजशेखर इसके कवि हैं, चन्द्रमा के प्रतिस्पर्धी जिनके गुण तीनों लोकों को प्रकाशित करते हैं और निष्कलंक हैं । ( ८-९ )

**सूत्रधार**—तो किसकी आज्ञा से इसका अभिनय कर रहे हो ।

**पारिपाश्विक**—राजशेखर कवि की गृहिणी चाह्वान कुल को विभूषित करवाना चाहती है । ( १० )

और भी



इस श्रेष्ठ सदृक में जो रस का स्रोत है, चण्डपाल जो धरती पर मानो चन्द्रमा है, चक्रवर्ती पद के निमित्त कुन्तल देश के अधिपति की पुत्री से विवाह करते हैं। (११)

अच्छा तो आइए, महाशय ! इसके अनन्तर जो करना है, वह करें। महाराज की देवी की भूमिका में आर्या आपकी भार्या परदे के पीछे खड़ी हैं।

( घूमकर दोनों चले जाते हैं )

। प्रस्तावना समाप्त ।

( इसके उपरान्त राजा, देवी, विदूषक विभवानुरूप सपरिवार प्रवेश करते हैं तथा यथोचित स्थान ग्रहण करते हैं । )

**राजा**—देवी, दक्षिणाधिपनरेन्द्रनंदिनी, इस वसन्तारम्भ में बधाई है।

युवतियाँ अब अपने बिम्बाधरो पर चिकनी ( मोम इत्यादि ) नहीं मलती हैं और न सुगन्धित तेल का प्रचुरता से प्रयोग कर वाणी की रचना ही करती हैं। वे चोलियाँ भी नहीं पहनती हैं और अपने मुखों पर कुंकुम का लेप देने में भी अत्यन्त ही शिथिल हैं। तो समझना चाहिए कि शिशिर को जीतकर बरबस वसन्तोत्सव आ धमका है। ( १२ )

**देवी**—मैं भी बधाई दूंगी।

शीतकाल बीत जाने पर अब, युवतियाँ अपने रत्न जैसे दाँतों को साफ करती हैं और थोड़ा-थोड़ा चंदन का भी प्रयोग प्रारम्भ कर देती हैं। अब स्त्री-पुरुष आंगन के मंडपों में सोते हैं और उनके पादांत में चादर सिमटी पड़ी रहती है। ( १३ )

( नेपथ्य में ) दोनों बैतालिकों में से एक—हे पूर्वदिशारूपी नायिका के प्रेमी आपकी जय हो। आप चम्पा के चम्पककर्णपूर हैं। आप राढ़ा के हर्षोल्लास हैं। विक्रम से आपने कामरूप को जीता है। आप हरिकेली के साथ क्रीड़ा करने वाले हैं। आपने कर्णसुवर्ण के दान को तुच्छ समझा है। सब तरह से यह वसन्तारम्भ आपके लिए रमणीय और सुखद हो।

पाण्ड्य देश की रमणियों के कपोलों को पुलकित करने वाली, कांची देश के मुग्धाओं के भी मान को खण्डित करने वाली, चोल देश की रमणियों की चोलियों और अलकों में

प्रेम-क्रीड़ा करने वाली, कर्णाटक की रमणियों के चिकुरजाल को आलोड़ित करने वाली और कुन्तल देश की रमणियों को प्रेमियों के साथ स्नेहबंधन में बाँधने वाली मलयपर्वत के शिखर के ऊपर से बहने वाली सिंघल देश की (दक्षिणी) हवा आ रही है। ( १४ )

(वहीं) दूसरा—कृकुम-पंक से महाराष्ट्री के कपोल की आभा चम्पक में आ गई है। थोड़े मथे हुए दूध जैसे छोटे-छोटे फूलों से मल्लिका लद गई है। किंशुक मूल में तो काला है और आगे इस पर भौरा बैठा है—ऐसा लगता है मानों भौरा इसे दोनों ओर से पी रहे हों। ( १५ )

**राजा**—प्रिय विभ्रमलेखा ! क्या मैंने तुझे बधाई दी और क्या तुमने मुझे। बधाई तो दी हम दोनों को कंचनचन्द्र और रत्नचन्द्र वंदियों ने। अच्छा तो घृष्ट कामिनियों में कामोन्माद उत्पन्न करने वाले, मलयानिल के मिस चन्दन के पेड़ पर चढ़ी लताओं रूपी नर्तकियों को नचाने वाले, कोयलों के कण्ठों से अच्छी तरह से पंचम स्वर उत्पन्न कराने वाले, क्रुद्ध कन्दर्प के कोदण्ड की तरह प्रचण्ड किन्तु वसुन्धरा-रूपी नायिका के स्नेहशील बंध वसंत-रूपी उत्सव को आँखें भरकर देखो।

**देवी**—सचमुच ही मलयानिल का बहना शुरू हो चुका है।

लंका के द्वारों पर लटकती हुई तोरणमाला को आलोड़ित करनेवाली, अगस्त्य के आश्रम में चन्दन पर चढ़ी लताओं को धीरे-धीरे आन्दोलित करने वाली, कर्पूर की लताओं से वास लेकर, अशोक के वृक्षों को कम्पित करने वाली और नागलता को उद्दाम नृत्य कराने वाली ताम्रपर्णी की तरंगों को बरबस चूम-चूमकर मधुमास की हवा बह रही है। ( १६ )  
और भी,

“मान छोड़ो, उत्सुक दृष्टियों को अपने प्रेमियों से मिलने दो, यह जवानी और यह स्तनों का उभार उस पाँच दिनों का कोयल की मीठी तान के बहाने कामदेव की यह आज्ञा वसंतोत्सव के क्रम में मानों लोक में प्रसारित की गई है। ( १७ )

**विदूषक**—जो भी हो, तुम सबों में काले अक्षरों को जानने वाला एक मैं ही हूँ। मेरे ससुर दूसरों के घर पुस्तकादि ले जाया करते थे।

**चेटी**—( हंसकर ) तब तो तुम्हारा पाण्डित्य व्रमागत है ।

**विदूषक**—( सक्रोध ) अरी दासी की पुत्री, भविष्यकुट्टणी, निर्लक्षणे, अविचक्षणे ! क्या मैं ऐसा मूर्ख हूँ, कि तुम भी मेरा उपहास करो । और भी, अरी परपुत्रविद्वालिनी, भ्रमरटेण्डे, टण्टाकराले, दुष्टसंघटिते अथवा हाथ-कंकण को आरसी क्या ?

**विचक्षणा**—ठीक है । घोड़े की चाल क्या किसी साक्षी से पूछी जाती है, आओ, वसन्त का वर्णन करो ।

**विदूषक**—क्यों पिंजरे की मैना की तरह कुर-कुर कर रही हो । कुछ जानती तो हो नहीं । प्रिय वयस्य और देवी के समक्ष पढ़ोगा । कहा भी है, कस्तूरी गाँव में या वन में तो नहीं बेची जाती, स्वर्ण की परख तो कसौटी पर ही होती है । ( पढ़ता है )

कमलदान चावल के भात जैसे शुभ्र फूलों के गुच्छों को धारण करने वाले सिधुवार के पेड़ मेरे अत्यन्त ही प्रिय हैं और वे विचकिल के छोटे-छोटे फूल भी जो विलोए हुए महिषी-दधि के समान होते हैं । ( १८ )

**विचक्षणा**—तुम्हारी वाणी से तो तुम्हारी प्रेयसी को ( ही ) रसानुभूति होगी ।

**विदूषक**—( सबों को रसानुभूति कराने वाली ) उदारवचना कुछ तुम भी पढ़ो ।

**देवी**—( मुस्कुराकर ) सखि विचक्षणा, हम लोगों के बीच तुम खूब कवित्व का दम भरती हो । आज आर्यपुत्र के समक्ष अपनी कविता पढ़ो । कहा भी है—वही काव्य है, जो सभा में सुनाया जाए, वही स्वर्ण है जो कसौटी पर खरा उतरे, वही गृहिणी है जो पति का रंजन करे ।

**विचक्षणा**—जो देवी की आज्ञा । ( पढ़ती है )

संभोगखिन्न सर्पिणियों के फूले हुए फणों से कवलित जो मलयानिल क्षीण होकर लंकागिरिमेखला से स्वलित हो गया था वह अब विरह्णियों के दीर्घ निःश्वास के सम्पर्क में आने से शैशव में ही अकस्मात् तारुण्यपूर्ण हो गया । ( १९ )

**राजा**—सचमुच विचक्षणा उक्त-चातुर्य में विचक्षणा है—तो किसी और वैचित्र्य की क्या आवश्यकता ? कवियों में सुकवि है । इसे "कविचूडामणि" कहना उचित होगा ।

**विदूषक—**(सक्रोध) तो सीधे क्यों नहीं कहा जाय अत्युत्तमा विचक्षणा है और अत्यधम कपिजंल ब्राह्मण, बस ।

**विचक्षणा—**आर्य कुपित न हों । आपका काव्य ही आपके कवित्व का राज खोलता है । क्योंकि अर्थ तो “निजकान्तारति” के कारण निन्दनीय है किन्तु आपकी वाणी सुकुमार है—जैसे किसी लम्बस्तनी के एकावली, तोंदवाली के चोली और कानी के काजल अच्छा नहीं लगता वैसे ही यह आपकी सुकुमार वाणी भी खूब अच्छी नहीं लगती है ।

**विदूषक—**अर्थ रमणीय होने पर भी तुम्हारी शब्दावली सुन्दर नहीं है । सोने के कटिसूत्र में लोहे को घटियाँ, उल्टे कपड़े पर तसर का कशीदा और किसी शूभ्रानना पर चन्दनचर्चा सुन्दर नहीं लगती है । फिर भी सराहना तो तुम्हारी (ही) होती है ।

**विचक्षणा—**आर्य, आपके साथ मेरी प्रतिस्पर्धा कैसी ? नाराच की तरह निरक्षर होने पर भी आप रत्न तोलने के काम आते हैं और मैं लोह-तुलादंड की तरह साक्षर होने पर भी स्वर्ण तोलने के काम भी नहीं आती हूँ ।

**विदूषक—**(सक्रोध) यदि तुम इस तरह बोलती हो तो मैं तेरे युधिष्ठिर के ज्येष्ठ भाई के नाम पर जो अंग है वह बायाँ और दाहिना दोनों झटपट उखाड़ लूँगा ।

**विचक्षणा—**तो मैं उत्तर फाल्गुनी के उपरान्त आने वाले नक्षत्र के नाम पर जो तुम्हारा अंग है वह तोड़ डालूँगी ।

**राजा—**वयस्य, यह कवित्व से ओत-प्रोत है ।

**विदूषक—**तो सीधे क्यों नहीं कहा जाता है कि आपकी यह चेटी हरिवृद्ध, नंदिवृद्ध, पोट्टिस और हाल आदि के समक्ष भी सुकवि है—उन्से बढ़कर है ।

**राजा—**ऐसा भी (कह सकते हो) ।

(विदूषक रूठ सा होकर क्रोधपूर्वक उठकर चल पड़ता है) ।

**विचक्षणा—**(हंसकर) महाराज, आप वहाँ जाइए जहाँ मेरी माँ की पहली साड़ी गई ।

**विदूषक—**(मुड़कर) तुम भी वहाँ जाओ, जहाँ मेरी माँ के दूध के दाँत गए । और भी, ऐसे राजकुल को दूर से नमस्कार है, जहाँ चेटी

ब्राह्मण से हाथ मिलाए, मदिरा और पंचगव्य एक ही पात्र में रक्खे जाँय, काँच और माणिक्य साथ-ही-साथ आभरण में प्रयुक्त हों ।

**विचक्षणा**—इस राजकुल में उससे आपके कंठ को विभूषित किया जाए जो भगवान् त्रिलोचन का शिरोभूषण है। आपके मुख का सत्कार उससे किया जाए जिससे अशोक वृक्ष की दोहद पूरी होती है ।

**विदूषक**—अरी दासी की पुत्री, जुआ घरों की शेरनी सैकड़ों पुरुषों के सर्वस्व का स्वाहा करने वाली, रास्ते की कुतिया, मुझे ऐसा कहती हो। अच्छा तो मुझ महाब्राह्मण के वचन से तुम्हें वह प्राप्त हो जो फाल्गुन मास में सोहजन को लोगों से प्राप्त होता है और जो पामरों से पडुए बैल को प्राप्त होता है ।

**विचक्षणा**—अरे पादलग्न नूपुर की तरह व्यर्थ प्रलापी मैं पैरों की ठोकर से तेरे मुख को चूरती ही रहूँगी । और भी, उत्तराषाढ़ के उपरान्त आने वाले नक्षत्र के नाम पर जो दोनों अंग हैं, उन्हें उखाड़ फेंकूँगी ।

**विदूषक**—(रूष्ट होकर चलते हुए, परदे के पीछे जाकर, कुछ उच्च स्वर में) इस तरह के राजकुल को दूर से प्रणाम है, जहाँ दासी ब्राह्मण से हाथ मिलाए । तो आज से अपनी वसुन्धरा नामक ब्राह्मणी के चरणों की परिचर्या करते हुए घर पर ही रहूँगा ।  
(सभी हंसते हैं)

**देवी**—आर्य कपिन्जल के बिना गोष्ठी क्या ? आँखों में आँजन के बिना प्रसाधन क्या ?  
(नेपथ्य में)

**विदूषक**—मैं अब आने को नहीं । मेरे वयस्य ! और कोई दूसरा प्रिय वयस्य खोज लें । अथवा इसी दुष्ट दासी को लम्बी दाढ़ी, कनटोप और मुखौटे से सजाकर मेरे स्थान पर रख लें । मैं आप लोगों के लिए मर गया । आप सौ वर्ष जीयें ।

**राजा**—कपिन्जल के बिना हृदय को शान्ति कहाँ ?

**विचक्षणा**—आग्रह न करें । कपिन्जल ब्राह्मण अनुनय-कर्कश हैं । सलिल से सिक्त होने पर शन की गाँठ और भी दृढ़तर हो जाती है ।

**देवी**—(चारों ओर देखकर) पैरों से पेंग देकर झूले में झुलती हुई और गाती हुई गोपाल वधुओं पर सूर्य की आँखें लग जाती हैं जिससे कि उनका रथ इधर-उधर बहकता हुआ चलता है। इसीलिए दिन दीर्घ से दीर्घतर होते जाते हैं। (२०)  
(परदा हटाकर प्रवेश करते हुए)

**विदूषक**—आसन, आसन।

**राजा**—किसके लिए ?

**विदूषक**—भैरवानन्द द्वार पर खड़े हैं—विराजेंगे।

**राजा**—क्या वे जिनके विषय में लोग अत्यद्भुत सिद्धियों की चर्चा करते हैं ?

**विदूषक**—हाँ, वे ही।

**राजा**—अन्दर ले आओ।

(विदूषक बाहर जाता है और उसके साथ पुनः प्रवेश करता है)

**भैरवानन्द**—(कुछ मद्यपान की-सी चेष्टा करते हुए)

न मंत्र, न तंत्र और ज्ञान और गुरु की कृपा से ध्यान की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। हम लोग मदिरा पीते हैं, स्त्री-प्रसंग भी करते हैं और इस कौलों के धर्मानुसार चलते हुए मोक्ष भी प्राप्त करते हैं (२१)

और भी,

कोई विधवा हो अथवा कोई अन्य प्रगल्भ रमणी तांत्रिक दीक्षा में दीक्षित हो जाने पर वह धर्मपत्नी ही है। खाने-पीने को मांस और मदिरा है—और ये सब भिक्षा के द्वारा उपलब्ध हो जाते हैं। सोने को चर्मखण्ड है। ऐसा कौलों का यह धर्म किसे अच्छा नहीं लगेगा ? (२२)

ब्रह्मा और विष्णु आदि देवता ध्यान, वेद पाठ एवं यज्ञ के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का उपदेश देते हैं, केवल एक उमा के प्रेमी ने मोक्ष को सुरत-केलि और सुरा-रस के अभिन्न पाया है (२३)

**राजा**—यह आसन है, भैरवानन्द ग्रहण करें।

**भैरवानन्द**—(बैठकर) क्या करना है ?

**राजा**—कुछ अद्भुत देखना चाहता हूँ।

**भैरवानन्द**—(अभी) चन्द्रमा को धरती पर उतार देता हूँ। सूर्य के रथ को आकाश के बीच में खड़ा कर देता हूँ। यक्ष, सुर और सिद्धों की कन्याओं को यहाँ ला देता हूँ। ऐसे कुछ भी नहीं है जो मेरे लिए साध्य न हो। तो बताइए क्या किया जाए ? (२४)

**राजा**—वयस्य, कहो कोई अपूर्व महिला-रत्न तुमने देखा है ?

**विदूषक**—इसी दक्षिणापथ में “वच्छोम” नामक नगर है। वहीं मैंने एक कन्यारत्न देखा। उसे यहाँ लाया जाये।

**भैरवानन्द**—अभी आया।

**राजा**—पूर्णचन्द्र को धरती पर लाया जाए।

(भैरवानन्द ध्यान का नाट्य करते हैं, परदा हटाकर नायिका प्रवेश करती है। सभी देखते हैं)

**राजा**—अरे, आश्चर्य, महान् आश्चर्य।

चूँकि आँखों के आँजन धुले हैं और उनमें लाल-लाल रेखाएँ उभर आयीं हैं, कई लट्टें उसके मुख से चिपकी हैं और अपने केशकलाप को उसने हाथों में संभाल रक्खा है और इनसे (अभी भी) जल की बूँदे टपक रही हैं, इसने एक ही वस्त्र पहन रक्खा है, इससे ऐसा जान पड़ता है कि स्नान-क्रीड़ा में लगी इस अद्भूत सुन्दरी को हठात् इस योगीश्वर के द्वारा यहाँ लाया गया है। (२५)

और भी

एक पाणिपंकज से यह अपने पीन पयोधरों से खिसकते हुए आँचल को संभाल रही है और दूसरे से लीलापूर्वक चलने के कारण श्रोणी पर से खिसके हुए कटिक्वत्र को। इस रूप में भला यह किसके हृदयपट पर चित्रित नहीं हो जाएगी। (२६)

स्नान करने के क्रम में इसने अपने सभी आभरण उतार दिए हैं। और जल क्रीड़ा में इसके कुंकुमादि विलेपन भी धुल गए हैं। फिर भी गीले वस्त्र से झाँक-झाँक कर इसके धृष्ट स्तन घोषणा कर रहे हैं कि यह (युवती) सौन्दर्य का सर्वस्व है। (२७)

**नायिका**—(सबों को देखकर, स्वगत) इनकी गम्भीर और मधुर आकृति

से ऐसा लगता है कि ये कोई महाराज हैं। ये इनकी महादेवी जान पड़ती है। अर्द्धनारीश्वर के वामार्द्ध में गौरी हैं। इसे कहने की क्या आवश्यकता ? ये योगीश्वर हैं। ये परिजन हैं (सोचकर) महिला-सहित होने पर भी ये (महाराज) प्रेमभरी दृष्टि से मुझे देख रहे हैं। (राजा के ऊपर तिरछी चितवन डालती हैं)

**राजा—**(विदूषक के प्रति, जनान्तिक)

कानों के पार्श्व से जब कटाक्ष की चपला कौंध गई तब (नेत्र की) शोभा ऐसी थी मानों केतक का दल जिसके अग्रभाग पर भौरा बैठा हो। मैं तो मानों कर्पूर के रस से लिप-पुत गया, ज्योत्स्ना से सरावोर हो गया और मोतियों के कणों की आँधी में पड़ गया। (२८) (विदूषक से उसी तरह)

त्रिवली से युक्त मध्यभाग को तो मानों जिज्ञा भी अपनी मुट्ठी में ले लें किन्तु पृथुल श्रोणी को तो (मेरे लिए भी) दोनों बाह्रों में वेष्टित कर पाना मुश्किल है। नेत्र तो तरुणों की तलहत्थी में भी बड़े हैं। इसे जो मेरे समक्ष प्रत्यक्ष है, हृदय पर अंकित नहीं किया जा सकता है—इसका सौन्दर्य कल्पनातीत है। (२९)

स्नान के क्रम में विलेपनादि के धुल जाने पर भी आभूषणों के उतार दिए जाने पर भी इतनी रमणीयता !

अथवा

जो रूप से हीन हैं वे ही विभूषण धारण करते हैं—उनकी सुन्दरता अलंकारों से है। किन्तु जो प्रकृतितः सुन्दर हैं उनके सौन्दर्य में आभूषणों से भला क्या निखार आएगा। (३०)

इस (युवती) के विषय में तो ऐसा अवश्य ही है। क्योंकि, इसकी कान्ति नये और असली सोने जैसी है। लम्बी आँखें कानों तक चली गई हैं। दोनों कपोल मानों चन्द्रमा के दो टुकड़े हैं, कामदेव धनुष पर बाण चढ़ाकर इसकी रक्षा करते हैं, तभी तो शोषण, मोहनादि उसके बाण मुझे चुभ रहे हैं। (३१)

**विदूषक—**(हंसकर) समझ गया, तुम्हारे पौरुष ने घुटने टेक दिए।



**राजा**—(हंसकर) प्रिय वयस्य सुनो ।

कामिनियों के अंग तो अपने (प्राकृतिक) गुणों से ही सुन्दर लगते हैं । साजसज्जा तो अंगों के सौष्ठव पर परदा ही डाल देती है । जिसके अवयवों पर सौन्दर्य की मुद्रा पड़ी है, कामदेव उसके इंगित पर अपने धनुष की डोरी को आकर्ण खींचकर सदा तत्पर रहता है । (३२)

श्रेणी इतनी पृथुल है कि बेचारी कांचीलता उसे क्या संभाले । स्तनों की ऊंचाई इतनी है कि वह (नायिका) अपनी नाभी नहीं देख सकती है । आँखों की लम्बाई इतनी है कि कर्णोत्पल की क्या आवश्यकता ? मुख इतना उज्ज्वल और कान्तिमान है कि पूर्णमासी दो चन्द्रमाओं वाली हो जाती है । (३३)

**देवी**—आर्य कपिन्जल, पूछिए तो यह कौन है ?

**विदूषक**—(नायिका से) मुग्धे, जरा बैठो तो और बताओ कि तुम कौन हो ?

**देवी**—इसे आसन दो ।

**विदूषक**—यह रहा, मेरा उत्तरीय ।

(विदूषक अपना उत्तरीय देकर नायिका को बैठाता है)

**विदूषक**—अब कहो ।

**नायिका**—इसी दक्षिणापथान्तरगत कुन्तल में सकल जनवल्लभ वल्लभराज नामक राजा हैं ।

**देवी**—(स्वगत) जो मेरे मौसा होते हैं ।

**नायिका**—उनकी शशिप्रभा नामक गृहिणी हैं ।

**देवी**—वे तो मेरी मौसी हैं ।

**नायिका**—(स्मितपूर्वक) उन्हीं की मैं तुच्छ पुत्री हूँ ।

**देवी**—(स्वगत) शशिप्रभा के गर्भ को छोड़कर और कहाँ से ऐसी रूप-शोभा आयेगी ? वैदूर्यमणि के प्राप्तिस्थान से ही वैदूर्यमणि-शलाका प्राप्त होती है । (प्रकाश) तो तुम कर्पूरमंजरी हो ?

(नायिका सिर झुका लेती है)

**देवी**—आओ बहन, मुझसे मिलो (परस्पर आलिंगन करती हैं) ।

**नायिका**—कर्पूरमंजरी का यह प्रथम प्रणाम ।

**देवी**—भैरवानन्द जी, आज आपकी कृपा से अपूर्व संयोग हुआ, बहन

से भेंट हुई। यह पाँच-सात दिन यहाँ रहे फिर इसे आप ध्यान-विमान से ले जायें।

**भैरवानन्द**—देवी की जो आज्ञा।

**विदूषक**—(राजा के प्रति) आप और मैं भी यहाँ गैर हैं। बाकी सब परस्पर कुटुम्बी हैं। ये दोनों बहनों ठहरीं। भैरवानन्द इनके मिलन कराने वाले पूज्य महापूज्य (व्यक्ति) हैं और यह विचक्षणा तो धरती पर सरस्वती, साक्षात् कुट्टनी देवी है।

**देवी**—विचक्षणा, अपनी बड़ी बहन सुलक्षणा से कह दो कि भैरवानन्द का यथेष्ट स्वागत करना है।

**विचक्षणा**—जो देवी की आज्ञा।

**देवी**—(राजा से) आर्यपुत्र, मुझे आज्ञा दें। मैं इस अवस्था को प्राप्त अपनी बहन की साजसज्जा के लिए अन्तःपुर जाती हूँ।

**राजा**—चम्पक की क्यारी को कस्तूरी और कर्पूर के रस से भर देना उचित ही है।  
(नेपथ्य में)

**वैतालिकों में से एक**—देव को यह संध्या सुखकर हो।

दिन की आत्मा-सा वह सूर्य काल-कवलित होकर पता नहीं कहाँ चला गया। अपने नाथ के चले जाने पर दीर्घ-विरह की आशंका से मूर्छित इस दोग्रिका के कमल-नेत्र मुंद गए। (३४)

**दूसरा**—मणिमय-आच्छादन तथा चित्रमय-भित्तियों से युक्त केलिगृहों के कपाट खोले जा रहे हैं और ऋतु के अनुकूल सुखदायक शय्याएँ दासियों के द्वारा बिछाई जा रही हैं। सैरंगियों के चंचल हाथ और उँगलियों के चलाए जाने से कपड़े की आवाज होती है और केलि-मंडपों में रुष्ट और तुष्ट कामिनियों के हुंकार हो रहे हैं। (३५)

**राजा**—हम भी अब संध्यावदन को चलेंगे।  
(सभी चले जाते हैं।)



## १३. आठ कथानक

### १. पाटलिपुत्र का राजकुमार मूलदेव\*

[१] उज्जैनी नगरी थी। उसमें समस्त कलाओं में कुशल, अनेक विज्ञानों में निपुण, उदार-चित्त, किये हुए उपकार का आदर करने वाला, पराक्रम को प्राप्त, गुणानुरागी, प्रिय बोलने वाला, दक्ष, रूप, लावण्य और तरुणता सहित मूलदेव नामक राजपुत्र द्यूत-व्यसन में आसक्ति के कारण जनक द्वारा अपमानित होने पर पृथ्वी पर घूमता हुआ पाटलिपुत्र से वहाँ आया। वहाँ पर वह गुटिका के प्रयोग से अपने वेश को वामन आकार में परिवर्तित कर नगरजनों को विचित्र कथाओं, गंधर्व कलाओं और विविध कौतुकों से आश्चर्यचकित करता हुआ प्रसिद्ध हो गया।

[२] वहाँ रूप, लावण्य और विज्ञान से गर्वित देवदत्ता नामक प्रमुख गणिका रहती थी। मूलदेव ने ऐसा सुना कि स्व-गर्वित होने के कारण वह गणिका किसी सामान्य पुरुष में अनुरक्त नहीं होती थी। तब कौतुक से उसको क्षोभित करने के लिये प्रातःकाल समीप में स्थित होकर मूलदेव ने समधुर आवाज में बहुत प्रकार से कंठ को साधकर अन्यान्य वर्णों के सहयोग से रमणीय संगीत प्रारम्भ किया। देवदत्ता ने वह संगीत सुना और सोचा—अहो ! अद्भुत वाणी है, अतः यह कोई दिव्य-पुरुष है, मनुष्यमात्र नहीं। उसने दासियों से उसकी खोज करवायी। खोजने पर वामन के रूप में मूलदेव को देखा गया। दासियों ने यथार्थ अवस्था कह सुनायी। देवदत्ता के द्वारा उसको बुलाने के लिये माधवी नामक कुबड़ी दासी को भेजा गया। उसने जाकर विनयपूर्वक कहा—“हे पराक्रमी। हमारी स्वामिनी देवदत्ता निवेदन करती है कि आप कृपा करें और हमारे घर पर पधारें।” तब उस निपुण ने कहा—“मुझे गणिकाओं के संसर्ग से कोई मतलब नहीं है। विशिष्ट जनों के लिए वेश्याओं का संसर्ग वर्जित है। और कहा गया है कि.....”

\* अनुवाद—डॉ० प्रेम सुमन जैन, सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

**श्लोक १**—जो विचित्र विट कोटि में रहते हैं, मद्य-मांस का भक्षण करने वाले निकृष्ट हैं, मीठा बोलते हैं किन्तु मन से दुष्ट हैं वे लोग गणिकाओं का सेवन करते हैं, विशिष्ट जन सेवन नहीं करते ।

**श्लोक २**—जो अग्नि की शिखा की तरह दूसरे को जलाने वाली, मदिरा की तरह चित्त को मोहित करने वाली, घुरी की तरह शरीर को भेदन करने वाली गणिका है वह धूर्त की तरह घृणा करने योग्य है ।

- [३] इसलिये वहाँ मेरी जाने की इच्छा नहीं है । उस दासी के द्वारा भी अनेक उक्तियों व बहानों से उसके चित्त की आराधना कर और उसके हाथ को अत्यन्त प्रेम से ग्रहण कर उसे घर पर ले जाया गया । जाते हुए उस मूलदेव ने कला-कुशलता और विद्या-प्रयोग से उस दासी का मनोरंजन कर उसे अपने वश में कर लिया । विस्मय के कारण भ्रान्त-चित्त से मूलदेव भवन में प्रविष्ट हुआ । देवदत्ता के द्वारा भी अपूर्व लावण्य धारी वामन-रूप वाले उस मूलदेव को देखा गया और विस्मित होते हुए उसे आसन दिलाया गया । वह भी बैठा, उसको पान दिया गया । माधवी ने अपना रूप दिखाया और वृत्तान्त कहा । मधुर पांडित्यपूर्ण उक्तियों से वार्तालाप प्रारम्भ हुआ और अच्छी तरह उसे विस्मित कर दिया गया और उस (मूलदेव) के द्वारा गणिका के हृदय को चेष्टा विशेष से वश में कर लिया गया । कहा भी है—

**गाथा ३**—“अनुनय की कुशलता, परिहास की कोमलता और दुर्लभ चतुर-वाणी रसिक व्यक्तियों के कर्म हैं । उन्हें वशीकरण औषधि को क्या आवश्यकता ?

- [४] इसी बीच वहाँ पर एक वीणा-वादक आया । उसने वीणा बजाई, देवदत्ता प्रसन्न हुई और कहा—ओ, वीणा-वादक ! तुम धन्य हो, तुम्हारी कला श्रेष्ठता से सुशोभित है ।” मूलदेव ने कहा—“अहो ! उज्जैनी के लोग अति-निपुण हैं । सुन्दर, असुन्दर को विशेषतः जानते हैं । “देवदत्ता ने कहा—“इस (वीणा) में क्या कमी है ।” उसने कहा—“वाँस भी अशुद्ध है और वीणा का ताँत भी गर्भ युक्त है” देवदत्ता ने कहा—“कैसे जाना गया ? मैं देखता हूँ ।” उसको वीणा दी गई उसके द्वारा बाँस से पत्थर और वीणा (ताँत) से बाल बाहर निकाला गया । उसको ठीक कर मूलदेव बजाने लगा तो देवदत्ता व अन्य परिजन

उसके अधीन मन वाले हो गये। समीप में स्थित हथिनी सदा आवाज करती रहती थी, वह भी कान लगाकर वहाँ घूमती हुई स्थित हो गयी। तब देवदत्ता और वह वीणा-वादक अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने सोचा कि यह कोई गुप्त वेशधारी ब्रह्मा है। उस देवदत्ता ने वीणा-वादक को सम्मानित कर भेज दिया।

[५] भोजन का समय आया। देवदत्ता ने कहा—“अंगों की मालिश करने वाले को बुलाओ, जिससे हम दोनों स्नान करेंगे।” मूलदेव ने कहा—“यदि तुम अनुमोदना करो तो मैं ही तुम्हारे तेल-मालिश का कार्य कर देता हूँ।” उसने पूछा “क्या यह भी जानते हो?” उसने कहा—‘अच्छी प्रकार से नहीं जानता किन्तु जानने वालों के पास रहा हूँ।’ चंपक का तेल मँगाया गया। उसने मालिश करना प्रारम्भ किया और उसे पराधीन मन वाली बना दिया। उस गणिका ने सोचा—‘अहो! अतिशय विज्ञान और अद्भुत हाथों का स्पर्श है। अतः यह कोई गुप्त वेश में सिद्ध-पुरुष होना चाहिये। इसके रूप की श्रेष्ठता प्रकृति से यह नहीं है, अतः इसके वास्तविक रूप को प्रकट कराती हूँ।’ वह उसके चरणों में गिरकर कहती है। “हे महानुभाव! असमान गुणों वाले होने से ही आप उत्तम पुरुष के रूप में जान लिये गये हैं। आप वात्सल्य युक्त एवं चतुरता में प्रवीण हैं। अतः मुझे अपना वास्तविक रूप दिखाओ। मेरे मन में तुम्हें देखने की अत्यन्त इच्छा है।”

[६] बार-बार आग्रह किये जाने पर मूलदेव ने थोड़ा हँसकर वेश-परा-वर्तिनी गोली को निकाल लिया और अपनी यथार्थ अवस्था में आ गया। रूप से सूर्य की तरह तेज को प्रकाशित करता हुआ और कामदेव की तरह सब जनों को मोहित करता हुआ नव-ग्रौवन, लावण्य और सम्पूर्ण देह वाला वह देखा गया। हर्ष के कारण अंकुरित और पुलकित होकर वह देवदत्ता पुनः उसके चरणों में गिर गई और उसने कहा कि आपकी महान कृपा है। फिर उसने अपने हाथों से उसकी मालिश की। दोनों के द्वारा नहाया गया एवं सम्पन्नतापूर्वक जीमा (खाना खाया) गया, दिव्य वस्त्र पहने गये, विशिष्ट गोष्ठी में वे ठहरे फिर देवदत्ता ने कहा—“हे महाभाग! तुम्हें छोड़कर मेरा मन किसी दूसरे पुरुष से अनुरजित नहीं हो सकता है।” और यह सत्य है कि—

**गाथा ४**—नेत्रों से किसको नहीं देखा जाता है, किसके वचन सम्मान को प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु जिससे हृदय का आनन्द पुनः-पुनः उत्पन्न होता हो, वह मनुष्य विरल ही होता है ।

इसलिये मेरे अनुरोध पर आपके द्वारा इस घर में नित्य ही आया जाय । मूलदेव ने कहा—“हे गुणों से शोभित होने वाली ! दूसरे देश में रहने वाले हम जैसे निर्धनों के लिये प्रतिबन्ध शोभा नहीं देता है, और न ही स्थिरता होती है । प्रायः सबके कार्यवश ही स्नेह उत्पन्न होता है ।” और कहा गया है—

**श्लोक ५**—“नष्ट हुए फल वाले वृक्ष को पक्षी, शुष्क तालाब को सारस, मुरझाये हुए फूलों को भौरें और जलते हुए वन को हिरण छोड़ देते हैं ।” द्रव्य रहित पुरुष को गणिका और गद्दीरहित राजा को सेवक छोड़ देते हैं । सभी व्यक्ति कार्यवश चाहते हैं । कौन किसको प्यारा है ?”

तब देवदत्ता द्वारा कहा गया—“सदपुरुषों के लिये स्वदेश या परदेश का कारण नहीं होता ।” और कहा गया है—

**गाथा ६**—“समुद्र से अलग (उत्पन्न) होने पर भी चन्द्रमा द्वारा महादेव के सिर में निवास किया जाता है । गुणी लोग, जहाँ जाते हैं, वही सिर के द्वारा जाने/पूजे जाते हैं ।”

—और धन भी सार रहित है, अतः विद्वान लोग उसमें अधिक मान नहीं करते । क्योंकि गुणों में ही अनुराग होता है ।” और क्या कहा जाय—

**गाथा ७**—वाणी हजार लोगों को प्रभावित करती है और निर्मल स्नेह लाख लोगों को, लेकिन सज्जन मनुष्य का सदभाव करोड़ों में विशिष्ट होता है ।

अतः इस प्रार्थना को सर्वथा स्वीकार करो । मूलदेव ने भी स्वीकार कर लिया । उनमें स्नेह भरा सम्बन्ध हो गया ।

[७] एक बार राजा के समक्ष देवदत्ता ने नृत्य प्रस्तुत किया, मूलदेव के द्वारा वहाँ मृदंग बजाया गया । इससे देवदत्ता को राजा ने सन्तुष्ट होकर वरदान दिया । उसने धरोहर के रूप में वर सुरक्षित रखा । मूलदेव झूट में अत्यन्त आसक्त था, (निरन्तर हार के कारण) उसके वस्त्र भी नहीं रहे । तब उस (देवदत्ता) ने अनुनयपूर्वक प्रिय-

वाणी से कहा—“हे प्रियतम ! तुम जैसे चन्द्रमा के लिये यह जुआ हरिण कलंक के समान है तुम्हारे सभी गुण समूहों का कलंक यह द्यूत व्यसन ही है। और यह बहुत से दोषों का भंडार है। और भी—

**कड़वक ८**—“कुल को कलंकित करने वाला, सत्य का विरोधी, अत्यन्त लज्जा और शोक का ग्रहण कराने वाला धर्म-कार्य में विघ्न उत्पन्न करने वाला और अर्थ को नष्ट करने वाला द्यूत दान-भोग से रहित है।” “जुआ पुत्र, पत्नी, पिता, माता का हरण करने वाला है, इनमें न देव, गुरु को और न ही कार्य-अकार्य को गिना (जाना) जाता है। यह तन को संतप्त करने वाला और कुमति के मार्ग पर चलाने वाला है, अतः हे प्रिय ! जुए में अनुराग मत करो।”

इसलिये इसे बिल्कुल छोड़ दो किन्तु अत्यधिक आसक्ति होने के कारण मूलदेव उसका त्याग नहीं कर सका।

[८] इधर देवदत्ता में प्रगाढ़ अनुरक्ति वाला समृद्धिवान मित्रसेन का अचल नामक सार्थवाह पुत्र था। उससे जो भी माँगा जाता, वह देता था। वह वस्त्र, आभूषण आदि प्रदान करता था और वह मूलदेव के ऊपर द्वेष को धारण करता था तथा दोषों (छिद्रों को) खोजता हुआ (उसे लज्जित करने के लिये) अवसर खोजता था। इसकी शंका हो जाने से मूलदेव देवदत्ता के घर पर नहीं जाता था। एक बार माता ने देवदत्ता को कहा—‘हे पुत्री ! इस मूलदेव को छोड़ो क्योंकि इस अल्प सुन्दर व निर्धन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जबकि महानुभाव, दाता अचल बार-बार बहुत-सा द्रव्य देता रहता है। इसलिये उसको ही पूर्ण प्रेम से अंगीकार करो। एक म्यान में दो तलवारें नहीं समाती हैं और न ही लवण-रहित चट्टान को कोई चाटता है। अतः इस जुआरों को छोड़ दो।’ तब देवदत्ता ने कहा—‘हे माँ ! मैं केवल धन की अनुरागी नहीं हूँ, गुणों में ही मेरा प्रतिबन्ध है।’ माता ने कहा—‘उस जुआरी के कैसे गुण हैं ?’ ‘उसने कहा—’ माँ ! केवल वही गुण वाला है। यथा—

**गाथा ९**—‘वह धीर-उदारचित्त, चतुरता का महासागर, कला-निपुण, प्रिय-भाषी, कृतज्ञ, गुणों में अनुरागी और विशेषज्ञ है।’

इसलिये मैं इसको नहीं छोड़ूँगी। तब वह माता अनेक दृष्टान्तों से देवदत्ता को प्रतिबोधित करने लगी। नीरस आलता को मंगाकर

उसे देती है और प्रेरित करती हुई कहती है कि जैसा यह आलता-रसरहित है वैसा ही तेरा प्रियतम धनरहित है, तब भी तुम उसको नहीं छोड़ती हो ।' देवदत्ता ने सोचा कि यह अज्ञानी है । अतः वह उसको उसी प्रकार से दृष्टान्त देती है ।

[९] तब एक बार देवदत्ता ने अपनी माता से कहा कि—'हे माँ ! अचल से इक्षु मँगाओ । उसने भी उसको कह दिया । अचल ने भी गाड़ी भर कर भेज दीं । देवदत्ता ने कहा कि क्या मैं हकिनी हूँ जो इस प्रकार पत्ते एवं डाल सहित इतने अधिक इक्षु भेजे गये हैं ?' तब माता ने कहा—'हे पुत्री ! (वह) उदार है । अतः उसने इस प्रकार भेजा है ।' उसने सोचा कि देवदत्ता दूसरों को भी दे देगी । दूसरे दिन देवदत्ता के द्वारा माधवी को कहा गया—'हे सखी ! मूलदेव को कहो कि इक्षु खाने की मेरी इच्छा है । अतः मुझे भेज दे ।' उसने भी जाकर कह दिया । मूलदेव के द्वारा भी दो इक्षुदण्ड (गन्ने) ग्रहण किये गये, उसको छीलकर थोड़ा जड़ से अलग कर दो अंगुल जितने लम्बे टुकड़ों के आकार में करके उन्हें दबा कर कोमल किया गया । थोड़ा कपूर से सुगन्धित कर दिया । फिर नये पात्रों को लेकर, उनमें भर कर और ढक कर भेजा गया । माधवी के द्वारा लाकर भेंट किया गया । उसे देखकर देवदत्ता ने माँ से कहा—'हे माँ ! देखो (दोनों) पुरुषों में अन्तर है । इसलिये मैं मूलदेव के गुणों में अनुरक्त हूँ ।' जननी के द्वारा सोचा गया—'यह उसमें अत्यन्त मोहित है और इसे अपने आप नहीं छोड़ेगी । अतः कुछ ऐसा उपाय करती हूँ, जिससे यह कामुक मूलदेव विदेश चला जाय, तब ही सुख होगा ।' यह सोच कर उसने अचल से कहा—तुम इससे झूठ में दूसरे गाँव में जाने के लिये कहो । बाद में मूलदेव के प्रविष्ट होने पर मनुष्यों की तैयारी के साथ आना और उसे अपमानित करना । जिससे अपमानित होता हुआ वह स्वतः देश-त्याग कर देगा । इसलिये संयोग होने तक रुको । मैं तुम्हें समाचार दूंगी ।' अचल ने भाँ यह स्वीकार कर लिया ।

[१०] दूसरे दिन अचल ने इसी प्रकार किया । दूसरे गाँव जाने के झूठ बहाने से बाहर निकला । मूलदेव प्रविष्ट हुआ । माँ ने अचल को बता दिया । वह विपुल तैयारी के साथ आया । देवदत्ता ने उसको प्रविष्ट होते हुए देखा तो मूलदेव को कहा—यह ही अवसर है, तब



माता ने कहा कि यह धन भेजा गया है अतः तुम मुहूर्त भर पलंग के नीचे छिप जाओ। मूलदेव पलंग के नीचे स्थित हो गया। अचल ने देख लिया। और वह आकर पलंग पर बैठ गया। उसने देवदत्ता को कहा कि नहाने को तैयारी करो। देवदत्ता ने कहा—‘ऐसा ही हो। अतः उठो और धोती पहनो, जिससे मालिश की जाय।’ अचल ने कहा कि मैंने आज एक स्वप्न देखा कि मैं वस्त्र आदि पहने हुए ही मालिश करवाकर इसी पलंग पर बैठकर नहाया। अतः इस स्वप्न को सत्य करो।’ देवदत्ता ने कहा कि तब निश्चित ही ये कीमती गद्दे और तकिये आदि नष्ट हो जायेंगे। अचल ने कहा—इनसे भी अच्छे दूसरे दे दूँगा। माता ने कहा—ऐसा ही हो। तब पलंग पर ही स्थित होकर अचल ने मालिश करवायी उवटन करवाया और ऊष्ण पानी से स्नान किया। उसके नीचे स्थित मूलदेव गन्दगी से भर गया। तभी हथियार लिये हुए पुरुष प्रविष्ट हुए। माता ने अचल को इशारा किया और उन दुष्टों ने मूलदेव को बालों से पकड़ लिया तथा कहा—अरे ! देखो यदि तुम्हारी कोई शरण है तो अब तलाश कर लो। मूलदेव ने भी जब महल में देखा तो वह हाथ में तीक्ष्ण तलवारें धारण किये हुए शरण-रहित मनुष्यों को पाया और सोचा कि यदि मेरे द्वारा इस अपमान का बदला लिया जाता है तो भी मैं इससे (बदला करने में) समर्थ नहीं होऊँगा। क्योंकि मैं हथियार रहित हूँ। अतः पुरुषार्थ का यह अवसर नहीं है। ऐसा सोचकर उसने कहा—जैसा तुम्हें रूचिकर हो वैसा करो। अचल के द्वारा सोचा गया कि आकृति से यह कोई श्रेष्ठ पुरुष ही जान पड़ता है। और संसार में महान्-पुरुषों को विपत्तियाँ सुलभ हैं ! कहा भी है—

गाथा १०—“कौन यहाँ सदा सुखी है, किसकी लक्ष्मी और प्रेम आदि स्थिर है। कौन तिरस्कृत नहीं होता है, कहां ! कौन विधि के द्वारा खंडित नहीं किया गया है ?”

तब उसके द्वारा मूलदेव को कहा गया कि इस अवस्था को प्राप्त तुम इस समय मुक्त किये जाते हो। मैं भी विधि के वश से निश्चित ही कभी विपत्ति-व्यसन का पात्र किया जाऊँ तो इसी प्रकार मेरे साथ भी व्यवहार करना।’

[११] तब खिन्न मन हुआ मूलदेव नगर से बाहर निकला ‘देखो कैसे इनके द्वारा ठगा गया हूँ, ऐसा सोचते हुए उसने सरोवर में नहा कर

शुद्धि की। फिर उसने सोचा—अब मैं विदेश जाऊँगा, वहाँ जाकर इनके अपकार के बदले का कुछ भी उपाय करूँगा।’ तब वह बेन्नातट की ओर रवाना हुआ। ग्राम-नगर आदि के मध्य से जाता हुआ बारह योजन-प्रमाण एक अटवी (जंगल) के मुख पर पहुँचा और वहाँ उसने सोचा—‘यदि कोई जाता हुआ दूसरा व्यक्ति बात करने वाला सहायक मिल जाय तो यह अटवी सुखपूर्वक पार हो जायेगी। तभी थोड़ी देर बाद विशिष्ट आकृति वाला पाथेय की थैली का स्वामी ढक्क नामक एक ब्राह्मण वहाँ आया। मूलदेव ने उससे पूछा—‘हे ब्राह्मण ! कितनी दूर जाओगे?’ उसने कहा—‘इसी अटवी के उस पार वीर-निधान नामक गाँव है, वहाँ जाऊँगा। और तुम कहाँ जाओगे? मूलदेव ने कहा—बेन्नातट। ब्राह्मण ने कहा—तो आओ। हम चलें।’

[१२] तब दोनों चल दिये। जाते हुए मध्याह्न समय में उन्होंने एक सरोवर देखा। ढक्क ने कहा—‘अरे ! एक क्षण यहाँ विश्राम करेंगे।’ वे सरोवर के पास गये, हाथ-पैर धोये। मूलदेव सरोवर की पाल पर स्थित पेड़ की छाया में गया। ढक्क ने पाथेय की थैली खोली। प्याली में सत्तु लिया। उसको जल से मिलाकर खाने लगा। मूलदेव ने सोचा—ये ब्राह्मण जाति भोजन प्रधान होती है, इसलिये यह मुझे वाद में देगा। वह ब्राह्मण भी खाकर और थैली बाँधकर चल दिया। निश्चित ही दूसरी बार देगा, ऐसा सोचकर मूलदेव साथ में चलने लगा। वहाँ भी ब्राह्मण ने उसी प्रकार खाया, ले किन्तु उसको नहीं दिया। ‘कल देगा’ इस आशा से इच्छा करता हुआ मूलदेव चलने लगा। जाते हुए रात्रि हो गयी। तब वे रास्ते से कुछ दूर होकर वट-वृक्ष के नीचे सो गये। प्रातःकाल में पुनः रवाना हुए। मध्याह्न में वे उसी प्रकार विश्राम के लिये रुके। ढक्क ने उसी प्रकार खाया किन्तु इसको नहीं दिया। जब तीसरे दिन मूलदेव के द्वारा सोचा गया कि अटवी को प्रायः पार कर लिया गया है, अतः आज मुझे यह अवश्य ही देगा, किन्तु तब भी उसने नहीं दिया। फिर उनके द्वारा अटवी पार कर ली गयी। दोनों के मार्ग अलग-अलग हो गये। तब भट्ट ने कहा—‘अरे ! तुम्हारा यह मार्ग है और मेरा यह, इसलिये तुम इससे जाओ।’ मूलदेव ने कहा—‘अरे भट्ट ! मैं तुम्हारे साथ यहाँ तक आया हूँ, मेरा नाम मूलदेव है। यदि मुझसे कभी भी कुछ भी कार्य हो तो बेन्नातट में आना। ‘तुम्हारा नाम क्या है?’ ढक्क ने कहा—‘लोगों

के द्वारा मेरा व्यक्ति वाचक नाम निर्घृणशर्म घोषित है।' तब भट्ट अपने गाँव की ओर रवाना हुआ और मूलदेव भी बेन्नातट की ओर रवाना हुआ।

[१३] कुछ समय बाद बस्ती देखी गयी। वहाँ भिक्षार्थ प्रविष्ट होकर मूलदेव पूरे गाँव में घूमा। थोड़ा भीगा हुआ मूँग आदि धान्य उसे प्राप्त हुआ, और दूसरा कोई अनाज नहीं। वह जलाशय की ओर गया। इसी बीच में उसने वहाँ तप से शोषित देह वाले, महातपस्वी महानुभाव साधु को मासोपवास के पारणे के लिये प्रविष्ट होते हुए देखा। उसको देखकर हर्षवश अंकुरित रोमांच से मूलदेव ने सोचा— “अहो मैं धन्य और कृतार्थ हुआ, जो इस समय यह महातपस्वी मेरे दर्शनपथ में आया। इसलिये अवश्य ही मेरा कल्याण होगा। कहा भी है—

**गाथा ११—**“जिस प्रकार मरुस्थली में कल्पवृक्ष, दरिद्र के घर में स्वर्ण-वृष्टि, मातंग के घर में हस्ती एवं राजा का महत्त्व है, उसी प्रकार यहाँ इसी मुनि का महात्म्य है। और क्या—

**गाथा १२-१४—**यह दर्शन ज्ञान से विशुद्ध, पंच-महाव्रतों से उपशमित, धैर्यवान और मुवितप्रधान क्षमा, मार्दव, आर्जव से युक्त, स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चर्या में निरत, विशुद्ध लेश्या वाला पंच सम्पत्ति, तीन गुप्ति, अकिंचन को प्राप्त गृह-त्यागी यह साधु हैं अतः ऐसे अच्छे क्षेत्र में प्राप्त, विशुद्ध श्रद्धा-जल से सिंचित, शुद्ध यह द्रव्य रूपी फसल इस लोक और परलोक में अनन्त फल देने वाली है।

[१४] इसलिये ऐसे समय में उचित यह धान्य इसे ही देता हूँ, क्योंकि यह ग्राम अदायक है और यह महात्मा कुछ घरों में दर्शन देकर लौट आयेगा। मैं यदि दो-तीन बार और घूमूँगा तो पुनः कुछ प्राप्त कर लूँगा। समीपस्थ अन्य दूसरा ग्राम भी है, अतः सब ही इसको दे देता हूँ। तब प्रणाम करके उस साधु को वे उड़द समर्पित कर दिये। साधु के द्वारा भी उसके धर्म-शील के परिणाम की उत्कृष्टता को और द्रव्य आदि की शुद्धि को जानकर “हे धर्मशील ! थोड़े दो” ऐसा कह कर पात्र को रख दिया। उसने भी बढ़ते हुए अतिशय से दिया। और उसने कहा—

**गाथा १५ (क)** वे आदमी धन्य हैं, जिनके पास साधु के पारणा के लिए मूँग आदि धान्य होता है।

[१५] इसी बीच आकाश में गयी हुई ऋषिभर्ता देवता के द्वारा मूलदेव की भक्ति से रंजित होने पर कहा गया—“हे पुत्र मूलदेव ! तुमने सुन्दर अनुष्ठान किया है, अतः इस गाथा के उत्तरार्ध भाग द्वारा जो तुम्हें रचिकर हो, वह माँगो, जिससे मैं सब ही अर्पण कर सकूँ। तब मूलदेव ने कहा—

**गाथा १५ (ख) देवदत्ता गणिका को हजार हाथी और राज्य ।**

देवता ने कहा—“हे पुत्र ! निश्चित होकर विचरण करो। ऋषि के चरणों की कृपा से शीघ्र ही यह सब प्राप्त होगा।” मूलदेव ने कहा—“हे भगवती, ऐसा ही होगा। तब ऋषि को वंदना करके वह वहाँ से रवाना हुआ। ऋषि भी उद्यान को गया। मूलदेव के द्वारा दूसरी भिक्षा प्राप्त की गयी। वह उसे खाकर बेन्नातट-समूह की ओर रवाना हुआ, क्रम से वहाँ पहुँचा।

[१६] मूलदेव रात्रि में पथिक-शाला के बाहर सोया। अन्तिम प्रहर में उसने स्वप्न में परिपूर्ण-मंडल और निर्मल-प्रभा युक्त चन्द्रमा को उदर में प्रविष्ट होते हुए देखा। दूसरे एक भिक्षुक ने भी ऐसा ही देखा। उसने दूसरे भिक्षुकों को कहा। उनमें से एक ने कहा—“आज तुम घी-गुड़ से युक्त बड़ी रोटी प्राप्त करोगे।” ये लोग स्वप्न का वास्तविक अर्थ नहीं जानते, अतः मूलदेव ने कुछ नहीं कहा। जब वह भिक्षुक भिक्षा के लिये गया तब जैसा कहा गया था (वैसे ही) घर की छत से उसने रोटी प्राप्त की। इस प्रकार वह सन्तुष्ट हुआ। और उस भिक्षुक को पुनः आकर कह दिया। इधर मूलदेव भी एक बगीचे में गया। वहाँ पुष्प एकत्र करने वाले माली के द्वारा वह रोका गया, सहायता करने पर पुष्प-फल आदि उसे दिये गये। उनको लेकर, पवित्र होकर वह स्वप्न-शास्त्र-पाठक के घर पर गया। उसको प्रणाम किया और क्षेम-आरोग्य-वार्ता पूछी। उसने भी सम्मानपूर्वक बोलकर प्रयोजन पूछा। मूलदेव ने हाथ जोड़कर स्वप्न का वृत्तान्त उसे कह दिया। उस उपाध्याय ने हर्षपूर्वक कहा कि स्वप्न का फल मैं शुभ-मूर्त में कहूँगा, अतः आज मेरा आतिथ्य ग्रहण करिये। मूलदेव ने स्वीकार कर लिया। उसके द्वारा स्नान करके ऐश्वर्य-पूर्वक भोजन किया गया। भोजन के बाद उपाध्याय ने कहा—“हे पुत्र ! मेरी यह कन्या वर प्राप्त करने योग्य है अतः तुम मेरे आग्रह से इससे शादी कर लो।” मूलदेव ने कहा कि हे तात ! आप अज्ञात शील व कुल वाले व्यक्ति को कैसे अपना

दामाद बनाते हो ? उपाध्याय ने कहा कि—‘हे पुत्र ! आचरण से अकथित कुल ज्ञात हो जाता है । और कहा गया है कि—

**श्लोक १६—**‘आचरण कुल को कहता है और बातचीत देश को । अनुराग स्नेह को कहता है और शरीर भोजन को ।’ और भी—

**गाथा १७—**कमलों में सुगन्ध कौन देता है और गन्ने में मधु-रता कौन भरता है । श्रेष्ठ हाथी में लीला और अच्छे कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में विनय कौन पैदा करता है ?

**गाथा १८—**‘यदि गुण होते हैं तो कुल से क्या ? गुणी के लिये कुल से कोई कार्य नहीं । गुणों से रहित अकलंक कुल भारी कलंक ही है ।

[१७] इस प्रकार अन्य उक्तियों द्वारा उसको स्वीकार कराकर शुभ-मूर्हत में शादी करा दी गयी और स्वप्न का फल कहा गया कि सात दिन के बीच में तुम राजा बनोगे । उसको सुनकर मूलदेव हर्षित मन वाला हुआ और वहीं पर ही सुख-पूर्वक रहने लगा । पाँचवें दिन वह नगर से बाहर गया और चंपक (वृक्ष) की छाया में सो गया ।

[१८] इधर उस नगरी का पुत्र-रहित राजा मृत्यु को प्राप्त हो गया । वहाँ पाँच दिव्य पदार्थों द्वारा राजा की खोज की गयी । उनके द्वारा घूमकर नगर के बाहर निकला गया और मूलदेव के निकट जाया गया । अपरिवर्तित होती हुई छाया के नीचे मूलदेव देखा गया । उसको देखकर खुशी से हाथी चिंघाड़ा और घोड़ा हिनहिनाया, जल-पात्र से अभिषेक किया गया, चामरों से हवा की गयी और श्वेत छत्र मूलदेव के ऊपर स्थित हो गया । तब लोगों द्वारा जय-जयकार किया गया । उनके द्वारा मूलदेव को गज के कन्धे पर चढ़ाकर नगरी में प्रविष्ट कराया गया । मंत्री-सामंतों द्वारा उसका अभिषेक किया गया । तब आकाशतल में स्थित देवता द्वारा कहा गया—अरे-अरे ! यह महानु-भाव सम्पूर्ण कलाओं का धारक, देवाधिष्ठित शरीर वाला विक्रमराज नामक राजा है । अतः इसके शासन को जो नहीं मानेगा, उसे मैं क्षमा नहीं करूँगी । तब सब सामंत-मंत्री, पुरोहित आदि परिजन मूलदेव के आज्ञा-पालक बन गये । मूलदेव उदारता पूर्वक विषय-सुखों का उपयोग करता हुआ रहने लगा । तब उज्जैनी के राजा द्वारा जब अपने विचारों की धवलता के साथ मूलदेव के साथ व्यवहार किया गया तो उनमें परस्पर निरन्तर प्रीति बढ़ने लगी ।

[१९] इधर देवदत्ता मूलदेव की वैसी अवमानना को देखकर अचल के ऊपर से सर्वथा विरक्त हो गयी और तब उसे भी इस प्रकार तिर-ष्कृत किया कि मैं वेश्या हूँ न कि तुम्हारे घर की घर-वाली। तब भी मेरे घर पर तुम इस प्रकार का व्यवहार करते हो, अतः मेरे यहाँ पर तुम्हारे द्वारा पुनः न आया जाय। ऐसा कहकर वह राजा के पास गयी। राजा के चरणों में गिरकर उसने कहा—हे स्वामी ! उस वरदान को प्रदान कर कृपा करे।’ राजा ने कहा—‘कहो ! तुम पर क्या कृपा करूँ ? अन्य क्या कहा जाय ?’ देवदत्ता ने कहा—‘हे स्वामी ! मूलदेव को छोड़कर अन्य कोई पुरुष मुझे आज्ञा नहीं दे और इस अचल का मेरे घर पर आवागमन भी रोका जाना चाहिये। राजा ने कहा—ऐसा ही होगा। तुमको जिस तरह से रूचिकर हो। किन्तु कहो यह वृत्तान्त क्या है ?’ तब माधवी के द्वारा समस्त वृत्तान्त कहा गया। राजा अचल के ऊपर रष्ट हुआ और बोला—अरे ! मेरी इस नगरी में ये दो ही रत्न हैं, उनको भी यह ठगता है। तब अचल को बुलाकर और उपालम्भ देकर उसे कहा—‘अरे ! क्या तुम यहाँ के राजा हो ? जिससे इस तरह का व्यवहार करते हो। अतः अब तुम अपनी शरण खोज लो, मैं तुम्हारे प्राणों का विनाश करता हूँ।’ तब देवदत्ता ने कहा—‘हे स्वामी ! इस कुत्ते के समान व्यक्ति को मारने से क्या लाभ ? अतः इसे छोड़ दें। राजा ने कहा—अरे ! इस महानुभावा के वचन से इस समय तुम छोड़े जा रहे हो। किन्तु उस मूलदेव की आज्ञा से ही अब तुम्हारी शुद्धि होगी। तब चरणों में गिरकर वह अचल राजकुल से निकल गया। दिशा-दिशा को खोजने लगा। तब भी वह मूलदेव उसे नहीं मिला। तब वह उसी पूर्णिमा को माल आदि से वाहन भर कर पारस कुल को रवाना हुआ।

[२०] और इधर मूलदेव के द्वारा देवदत्ता को पत्र और उसके राजा को भेंट आदि भेजे गये और राजा को कहा गया—‘मेरा इस देवदत्ता से घनिष्ठ प्रेम (प्रतिबन्ध) है। अतः यदि इसको और तुम्हें रूचिकर हो तो कृपा करें और इसे भेजें।’ तब राजा ने राज-द्वारपाल को कहा—‘अरे ! विक्रमराज के द्वारा यह इस प्रकार कैसे लिखवाया गया है ? क्या हमारे और उसमें कोई विशेष अन्तर है ? सम्पूर्ण राज्य भी उनका ही है। फिर देवदत्ता ही क्या ? केवल उसकी इच्छा होनी चाहिये ? तब देवदत्ता को बुलाया गया और वृत्तान्त कहा

गया। अतः यदि तुम्हें रूचिकर हो तो तुम मूलदेव के पास चली जाओ। उसने कहा—‘अति कृपा। आपकी कृपा से ही हमारा मनोरथ पूर्ण हुआ है। तब अति वैभव के साथ पुरष्कृत कर उसे भेजा गया और वह चली गयी। मूलदेव ने भी अति-वैभव के साथ उसको प्रविष्ट कराया। उनमें परस्पर एकाधिकार हो गया। मूलदेव उसके साथ विषय-मुख का अनुभव करता हुआ जिन-भवन व मूर्ति बनवाने एवं उनका पूजन करने में तत्पर होकर रहने लगा।

[२१] इधर वह अचल पारसकुल में बहुत श्रेष्ठ द्रव्य और माल को अर्जित करके और भर कर बेन्नातट आया और वहाँ बाहर ठहरा। लोगों को पूछा—‘यहाँ के राजा का क्या नाम है ? ‘विक्रमराज’ ऐसा कहा गया। तब वह हिरण्य, सुवर्ण, मोती के थाल भरकर राजा को देखने के लिये गया। राजा ने आसन दिया। (वह) बैठा (राजा ने) उसे पहचान लिया। अचल ने उसे नहीं जाना। राजा ने पूछा—‘श्रेष्ठी ! कहाँ से आये हो ?’ उसने कहा—‘पारसकुल से।’ राजा को सम्मान कर अचल द्वारा कहा गया—‘हे स्वामी ! किसी चाकर (दास) को भेजें, जो माल को देख लें। तब राजा ने कहा—‘मैं स्वयं आऊँगा।’

[२२] तब पंच-कुल सहित राजा वहाँ गया। वाहनों में शंख, गंधद्रव्य विशेष (फोफफल) चंदन, अगरू, मंजीठा (रंग) आदि सामग्री को उसने देखा। पंच-कुल के सामने राजा ने पूछा—‘रे श्रेष्ठी ! ये इतने ही हैं ? उसने कहा—‘हाँ देव ! इतने ही हैं।’ राजा ने कहा—‘श्रेष्ठी को आधा दान कर दो। किन्तु दूसरे थैलों में मेरे सामने तौली। पंचकुल के द्वारा वे तोले गये। भार से, पाद-प्रहार से और बाँस-छेदन से उन्हें देखा गया। मजीठा आदि के बीच छिपे हुए अन्य कीमती सामग्री प्राप्त हुई। राजा ने थैलों आदि को खुलवा दिया और चारों तरफ देखा तब कहीं स्वर्ण, कहीं चाँदी, मणि-मोती, प्रवाल आदि की महा मूल्यवान सामग्री देखी गयी। तो उसको देखकर रूष्ट हुए राजा के द्वारा अपने पुरुषों को आदेश दिया गया—‘अरे ! इस प्रत्यक्ष चोर को बाँध लो।’ तब उनके द्वारा भी धगधगाते हुए हृदय वाले उसको बाँधा गया। उन वाहनों में रखवाले लगाकर राजा भवन को गया। वह अचल भी आरक्षी पुरुषों के द्वारा राजा के समीप लाया गया। प्रगाढ़ बंधनों से बंधे हुए उसको देख कर राजा ने कहा—‘अरे छोड़ो-छोड़ो। उनके द्वारा उसे छोड़ा गया। राजा ने पूछा—‘तुम मुझे जानते हो ?’ उसने

कहा—‘समस्त पृथ्वी में विख्यात महाराजा को कौन नहीं जानता है?’  
 [२३] राजा ने कहा—‘उपकार-भाषणों को रहने दो। यदि जानते हो तो स्पष्ट  
 कहो। अचल ने कहा—‘देव ! अच्छी तरह नहीं जानता हूँ।’ तब राजा  
 के द्वारा देवदत्ता को बुलाया गया। वह श्रेष्ठ अप्सरा की तरह सर्वांगों  
 पर आभूषण धारण किये हुई वहाँ आयी। अचल ने उसको पहचान  
 लिया। वह मन में अत्यधिक लज्जित हुआ। तब देवदत्ता के द्वारा कहा  
 गया—‘हे ! यह वही मूलदेव है, जिसको तुमने उस समय में कहा था  
 कि कभी विधि के योग से मुझ पर विपत्ति आ जाने पर उपकार  
 किया जाये। अतः यही वह अवसर है। प्रणयी दीन-जनों के प्रति  
 वत्सल इस राजा के द्वारा धन, शरीर को संशय में डाले हुए तुमको  
 मुक्त कर दिया गया है।’ तब इसको सुनकर लज्जित मन से “महा  
 कृपा” ऐसा कहकर वह अचल राजा और देवदत्ता के चरणों में गिर  
 पड़ा और बोला—‘मेरे द्वारा जो किया गया है, वह समस्त जनों को  
 शान्ति प्रदान करने वाले, सम्पूर्ण कलाओं से शोभित, निर्मल स्वभाव  
 वाले पूर्णिमा के चन्द्र के लिए राहु के द्वारा किये गये अपमान की तरह  
 है। अतः हे स्वामी ! आप मुझे क्षमा करें। आपके पीड़ित करने से  
 क्रोधित उज्जैनी के राजा भी मुझे वहाँ प्रवेश नहीं देंगे।’ (तब)  
 मूलदेव ने कहा मेरे द्वारा तुम क्षमा कर दिये गये हो क्योंकि तुम्हें  
 स्वयं महारानी देवदत्ता ने क्षमा कर दिया है। तब वह पुनः दोनों के  
 चरणों में परम आदर से गिर गया। तब देवदत्ता के द्वारा उसे नह-  
 लाया गया और मूल्यवान वस्त्र पहनाये गये। राजा ने दान देकर उसे  
 मुक्त किया और उज्जैनी भेज दिया। मूलदेव राजा की प्रार्थना पर  
 विचारधवल राजा द्वारा भी उसे क्षमा किया गया। निर्घृणशर्म भी  
 मूलदेव को राज्य पर बैठा हुआ सुनकर बेन्नातट आया। उसने राजा  
 को देखा। मूलदेव ने गुप्त-सेवा के लिए उस निर्घृणशर्म को ग्राम दान  
 में दिया। नमस्कार कर और “महाकृपा” ऐसा कहकर वह गाँव को  
 चला गया।





## २. चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक

[१] गोल्ल जिले में चणय नाम का एक ग्राम था। उसमें चणक नाम का ब्राह्मण रहता था, जो श्रावक था। एक बार उसके घर साधु ठहरे। उसके दाँतों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। साधुओं के पैरों में नमस्कार करवाया। उन्होंने कहा—राजा होगा। राज्य दुर्गति को प्राप्त कराने वाला जानकर उसने दाँतों को उखाड़ दिया। पुनः आचार्यों ने कहा—कुछ भी करो अब भी यह प्रतिबिम्ब की तरह राजा बनेगा। उन्मुक्त बालपन बिताने के बाद चौदह शास्त्रों का अध्ययन किया—

**गाथा १**—विस्तार पूर्वक अंगों को, चार वैद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र इन चौदह शास्त्रों को पढ़ा।

**गाथा २**—शिक्षा, व्याकरण, निर्युक्त, छन्द, ज्योतिष और कल्प, ये छः अंग कहे जाते हैं।

[२] वह श्रावक संतुष्ट हुआ। एक दरिद्र भद्र ब्राह्मण कुल की कन्या के साथ विवाह किया। एक दिन अपने भाई के विवाह के अवसर पर वह कन्या अपने मायके गई। उसकी बहनें पहले किसी समुद्र कुल में दी गई थी और वे आभूषणों से अलंकृत होकर आयी। सभी परिजन उनके साथ तो बोलते और आदर करते और यह एकाकी अपमानित-सी एकान्त में स्थिर रही। बिना कुछ धन लिए दुःखी होती हुई घर आ गई। शोक से युक्त देखकर चाणक्य ने शोक का कारण पूछा तब वह कुछ नहीं बोलती हुई अपने कपोलों को आँसुओं से सींचती रही और दीर्घ श्वास छोड़ती रही। उसके द्वारा आग्रह करने पर भररयी आवाज में यथास्थिति कही। उस चाणक्य के द्वारा सोचा गया कि अहो ! अपमान का कारण निर्धनता है जिससे माता के घर में भी इस प्रकार का तिरस्कार होता है। अथवा—

**गाथा ३**—व्यक्ति धनवान के स्वजनत्व को भी प्रकाशित (प्रशंसा) करता है अर्थात् बुरे स्वजनों को भी अपना मानता है तथा अपने स्वजनों को भी लज्जित होना पड़ता है। उसी प्रकार—

ॐ अनुवाद—डॉ० सुभाष कोठारी—आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान उदयपुर ।

**गाथा ४**—जो लोग स्वार्थ के बिना संसार में अर्थविहीन लोगों के गौरव का निर्वाह करते हैं, वे संसार में बिरले ही होते हैं ।

- [३] अतः किसी भी उपाय से धन एकत्रित करूँगा । नन्द पाटलिपुत्र में दीन ब्राह्मणादिकों को धन देते हैं, वहाँ जाता हूँ । तब वहाँ जाकर कार्तिकी पूर्णिमा के दिन जो पहला आसन दीख पड़ा उसी पर बैठ गया । वह आसन वास्तव में राजवंश के व्यक्तियों के लिए नियत था । नन्द ने अपने पुत्र सिद्धपुत्र के साथ प्रवेश किया और कहा—यह ब्राह्मण नन्दवंश की छाया का अतिक्रमण करके यहाँ स्थित है । तब दासी ने कहा—हे भगवन् ! आप दूसरे आसन पर बैठिये । 'ऐसा ही हो' यह कहकर दूसरे आसन पर लोटा रख दिया, इसी प्रकार तीसरे पर दण्ड, चौथे पर माला और पाँचवें पर यज्ञोपवीत रख दिया । 'धष्ट है' इस प्रकार कहकर उसे लात मारकर पदच्युत कर दिया, तब चाणक्य प्रतिज्ञा करता है—

**श्लोक ५**—जिस प्रकार उग्र वायु का प्रचण्ड वेग अपने अनेक शाखा समूह सहित महान् वृक्षों को जड़ सहित उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार नन्द ! तैरा-कोष, नौकर, पुत्र और मित्रादि सहित समूल नाश कर दूंगा ।

- [४] वह चाणक्य क्रोधित होकर वहाँ से निकला । उसने सुना था—  
 "किसी के ओट में राजा होऊँगा" इस प्रकार घूमते हुए परिव्राजक का वेश बनाकर नन्द के अधिनस्थ मयूरपोशकों के ग्राम में पहुँचा । उसी ग्राम के मुखिया की पुत्री को चन्द्रमा को पीने का दोहद उत्पन्न हुआ । वह वहाँ गया, पूछा । उस चाणक्य ने कहा—यदि मुझे अपना पुत्र दो, तो मैं तुम्हें चन्द्रमा पीला दूँगा । उसने स्वीकार कर लिया । उसने कपड़े का मण्डप बनाया, उस दिन पूर्णिमा थी । उसने कपड़े में छेद कर दिया, चन्द्रमा के मध्याह्न में जाने पर सभी रसों वाले द्रव्यों से युक्त खीर से थाल भरकर उसे बुलाया, थाल में चन्द्रमा दिखलाया और उसे पीला दिया । ऊपर जो पुरुष था, उसने छिद्र ढक दिया । दोहद पूर्ण होने पर कालक्रम से उसके पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया । वह भी यावत् बढ़ने लगा । चाणक्य ने भी धातु से स्वर्ण बनाने का मार्ग खोज लिया । जब चाणक्य उस ग्राम में आया, तब चन्द्रगुप्त बच्चों के साथ खेल रहा था और राजनीति की भाषा बोल रहा था । चाणक्य उसे देखता है और परीक्षा करने के

लिए उससे कहता है कि—मुझे कुछ भी दीजिए। उसने कहा—गायें ले लो। चाणक्य कहता है—डरता हूँ कि कोई मार डालेगा। चन्द्रगुप्त कहता है—पृथ्वी वीरों के ही उपभोग के लिए है। तब उसका परिचय पाने का उत्सुक चाणक्य पूछता है कि यह किसका पुत्र है? इस प्रकार कहने पर बच्चों ने कहा—यह परिव्राजक का पुत्र है। इस प्रकार सुनकर 'मैं ही वह परिव्राजक हूँ जिसने इसकी माता का दोहद पूर्ण किया', अतः इसे राजा करूँगा। वह उसको साथ लेकर निकल गया। उसने लोगों को अपनी सेना में भर्ती किया।

- [५] पाटलीपुत्र पर चढ़ाई कर दी। नन्द के द्वारा भगाये जाने पर परिव्राजक चाणक्य भागा। अश्वारोहियों द्वारा पीछा किये जाने पर चन्द्रगुप्त को कमलों से आच्छादित सरोवर में छिपा दिया और चाणक्य धोबी बनकर बैठ गया। नन्द द्वारा भेजे गये किशोर घुड़सवार सैनिक के द्वारा पूछा गया—चन्द्रगुप्त कहाँ है? कहा—इस कमल सरोवर में प्रविष्ट होकर बैठा है। जब उस सवार ने चन्द्रगुप्त को देखा तब उसने घोड़ा चाणक्य के सुपर्द कर दिया और तलवार छोड़ दी। जैसे ही पानी में उतरने के लिए अपना कवच खोला, चाणक्य ने उसके तलवार से दो टुकड़े कर दिये। बाद में चन्द्रगुप्त बुलाने पर बाहर आ गया और दोनों पुनः वहाँ से भाग गये। उसने चन्द्रगुप्त से पूछा—जब मैंने तालाब में तुम्हें बताया तब तुमने मन में क्या सोचा? उसने कहा—मैंने सोचा कदाचित् यही ठीक है, क्योंकि स्वयं आर्य जानते हैं कि क्या उचित है। तब उसने जान लिया—यह योग्य है, यह विपरीत मति-वाला नहीं होगा। चन्द्रगुप्त को भूख लगने लगी। चाणक्य उसको एक जगह बैठाकर भोजन को प्राप्त करने गया। वह डर रहा था कि यहाँ पहचान नहीं लिया जाए अतः एक ब्राह्मण को बाहर ही रोक करके दही व भात ग्रहण कर आ गया, बच्चे को जीमाया। अन्य एक बार घूमते हुए एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक घर में बुढ़िया ने पुत्र को पात्र में गरम खिचड़ी रखी। उसने हाथ बीच में डाल दिया। वह जल जाने पर रोने लगा। उस बुढ़िया के द्वारा कहा गया—चाणक्य की तरह मूर्ख है। भेदन करना भी नहीं जानता है। उसके द्वारा पूछने पर कहा—महल पर पहले ग्रहण करने के कारण वह पराजित हुआ। तब वह हिमवंत कूट गया। वहाँ के पर्वत राजा के साथ उसने मैत्री स्थापित की और कहा—नन्द के राज्य को समान-समान भाग से विभाजित कर लेंगे। उसके द्वारा मानलिया गया। एक-एक का विनाश करना प्रारम्भ

किया। एक नगर को नहीं जीता जा सका। तब त्रिदण्डी के वेश में नगर में प्रवेश किया। वह नगर इन्द्रकुमारिकाओं के द्वारा देखा गया था, इस कारण उसे नहीं जीता जा सका। उनसे माया के द्वारा उन्हें शहर के बाहर निकलवा दी और नगर ग्रहण कर लिया। तब पाटली-पुत्र पर आक्रमण कर दिया।

- [६] नन्द ने धर्मद्वार की याचना की। चाणक्य ने कहा—एक रथ से जो ले जा सके, वह बाहर ले जाए। तब नन्द दो पत्नियों एवं एक पुत्री के साथ जितना धन ले जा सका, लेकर बाहर निकला। जाते हुए कन्या बार-बार चन्द्रगुप्त को देखती है। राजा ने कहा—जैसा चाहो। इस प्रकार कहने पर वह गयी। चन्द्रगुप्त के पहिये पर पैर रखते ही उसके नौ आरे तड़ाक से टूट गये। ‘अमंगल हुआ’ सोचकर चन्द्रगुप्त ने उसे उतर जाने को कहा। त्रिदण्डी चाणक्य ने कहा—मत उतारो, तुम्हारा वंश, तुम्हारे पीछे नौ पीढ़ी तक चलेगा। तब वह स्वीकार की गयी। राजकुल में आए। राज्य के दो भाग किये। वहाँ एक विषकन्या थी। उसकी पर्वत राजा ने इच्छा प्रकट की। वह उसको दी गयी। अग्नि प्रदक्षिणा के समय विष के प्रभाव से मृत्यु को समीप में देखकर कहने लगा—हे पुत्र! मर जाऊँगा। चन्द्रगुप्त—‘यह मर सकता है’ इस प्रकार सोचकर दौड़ा परन्तु चाणक्य ने भृकुटि करके ऐसा करने से रोक दिया—

**श्लोक ६**—समान सम्पत्ति वाले, समान सामर्थ वाले, व्यवसायियों में मर्मज्ञ (रहस्यों का जानकार), आधे राज्य के अधिकारी को जो नहीं मारता है, वह स्वयं मारा जाता है।

- [७] राज्य पर चन्द्रगुप्त को बिठाया। दोनों ही राज्य उसको प्राप्त हो गये। नन्द के मनुष्यों ने चोरी से जीवन यापन करना शुरू किया और देश में असन्तोष फैलाने लगे। चाणक्य किसी उपयुक्त नगर रक्षक को खोजने लगा। नगर के बाहर गया। वहाँ नलदाय नामक कपड़े बुनने वाले को देखा। पुत्र को मकोड़ों के द्वारा डसते देखकर क्षण भर में बिल को खोद करके उसने जलते हुए अंगारों को मूल स्थान पर डाल दिया। तब ‘यह नगररक्षक उपयुक्त है’ इस प्रकार विचार कर उसे बुलाया। उसको सम्मानीत कर उस नगर का रक्षक बना दिया। उसने चोरों को प्रलोभन और धनादि देकर नगर को उपद्रव से रहित कर दिया। राज्य निष्कण्टक हो गया। कोष की अभिवृद्धि के लिए चाणक्य

ने नगर के समृद्ध व्यक्तियों को कुटुम्ब सहित मद्यपान के लिए बुलाया। मद्य का असर होने पर वे मूर्ख की तरह बोलने लगे। उनमें नाचता हुआ चाणक्य उठकर गाने लगा—

**गाथा ७—**मेरे पास दो गैरिक वस्त्र, त्रिदण्ड तथा स्वर्ण-कुण्डिका है। राजा भी मेरे वश में है; इसलिए मेरे लिए यहाँ ढोलक बजाओ।

[८] इसको सुनकर दूसरा इसे सहन नहीं करता हुआ, पहले प्रकट नहीं की गयी अपनी ऋद्धि को प्रकट करता हुआ, नाचने के लिए तैयार हुआ क्योंकि—

**गाथा ८—**क्रोध से आतुर, व्यसन को प्राप्त, राग में रंगे हुए, मदिरा में डूबे हुए व्यक्ति अपने भावों को प्रकट करने वाले होते हैं।

उसके द्वारा कहा गया—

**गाथा ९—**मदोन्मत्त हाथी के शिशुओं के एक हजार योजन चलने पर उसके प्रत्येक पग-पग पर हजार-हजार (मोहरें दे सकता हूँ), इसलिए मेरे लिए भी यहाँ ढोलक बजाओ।

दूसरे ने कहा—

**गाथा १०—**आढ़क प्रमाण तिलों को बोन से जितने तिल बनते हैं, उन प्रत्येक तिल पर एक लाख मोहरे दे सकता हूँ; अतः मेरे लिए भी यहाँ ढोलक बजाओ।

दूसरे ने कहा—

**गाथा ११—**नवीन वर्षा ऋतु में शीघ्रता से गतिवाली नदी के वेग को मैं एक दिन में निकाले हुए नवनीत की पाल से बाँध सकता हूँ।

इसलिए मेरे लिए भी ढोलक बजाओ।

अन्य ने कहा—

**गाथा १२—**अभी-अभी उत्पन्न उत्तम अश्वों के कन्धवाल को एकत्र करूँ, तो उनके केशों से आकाश को छा सकता हूँ; इसलिए मेरे नाम का भी ढोलक बजाओ।

अन्य कहता है—

**गाथा १३—**मेरे पास दो रत्न हैं। शालिप्रसूतिका और गर्द-

भिका । जो पुनः पुनः काटे जा सकते हैं, इसलिए मेरे नाम का भी ढोलक बजाओ ।

अन्य ने कहा—

**गाथा १४**—सदा शुभ ध्यान वाला, नित्य संतुष्ट, अनुनय करने वाली पत्नी, प्रवास में नहीं जाने वाला, ऋणमुक्त, दो पाँच सौ अर्थात् हजार मुद्राओं वाला हूँ; अतः मेरे लिए भी ढोल बजाओ ।

[९] इस प्रकार जान करके चाणक्य के द्वारा धनपतियों से यथोचित द्रव्य को माँगा गया । शालियों को कोठार में भरा और उनको काट-काटकर पुनः उत्पन्न किया जाता था । आशा से एक दिन में उत्पन्न किया गया नवनीत माँगा गया । सुवर्ण उत्पादन करने के लिए चाणक्य के द्वारा यांत्रिक पाशे तैयार किये । किसी ने कहा—अच्छी तरह स्थापित किये गये हैं । तब एक दक्ष पुरुष को सीखाया । मुद्राओं से थाल भरकर वह कहता है—यदि मुझे कोई जीतता है, तो थाल को ग्रहण करे अथवा मैं जीतूँगा, तो एक दीनार लूँगा । उसकी इच्छा से पासे डालते हैं, फिर भी कोई जीतने में समर्थ नहीं होता है । जिस तरह वह सरल नहीं है, इसी प्रकार मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी सरल नहीं है ।



### ३. शीलवती-चरित\*

**गाथा १**—इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में इन्द्रपुरी के समान बुद्धिजीवियों के लिए आनन्द दायक नगरों में श्रेष्ठ नन्दनपुर नाम का नगर था ।

**गाथा २**—वहाँ पर दुश्मनों की सेना का नाश करने वाला, हरि के समान अरिमर्दन नाम का राजा था । उसी नगर में गुणरूपी रत्नों से सम्पन्न रत्नाकर नाम का सेठ रहता था ।

**गाथा ३**—उस सेठ की रूप गुणों में प्रत्यक्ष लक्ष्मी के समान 'श्री' नाम की पत्नी थी । उसके कोई पुत्र नहीं था अतः वह बहुत दुःखी था ।

- [१] एक बार उसकी पत्नी ने कहा—'हे आर्य पुत्र ! इसी नगर के उद्यान में अजित जिनेन्द्र के मन्दिर के अग्रभाग में अजित बाला-देवी के द्वारा पुत्रहिनों को पुत्र, धनहिनों को धन, राज्यहिनों को राज्य, विद्याहिनों को विद्या, सौख्यहिनों को सुख, नेत्रहिनों को नेत्र प्रदान करती है और रोगियों के रोग का क्षय करती है ।' सेठ के द्वारा उसकी आराधना की गयी । क्रम से पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका 'अजित सेन' नाम रखा गया । सेठ जिनधर्म में उद्यत हो गया । अनेक मनोरथों के साथ अजितसेन बड़ा हुआ । विभिन्न कलाओं की शिक्षा प्राप्त की । लावण्य रूपी लक्ष्मी से यौवन को प्राप्त हुआ । सभी लोगों से उसके रूपादि गुणों की प्रशंसा को सुनकर सेठ को चिन्ता हुई—“यदि मेरा पुत्र अपने गुणों के अनुरूप पत्नी नहीं पाएगा, तो इसके गुण व्यर्थ हो जायेंगे ।”

यथा—

**गाथा ४**—अज्ञानी स्वामी, अविनीत नौकर, परवशता और अनुरूप भार्या, ये चार मनुष्य के मन के काँटे हैं ।

- [२] इसी बीच एक वणिक पुत्र आया । सेठ को प्रणाम करके उसके समीप बैठा । सेठ ने उसका समाचार पूछा । उस वणिक पुत्र ने सब कुछ

❀ अनुवाद—डॉ० सुभाष कोठारी—आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्था, उदयपुर ।

कहा—आपके आदेश से, मैं कृतगंला नगरी गया था। मेरा जिनदत्त श्रेष्ठी के साथ परिचय हो गया। उन्होंने भोजन के लिए मुझे निमंत्रण दिया। उसके घर में मैंने चन्द्रमुखी, पद्मराग की तरह हाथ-पैरों वाली, किसलय के समान होठों वाली, चमकते हुए दाँतों वाली, चाँदी के समान नितम्बों वाली, गोरे रंग वाली और अंगों से कामदेव के वैभव की पिटारी के समान विचरण करती हुई एक कन्या को देखा। मैंने श्रेष्ठी से पूछा—“यह कौन है?” सेठने कहा—“यह मेरी पुत्री है इसकी बुद्धि के कारण चिंतातुर हूँ।”

**गाथा ५—**“किस मनोज्ञ वर को प्राप्त करेगी, किस प्रियतम को प्राप्त करेगी, कौन लोग इसके स्वसुर आदि होंगे जिनको यह अपने गुणों से प्रसन्न करेगी। शील का किस प्रकार पालन करेगी? कैसे पुत्र का प्रसव करेगी, इस प्रकार चिंता की मूर्तिरूप यह कन्या पिता के घर में रहती है।”

[३] इसके शरीर की कान्ति देवाङ्गनाओं के अहंकार को दलित करने वाली है। अनेक गुणों से सुशोभित हित और अहित का विचार करने में कुशल है, इसका चरित्र प्रशंसनीय है। शीलवती इस गुण से निष्पन्न नाम वाली बचपन से ही, पूर्व किये हुए शुभ कर्मों के कारण शकुनक्षत (पक्षियों की आवाज) के परिज्ञान रूपी सखियों से युक्त यह मेरी पुत्री है। इसके अनुरूप वर प्राप्त नहीं होने के कारण मैं अत्यन्त चिन्तित हूँ। मेरे द्वारा कहा गया—“हे श्रेष्ठी! संतप्त मत हो, यहाँ नन्दनपुर में रत्नाकर नाम के सेठ के विशिष्ट रूप गुणों से युक्त अजितसेन नाम का पुत्र है, जो तुम्हारी पुत्री के अनुरूप वर है।”

[४] जिनदत्त ने कहा—“भद्र! तुमने मेरी महान चिन्ता रूपी समुद्र मार्ग को उपदेशरूपी नौका से पार करा दिया।” इन प्रकार कहकर उसके द्वारा शीलवती अजितसेन को देने के लिए अपने पुत्र को मेरे साथ भेजा है। वह यहाँ आकर ठहरा है। इसलिए जो योग्य हो, आदेश करें। “तुमने योग्य किया है” इस प्रकार कहकर जिनसेन सेठ को बुलाया। उसने सगौरव शीलमती को अजितसेन को देना स्वीकार कर लिया। अजितसेन ने उसके साथ जाकर शीलमती से विवाह किया। उसको लेकर अजितसेन अपने घर आ गया। भोजन किया।

[५] एक दिन मध्य रात्रि में घड़े को लेकर शीलमती घर से निकली। कुछ समय बाद आयी हुई (वह) स्वसुर के द्वारा देखी गयी। उसने सोचा—यह



कुलटा है। प्रातःकाल पत्नी के समक्ष पुत्र को कहा—“वत्स ! तुम्हारी पत्नी कुलटा है, जो आज मध्यरात्रि में निकलकर कहीं पर गयी थी। इसलिए इसको घर में रखना उचित नहीं है !”

क्योंकि—

गाथा ६—अत्यधिक प्रेम के वशीभूत, उन्मार्ग में गमन करने वाली, खण्डित गुण से युक्त और कलुषित महिला दोनों ही कुलों को नदी की तरह विभाजित कर देती है।

- [६] इसलिए इसे पितृघर छोड़ आता हूँ। पुत्र ने कहा—“हे तात ! जो योग्य हो वह करो।” बहू से कहा—“हे भद्रे ! ‘शीलवती को शीघ्र भेजो’ इस प्रकार का तुम्हारे पिता का सन्देश आया है। इसलिए चलो मैं स्वयं तुम्हें छोड़ आता हूँ।” वह शीलवती भी ‘रात्रि में निकलने के कारण मुझे कुलटा की शंका से युक्त श्वसुर है’ इसे भी देखूंगी, यह विचार कर रथ में सेठ के साथ बैठकर चलने को तैयार हो गयी। चलते हुए सेठ नदी के पास पहुँचा। सेठ ने कहा—“बहु ! जूते उतार कर नदी में उतरो।” उस बहू के द्वारा नहीं उतारे गये। तब सेठ ने सोचा ‘अविनीत’ है।

आगे पहली खेती से विस्तारित अत्यन्त फले हुए मूँग के खेत को देखा। सेठ ने कहा—“अहो ! मूँग का खेत अच्छा फला। खेत का स्वामी सर्व सम्पन्न है।” उस बहू ने कहा—“यदि नहीं भोगा जाय तो।” सेठ ने सोचा—“बिना भोगा हुआ देखते हुए भी खाया गया कहती है। अतः यह असंबद्ध प्रलाप करने वाली है।” आगे एक समृद्ध और प्रसन्नचित्त मनुष्यों के समूह से युक्त नगर में गये। सेठ ने कहा—“अहो ! इसकी रमणीयता।” बहू ने कहा—“यदि यह बसति रहित नहीं हो।” सेठ ने विचार किया—“यह अपलाप करने वाली है।”

- [७] आगे चलने पर सेठ ने अनेक प्रहार से क्षत-विक्षत तथा हाथ में हथियार लिए व्यक्ति को देखा। सेठ ने सोचा—“क्या कोई शूरवीर नहीं है, जो शस्त्रों से पीटा गया है।” लेकिन यह पुत्रवधू विपरीत बोलने वाली है। आगे जाने पर बड़ के पेड़ के नीचे सेठ विश्राम हेतु बैठा। किन्तु बहू बड़ के पेड़ की छाया को छोड़कर दूर बैठी। सेठ ने कहा—“छाया में दैठी।” वह वहाँ नहीं बैठी। सेठ ने विचार किया—‘सब विपरीत ही कर रही है।’

एक गाँव में पहुँचे। सेठ को बहू ने कहा—“यहाँ मेरा मामा रहता है, उसको जाकर देखती हूँ। तब तक आप प्रतीक्षा करना”, इस प्रकार कहकर वह गयी। मामा के द्वारा आश्चर्य युक्त होकर उसको कहा—“पुत्री ! कहाँ जा रही हो ?” उसने कहा—“श्वसुर के साथ पिता के घर जा रही हूँ।” उसने कहा—“तुम्हारा श्वसुर कहाँ है ?” उसने कहा—“बाहर बैठे हैं।”

- [८] मामा के द्वारा जा करके सागर सेठ को बुलाया गया। कषाय से युक्त नहीं चाहते हुए भी आग्रहपूर्वक घर ले जाया गया। भोजन करके बाहर आ गये। मध्याह्न के समय रथ के नीचे विश्राम करने लगे। शीलवती भी रथ की छाया में बैठ गयी। इसी बीच करीर के वृक्ष के झुरमुट से कौव्वा बार-बार बोलने लगा। क्रोध से बहू ने कहा—“अरे। कौव्वे ! तुम कर-कर करते हुए थकते नहीं हो।”

**गाथा ७**—एक दुर्न्याय किया, जिसके कारण घर से निकलना पड़ा। दूसका दुर्न्याय यदि करूँगी तो पिता से भी नहीं मिल सकूँगी।

- [९] इसको सुनकर सेठ ने उससे पूछा—“हे पुत्रि ! यह क्या बोल रही हो।” बहू ने कहा—“कुछ भी नहीं।” सेठ ने कहा—“कैसे कुछ नहीं”, कौव्वे की ओर देखकर “एक दुर्न्याय” इस प्रकार जो पढ़ा गया, वह साभिप्राय है। बहू ने कहा—“इस प्रकार है, तो सुनिये।” क्योंकि—

**गाथा ८**—सुगन्ध गुण के कारण चन्दन काटा और घर्षण आदि को प्राप्त होता है, और रंग रूप गुण के कारण मजिठा कट कर घर्षण को प्राप्त होता है।

- [१०] इस प्रकार मेरे गुण भी मेरे शत्रु हो गये हैं। मैं “सकल कला शिरो-मणी भूत पक्षी की आवाज को सुन सकती हूँ।” तब बीते हुए दिन की रात्रि में शृगाली के द्वारा विशेष रूप से आह्वान किया गया—“नदी के पूर में जाता हुआ मुर्दा निकालकर कोई आभूषणों को ग्रहण करो और मेरे भोजन को वहाँ डाल दो”। इसको सुनकर मैं घड़े को लेकर गयी। उसको वक्षस्थल पर बाँधकर नदी में उतरी। मूर्दे को निकाला। आभूषणों को ग्रहण किये। शृगाली के लिए शव फेंका। मैं अपने घर आ गयी। आभूषणों को घड़े में डालकर भूमि में दबा दिये। यह एक दुर्न्याय का प्रभाव ही था, जो मैं इस भूमि पर पहुँची

हूँ (इस अवस्था को प्राप्त हुई हूँ)। और अब यह कौवा बोलता है कि—“इस करीर के पेड़ के नीचे दस लाख सुवर्ण प्रमाण धन है, उसको ग्रहण कर मुझे दही भात देओ।”

[११] इस बात को सुनकर के सहसा सेठ उठा और कहने लगा—“क्या यह सत्य है?” बहू ने कहा—“पिता के चरणों के समक्ष झूठ क्यों बोलूंगी? अथवा हाथ कङ्कन को आरसी (दर्पण) की क्या आवश्यकता है। उसको देख लिया जाय।” तब वहाँ सेठ ने रात्रि में धन को ग्रहण किया। “अहो! यह तो साक्षात् लक्ष्मी की तरह आयी है,” इस प्रकार विचार कर बहू को रथ पर चढ़ाकर वापस पीछे लौट पड़ा। पुनः बड़ के पेड़ के पास पहुँचे। बहू से पूछा—“तुम इसकी छाया में क्यों नहीं बैठी?” बहू ने कहा—“वृक्ष के मूल में साँप के डसने का भय रहता है, और बहुत समय तक बैठने पर चोरों का भय रहता है। दूर रहने पर यह सब नहीं होता है।”

[१२] पुनः प्रश्न करते हुए सेठ ने कहा—“नगर कैसे उजाड़ है?” उसने कहा—जहाँ लोगों में अतिथि-सत्कार की प्रवृत्ति नहीं है, वह स्थान वसति रहित ही है। खेत को देखकर सेठ ने पूछा—“यह खेत कैसे खाया जायगा?” उसने कहा—“व्यापारी से धन को प्राप्त करके यह इसका भक्षण करेगा, इसलिए खेत स्वामी को खाया हुआ कहा।” नदी को देखकर सेठ ने कहा—“तुमने नदी में जूते क्यों नहीं उतारे?” उसने कहा—“जल में कीट कंकड़ आदि दिखाई नहीं पड़ते इसलिए।” सेठ घर पहुँचा। बहू के द्वारा आभूषणों को दिखाया गया। संतुष्ट हुए सेठ ने पत्नी व पुत्र को सब बात कहकर बहू को घर की स्वामिनी बना दिया।

**गाथा ९**—इसके बाद जीवन की विनाशता के कारण सेठ मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी सहचरी श्री भी उसकी छाया के समान विरह में मृत्यु को प्राप्त हो गयी।

[१३] अजितसेन भी जिन-धर्म में संलग्न होकर समय व्यतीत करने लगा। एक दिन अरिर्मर्दन राजा पाँच सौ नये मंत्रियों में प्रधानमंत्री खोजने के लिए प्रत्येक नागरीक को पूछता है—“हे लोगों! जो मुझे पाँव से मारे, उसका क्या किया जाय?” अजितसेन से पूछा। उसने कहा—“विचार करके कहूँगा।” घर आ करके उसका उत्तर शीलवती से पूछा। चार प्रकार की बुद्धि से युक्त वह कहती है—

“उसका बहुत सत्कार किया जाना चाहिए ।” स्वामी ने पूछा—  
 “यहकैसे ?” उसने कहा—“प्रिय पत्नी के अतिरिक्त कौन राजा पर  
 पांव से प्रहार कर सकता है । इस पर विचार करने का भी अधिकार  
 दूसरों को नहीं, तो प्रहार की तो बात ही क्या ?” तब वह राजसभा  
 में गया और पूर्वोक्त वृत्तान्त कहा । राजा संतुष्ट हुआ । उन्होंने उसको  
 सभी मंत्रियों में शिरोमणि कर दिया ।

[१४] एक दिन विरोधी बना हुआ सिंहरथ राजा राज्य के समीप में आया ।  
 उसके प्रतिकार हेतु मदोन्मत्त हाथी के मद जल से पृथ्वी को गीली  
 करते हुए, चपल घोड़ों के खूरों से क्षत पृथ्वी की रज रूपी मेघ से  
 आकाश को छा करके, चलते हुए रथों की श्वेत पताका रूपी बगुलों  
 की पंक्ति के समान मनोहर और वाद्ययंत्रों के गंभीर नाद रूप गर्जन  
 से ब्रह्माण्ड को गूँजाता हुआ नवीन वर्षा ऋतु की तरह राजा अरि-  
 मर्दन चला । अजितसेन, शीलमती के द्वारा चिंतापुर देखा गया ।  
 चिन्ता का कारण पूछा । उसने कहा—“मुझे राजा के साथ जाना  
 पड़ेगा । तुमको ले जाने के लिए कहने पर मेरा घर सूना रहेगा ।  
 इसलिए यद्यपि तुम अक्षत शीला हो, फिर भी एकाकी घर में छोड़कर  
 जाते हुए मेरा मन नहीं मानता है । यही मेरी चिन्ता है ।” उसने  
 कहा—

गाथा १०—अग्नि शीतल हो सकती है, सूर्य पश्चिम में उदय  
 हो सकता है, मेरू-शिखर कंपित हो सकता है, पृथ्वी उछल सकती है,

गाथा ११—वायु स्थिर हो सकती है, समुद्र अपनी मर्यादा का  
 उल्लंघन कर सकता है, तथापि मेरे शील को भंग करने में इन्द्र भी  
 समर्थ नहीं है ।

गाथा १२—फिर भी तुम मन के संतोष के लिए यह कुसुम-  
 माला ग्रहण करो । मेरे शील के प्रभाव से यह सदा अम्लान रहेगी ।

गाथा १३—यदि यह म्लान हो जाय तो शील-खण्डन समझना ।  
 यह कहकर अपने हाथों से पति के गले में फूलों की माला डाल दी ।

गाथा १४—तदनन्तर अजितसेन मंत्री शीलवती को घर में  
 छोड़कर निश्चिन्त मन से अरिमर्दन राजा के साथ चला ।

गाथा १५—निरन्तर चलते हुए उस प्रदेश में राजा पहुँचा,  
 जहाँ पर फूल और किसी भी जाति के शतपत्रादि नहीं मिलते थे ।

**गाथा १६—**अजितसेन के गले में अम्लान फूलमाला देखकर राजा ने पूछा—तुम्हारे पास यह अम्लान पुष्पमाला कहाँ से आयी ?

**गाथा १७—**यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। मैंने, मेरे पुरुषों को भेजकर सब तरफ गवेषणा करवायी, फिर भी कहीं पर भी फूलों को प्राप्त नहीं किया।

**गाथा १८—**मंत्री अजितसेन ने कहा—चलते समय मेरी प्रिया के द्वारा यह माला मेरे गले में डाली गयी है। उसके शील के प्रभाव से यह म्लान नहीं होगी।

**गाथा १९—**इसको सुनकर राजा अत्यन्त विस्मित हुआ। अजितसेन चला गया। तब उसने अपने दूसरे मंत्रियों से इस पर विचार-विमर्श किया।

**गाथा २०—**जो अजितसेन सचिव के द्वारा कहा गया है, वह क्या संभव है ? कामांकुर ने कहा—महिलाओं के शील कहाँ ?

**गाथा २१—**ललितांग ने कहा—कामांकुर ने जो कहा है, वह सत्य है। रतिकेलि ने कहा—देव को इसमें क्या संदेह है ?

**गाथा २२—**अशोक के द्वारा कहा गया—हे देव ! मुझे जाने की आज्ञा दो। जिससे शीलवती के शील को नष्ट करके देव का संदेह दूर कर दूँ।

**गाथा २३—**तब राजा ने उसे बहुत-सा धन देकर रवाना किया। वह नन्दनपुर पहुँच कर शीलवती के मकान के पास रहने लगा।

**गाथा २४—**वह गवाक्ष पर जाकर किन्नर के गीत के समान पंचम राग से गीत गाने लगा।

**गाथा २५—**उज्ज्वल वेश धारण करके (वह शीलवती को) सानुराग दृष्टि से देखता है। निरन्तर दान और भोग से अपने को दुर्लभ प्रकट करने लगा।

**गाथा २६—**इस प्रकार बहुत से प्रकार करने लगा, तब उस शीलवती ने सोचा—यह मेरे शील को स्वलित करने के लिए आया है।

**गाथा २७—**मणिधर के फल से रत्न लेना, अग्नि की ज्वालाओं को शांत करना और सिंह की केसर ग्रहण करना दुष्कर है, यह मूढ़ यह नहीं जानता है।

[१५] तब 'कौतुक देखूँगी' इस प्रकार विचार कर प्रकट हो उसको देखने

लगी। अशोक भी 'मेरा कार्य सिद्ध हो गया'। इस प्रकार मानता हुआ दासी को भेजा। उसने शीलवती को कहा—“हे भद्रे ! यौवन फूल की तरह थोड़े समय का है। अतः इसको विषय-सेवन के द्वारा सफल करना योग्य है। तुम्हारे पति राजा के साथ गये हैं। यह सुभग तुम्हारी अभिलाषा करता है।” उसने सोचा—“सु-हृत अर्थात् अच्छी तरह मरा हुआ। बेचारा यह काम और कर्म से पराधीन है, जो इस प्रकार पाप में प्रवृत्ति करता है।” दूति ने कहा—“हे प्रसन्न नेत्रों वाली ! कामदेव रूपी अग्नि की ज्वाला से संतप्त इस पर प्रसन्न हो।”

**गाथा २८-२९**—अपने अंग समागम के रस के द्वारा इसके शरीर को शान्त करो। शीलवती ने कहा—तुम्हारा कथन योग्य है किन्तु पर पुरुष का संगम कुलीन महिलाओं के लिए अयुक्त कहा गया है। परन्तु द्रव्य प्रसंग से अर्थात् जितना माँगों, उतना धन मिलता हो, तो ठीक है।

**गाथा ३०**—स्नेह के लोभ से उच्छिष्ट भोजन भी किया जाता है। उसने कहा—हे भद्रे ! तुम कितना धन माँगती हो ?।

**गाथा ३१-३२**—शीलवती ने कहा—आधा लाख समृद्धि समर्पित कर दो, उस अर्द्ध लक्ष को ले करके आज से पाँचवें दिन स्वयं आ जाय, ताकि उस सुभग को अपूर्व रति से प्रसन्न कर सकूँ।

[१६] उसने यह बात अशोक को कही। उसके द्वारा भी अर्द्ध लक्ष धन समर्पित कर दिया गया। शीलवती ने भी प्रच्छन्न कोठरी में, छिपे हुए पुरुषों के द्वारा गड्ढा खुदवाया। उसने, उसके ऊपर श्रेष्ठ वस्त्र रखकर गड्ढे को ढक दिया। पाँचवें दिन रात अर्द्ध लक्ष लेकर के अशोक आ गया। खाट पर बैठा। एकदम गड्ढे में गिर गया। शीलवती भी दया से उसको प्रतिदिन डोरी से बाँधकर भोजन देती रही।

[१७] एक मास व्यतीत होने पर राजा ने अन्ध मन्त्रियों से कहा—“अशोक क्यों नहीं आया ?” उन्होंने कहा—“कारण नहीं जान सकते हैं।” रतिकेलि ने कहा—“मुझे आदेश दीजिये, जिससे मैं चिंतित अर्थ को शीघ्र समाप्त कर आऊँ।” राजा ने बहुत धन देकर उसे विदा किया। नगर में आया। वह भी लक्ष सम्पत्ति देकर के उसी उसी प्रकार गड्ढे पर बैठा। गड्ढे में गिरा। इसी प्रकार ललितान्ग एवं कामांकुर भी लक्ष दे करके गड्ढे में गिरे। अशोक की तरह वह भी शोक युक्त रहने लगे। अरिमर्दन राजा भी सिंहस्थ को व्रत में करके अपने नगर में आ गया। शीलवती को कामांकुरादि के द्वारा कहा गया—

गाथा ३२—जो मूढ़ मनुष्य अपनी और दूसरे की शक्ति को नहीं जानते हैं। हे श्रेष्ठ शीलवती ! वे मूर्ख जो प्राप्त करते हैं, वह हमारे द्वारा प्राप्त कर लीया गया है ।

[१८] इस प्रकार तुम्हारा माहात्म्य देख लिया है । हम तुम्हारे अधीन है । प्रसन्नता प्रकट (दया) करो । हमको इस नरक के समान विषम गड्ढे से एक बार बाहर निकालो । उसने कहा—“ऐसा हो सकता है यदि मेरे वचन के अनुसार करो ।” उन्होंने कहा—“जो भी करवाना हो, करने को तैयार है ।” उसने कहा—“यदि ऐसा है, तो इसी प्रकार होगा” जो मैं कहूँगी, उसे तुम्हारे द्वारा भी—‘इसी प्रकार हो’ कहना पड़ेगा । वे मन से आश्रित हो गये । “मन्त्री ने राजा को निमंत्रित किया । राजा आ गया, आदर सत्कार किया गया । उसके द्वारा गुप्त रूप से भोजन सामग्री तैयार की । राजा ने सोचा—“मुझे निमंत्रित किया गया, किन्तु अभी तक भोजन की तैयारी तो दिखाई नहीं देती. तो यह क्या है ?”

[१९] उस शीलवती ने उस गड्ढे को फूलों आदि के द्वारा भर करके कहा—“हे यक्षों ! रसवती आदि सब तैयार है ।” उन्होंने कहा—“इसी प्रकार है ।” तब रसवती सामग्रियाँ आ गयी । राजा ने भोजन किया । तब पूर्व की तरह प्रकट किये गये पान, पुष्प, विलेपन, वस्त्र, आभूषणों और चार लाख द्रव्य इत्यादिक सब ही ‘हो गये’ इस प्रकार अपने गड्ढे से कहा, और गड्ढे ने कहा—‘हो गये ।’ सब राजा को भेट—समर्पित कर दिये । राजा ने सोचा—‘अहो ! अपूर्व सिद्धि है जो गड्ढे के पास उपस्थित होकर वचन के द्वारा कहने मात्र समय से सब तैयार हो जाता है ।’ आश्चर्य युक्त मन से राजा ने शीलवती से पूछा—“हे भद्रे ! यह क्या आश्चर्य है ?” उसने कहा—“हे देव ! मेरे द्वारा सिद्ध चार यक्ष यहाँ हैं । वे सब सम्पादित कर देते हैं ।” राजा ने कहा—“वे यक्ष मुझे समर्पित कर दो ।” उसने कहा—“देव ग्रहण कर ले ।” संतुष्ट राजा अपने आवास पर गया ।

[२०] उसने भी उन चारों को चन्दन से लिप्त कर, फूलों के पूज कर, चार कपड़ों में डालकर, अपनी गाड़ी में चढ़ा करके ढोल बजाते हुए संध्या के समय राजभवन ले जाने के लिए दिये । “सवेरे में यक्ष भोजनादि देंगे” यह सोचकर राजा ने भोजन बनाने वालों को निकाल दिया ।

भोजन के समय स्वयं फूलों से भरे बोरों के पास जाकर कहा—“रसवती तैयार है।” बोरों को द्वारा कहा गया—“तैयार है”, यावत् कुछ भी तैयार नहीं हुआ। राजा ने विलक्ष मुख से बोरों को खोला। उसमें क्षुधा से गुष्क मुख से, नष्ट हुए मांस और रक्त वाले, हड्डियों का ढाचा स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था ऐसे, प्रकट एवं दिखते हुए नसों के जाल वाले, पर्वत की गुफा के समान गहरे उदर वाले, क्षीण कपोल वाले, म्लान आखों वाले, असंबद्ध और शीतल पवन की तरह क्षीण हुई शरीर की कांति वाले, विषाद चित्त वाले, प्रताप से रहित चार व्यक्तियों को देखा। ‘अहो ! ये यक्ष नहीं हैं, परन्तु राक्षस हैं’। इस प्रकार कहने पर उन्होंने राजा से कहा—हे देव ! “हम न तो यक्ष हैं, न ही राक्षस, किन्तु आपके मित्र कामांकुर आदि हैं”। इस प्रकार कहते हुए पावों में पड़े।

[२१] राजा ने भी सम्यक् रूप से देख करके विस्मयपूर्वक कहा—‘भद्रों ! तुम्हारी इस प्रकार की अवस्था कैसे हो गयी ? उनके द्वारा भी जैसा हुआ वैसा वृत्तान्त कहा गया। शीलवती की प्रशंसा करते हुए राजा ने कहा—“अहो ! तुम्हारा बुद्धि कौशल, अहो ! तुम्हारा शील पालन का प्रयत्न, अहो ! तुम्हारे दोनों लोक के भय को देखने की प्रवृत्ति। इस प्रकार राजा ने शीलवती की प्रशंसा की और कहा—अम्लान फूलों की माला देखने से प्रकट, तुम्हारे शील के महात्म्य पर श्रद्धा नहीं करते हुए मेरे द्वारा ही इन्हें भेजा गया, इसलिए क्रोध मत करना, क्षमा करना। उसने भी धर्म को कह करके राजा को प्रतिबोधित किया। राजा के अन्य सचिवों को सर्व पर-द्वारा-निवृत्ति करायी। राजा ने शीलवती का सत्कार किया। वह स्वस्थान गयी।

[२२] एक बार गन्ध-हस्ती के समूह से घिरे हुए की तरह श्रमणों से घिरे हुए चार ज्ञान के धारी धर्मघोष आचार्य आए। अजितसेन शीलवती के साथ उनके वन्दन के लिए गया। वन्दना करके गुरु के सामने बैठे।

[२३] गुरु के द्वारा शीलवती को कहा गया—“हे भद्रे ! तुम धन्य हो। जो तुम पूर्व-भव के अभ्यास से शील परिपालन में प्रवृत्त हुई हो।” मन्त्री ने कहा—“भगवन् ! यह कैसे है ?” गुरु ने कहा—“कुसुमपुर नगर में सत्कार्यों में कुशल व तत्पर रहने वाला, पाप प्रवृत्तियों में आलस्य करने वाला सुलस नाम का श्रावक रहता था। उसकी सुयशा पत्नी थी। उनके घर में प्रकृति से भद्र दुर्गत चाकर था। उसकी दुर्गिला



पत्नी थी। एक दिन सुयशा के साथ दुर्गिला साध्वियों के पास गयी। सुयशा ने वहाँ विस्तार से प्रशस्त वस्त्र एवं फूलों के द्वारा पुस्तक पूजा की। चंदना साध्वी की वन्दना की। विधि से उपवास का प्रत्याख्यान किया। दुर्गिला ने साध्वी को प्रणाम कर पूछा—हे भगवती! आज क्या है? साध्वी ने कहा—“आज शुक्ल पक्ष की पंचमी है, जो शुभ तिथी है”। इस प्रकार उसको जिनमत समझाया और कहा इसमें यथा-शक्ति ज्ञान, पूजा, तप करना चाहिए।”

**गाथा ३३**—इस पुस्तक को जो वस्त्र, गंध, फूलों के द्वारा पूजा करते हैं, इसके सामने नैवेद्य व दीपक जलाते हैं,

**गाथा ३४**—यथा-शक्ति तप करते हैं, वे विशुद्ध बुद्धि से सम्पन्न होते हैं और सौभाग्यादि गुणों से युक्त होकर सर्वज्ञ पद प्राप्त करते हैं।

**गाथा ३५**—तब दुर्गिला ने कहा—यह मेरी स्वामिनी सुयशा धन्य है, जो तप का सामर्थ्य रखती है और धन धर्मार्थ में लगाती है।

**गाथा ३६**—हमारे जैसे धनहीन जन अधन्य है जो तप करने की शक्ति से रहित है। मंदभाग्य वाली मेरे लिए साध्वी आप ही कहिए—मैं क्या करूँ ?

**गाथा ३७**—साध्वी ने कहा—तब तुम तो शील को अपने वश में करो। तुम पर-पुरुष-निवृत्ति-रूप शील को यावज्जीवन धारण करो।

**गाथा ३८**—अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों में अपने पति का भी त्याग करो। ऐसा करोगी तो हे भद्रे ! तुम भी कल्याण को प्राप्त करोगी।

**गाथा ३९**—इसको ग्रहण करके वह अपनी आत्मा को कृतार्थ मानती हुई घर गयी। अपने पति को कहा। उसने भी यह सुना।

**गाथा ४०**—संतुष्ट मन वाला वह शील को बहुत मानता हुआ कहता है—-नुम्हारे द्वारा जीवन का फल प्राप्त कर लिया गया है, अब मैं भी पर-पत्नी-निवृत्ति करता हूँ।

**गाथा ४१**—उसमें भी पर्व तिथियों में विरति और अपनी पत्नी में नियम रखा। यह नियम करके क्रम से उनके द्वारा सम्यक्त्व पाया गया।

**गाथा ४२**—अब दुर्गिला विशेष उत्साह से और श्रद्धा से स्वयं

तप करने लगी और तिथियों में पुस्तकों की पूजा आदि से उस दिन को व्यतीत करती थी ।

**गाथा ४३**—समय से दोनों ही मर करके सौधर्म देवलोक में उत्तम देव पद को प्राप्त हुए । दुर्गात् का जीव वहाँ से चल करके तुम अजितसेन के रूप में उत्पन्न हुए हो ।

**गाथा ४४**—और यह दुर्गिला तुम्हारी शीलवती पत्नी के रूप में उत्पन्न हुई । ज्ञान की आराधना के कारण विशिष्ट बुद्धि वाली हुई है ।

**गाथा ४५**—तब उत्पन्न हुए जाति-स्मरण के द्वारा उन्होंने कहा—हे मुनिवर ! तुमने जो कहा है वह सत्य है । तब गुरु ने इस प्रकार कहा—

**गाथा ४६**—‘यदि देश-रूप से भी शील का पालन करने से यह फल प्राप्त हुआ है, तो उस सर्वव्रत का परिपालन करने का प्रयत्न करो ।

**गाथा ४७**—और सर्व-संग परिहार रूप दीक्षा ग्रहण करो ।’ उन्होंने कहा—कृपा करके हमें दीक्षा प्रदान करो ।

**गाथा ४८**—तब गुरु के द्वारा दोनों को ही दीक्षित किया । मन के संवेग को छोड़कर यावज्जीवन निष्कलंक सर्वरूप से शील को पालन किया ।

**गाथा ४९**—वहाँ से मर करके ब्रह्म देवलोक को प्राप्त हुए । वहाँ दिव्य सुख को भोगकर अनुक्रम से जन्मान्तर में जाकर निर्वाण-पद को प्राप्त किया ।





## संस्थान-परिचय

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० के १९८१ के उदयपुर वर्षावास की स्मृति में जनवरी १९८३ में स्थापित किया गया। संस्थान का मुख्य उद्देश्य जैन विद्या एवं प्राकृत के विद्वान तैयार करना, अप्रकाशित जैन साहित्य का प्रकाशन करना, जैन विद्या में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा प्रदान करना, जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिए जैन आचार दर्शन और इतिहास पर वैज्ञानिक संस्करण तैयार कर प्रकाशित करवाना एवं जैन विद्या-प्रसार की दृष्टि से संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोह आयोजित करना है। यह श्री अ० भा० सा० जैन संघ की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

संस्थान राजस्थान सोसायटीज एक्ट १९५८ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है एवं संस्थान को अनुदान रूप में दी गयी धनराशि पर आयकर अधिनियम की धारा ८० (G) और १२ (A) के अन्तर्गत छूट प्राप्त है।

जैन धर्म और संस्कृति के इस पुनीत कार्य में आप इस प्रकार सहभागी बन सकते हैं—

(१) व्यक्ति या संस्था एक लाख रुपया या इससे अधिक देकर परम संरक्षक सदस्य बन सकते हैं। ऐसे सदस्यों का नाम अनुदान तिथि-क्रम से संस्थान के लेटरपैड पर दर्शाया जाता है।

(२) ५१,००० रुपया देकर संरक्षक सदस्य बन सकते हैं।

(३) २५००० रुपया देकर हितैषी सदस्य बन सकते हैं।

(४) ११००० रुपया देकर सहायक सदस्य बन सकते हैं।

(५) १००० रुपया देकर साधारण सदस्य बन सकते हैं।

(६) संघ, ट्रस्ट, बोर्ड, सोसायटी आदि जो संस्था एक साथ २०,००० रुपये का अनुदान प्रदान करती है वह संस्थान परिषद की संस्था सदस्य होगी।

(७) अपने बुजुर्गों की स्मृति में भवन-निर्माण हेतु व अन्य आवश्यक यंत्रादि हेतु अनुदान देकर आप इसकी सहायता कर सकते हैं।

(८) अपने घर पर पड़ी प्राचीन पांडुलिपियाँ, आगम-साहित्य व अन्य उपयोगी साहित्य को प्रदान कर सकते हैं।

आपका यह सहयोग ज्ञान-साधना के रथ को प्रगति के पथ पर अग्रसर करेगा।